नीतिशास्त्र

का

आलोचनात्मक परिचय

(सामासिक अनुवाद)

मूल लेखक

फ़िलिप ह्वीलराइट

डार्टमाउथ कॉलेज, अमेरिका

अनुवादक

मधुकर

सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद

१९५३

अनुवादक का वक्तव्य

हमारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया जाना तो प्रसन्नता की बात है लेकिन हिन्दी में विभिन्न विषयों पर, विशेष कर दर्शन सम्बन्धी, जो पुस्तकें लिखी जा रही हैं उनकी लचर भाषा, विषय का टेढ़ा मेढ़ा प्रतिपादन और संदिग्ध विद्वत्ता निराशाजनक है।

इस स्थिति को देखने हुए जब तक तथाकथित विद्वान हिन्दी में प्रामाणिक पुस्तकें लिख सकने की क्षमता प्राप्त न कर लें तब तक अँग्रेज़ी की पुस्तकों का प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत करना ही ज्यादा हितकर है।

अनुवाद की प्रामाणिकता मूल शब्दों का ज्यों का त्यों अनुवाद कर देने पर निर्भर नहीं होती। अनुवाद प्रामाणिक तभी होता है जब मूल भावों के साथ साथ मूलपुस्तक का वातावरण और उसकी सजीवता भी अनुवाद की भाषा के धरातल के अनुरूप उतर आती है। अनुवाद को शाब्दिक न होकर प्रासंगिक होना चाहिए। इस अर्थ में अनुवाद भी एक कला है।

यदि नीतिशास्त्र सिद्धान्तों का अध्ययन न होकर मनुष्य और उसके आचरण की विभिन्नता का अध्ययन है तो नीतिशास्त्र पर प्रस्तुत पुस्तक से अच्छी और कोई पुस्तक नहीं है।

अनुवाद के अनेक स्थलों पर व्याख्या सम्बन्धी कठिनाइयों का हल करने में मुझे मूल लेखक प्रोफेसर फिलिप व्हीलराइट का सत्परामर्श सदा मिलता रहा है जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

इलाहाबाद
जुलाई, १९५३

—अनुवादक

परिशिष्ट

१

नीतिशास्त्र का अर्थ

मनुष्य विवेकशील प्राणी है। इसमें सन्देह नहीं कि अन्य प्राणियों की भाँति वह भी अपना अधिकांश समय अपने वातावरण की आवश्यकताओं को ही पूरा करने में लगाता है। किन्तु जब उसे जगत का और जगत में अपने होने का बोध होता है तो वह मनुष्य होने के नाते जगत का मूल्यांकन करता है और उसके अनुसार ही किसी चीज़ या काम का वरण (choice) करता है। उसकी अपने आप को जान सकने और आत्मज्ञान के आधार पर मूल्यांकन और सोच समझकर वरण कर सकने की क्षमता ही उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है।

नीतिशास्त्र की परिभाषा यों की जा सकती है : नीतिशास्त्र सोच समझकर किए गए वरण, उसका निर्देशन करने वाले उचित अनुचित के मानदंडों और उस वरण से प्राप्त होने वाले लाभों का व्यवस्थित अध्ययन है। वरण के लिए आचरण (behaviour) करना पड़ता है, इसलिए नीतिशास्त्र का आचरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु हर आचरण में विवेकपूर्ण वरण नहीं होता। यहीं नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान में भेद है। नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों में ही मानवी आचरण के विषय में बहुत कुछ कहा जाता है, किन्तु उनका भेद मानवीय आचरण के बारे में अलग-अलग प्रश्न उठाने और इसलिए विभिन्न खोजपद्धति अपनाने में होता है। अनुभवाश्रित विज्ञान (empirical science) होने से मनोविज्ञान में मनोभौतिक (psycho-physical) आचरण के तथ्यों, उसके कारणात्मक नियमों और उसके पूर्वकथनीय प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। नीतिशास्त्र में भी मनुष्य के मनोभौतिक आचरण पर विचार किया जाता है किंतु यह विचार आचरण को कैसा 'होना चाहिए'

इसका निर्देश करने वाले मापदंडों के प्रसंग में ही किया जाता है। इस प्रकार नैतिक दृष्टिकोण में आचरण को 'आचार' (conduct) कहा जाता है। जिस आचरण पर नैतिक विचार नहीं हो सकता उसका अध्ययन नीतिशास्त्र में नहीं किया जाता।

१ नैतिक विवेक का स्वभाव

(The Nature of Moral Deliberation)

अन्य लोगों के सामने आने वाली नैतिक स्थितियों की कल्पना कर और उन्हें अपना बनाकर या समय-समय पर स्वयं अनुभव की गई नैतिक स्थितियों पर सोच विचार करना ही अविकल नैतिक विचार-प्रणाली है। उदाहरणार्थ :

> एक नवोदित वकील एक राजनैतिक नेता का हत्या संबंधी मुकदमा लड़ रहा है। लोगों का शक नेता से वैमनस्य रखने वाले एक व्यक्ति पर है। उस व्यक्ति को फाँसी दिलवा देने से नवोदित वकील का भविष्य उज्ज्वल बन सकता है। किंतु मुकदमें के बीच कुछ ऐसे नए प्रमाण मिलते हैं जिनसे अभियुक्त निर्दोष ठहरता है। अब नवोदित वकील को क्या करना चाहिए? यदि वह अभियुक्त को निर्दोष सिद्ध कर फाँसी से बचा लेता है तो वह जनता का क्रोध भागी बनता है और उसका भविष्य अन्धकारमय हो जाता है जिसका असर उसके परिवार और बालबच्चों की शिक्षा पर पड़ सकता है। दूसरे एक निरपराध व्यक्ति को फाँसी लगवा देना अन्याय है। यहाँ न्याय और स्वार्थ का संघर्ष है। ऐसी स्थिति में जबकि एक व्यक्ति के जीवन मरण का प्रश्न है नवोदित वकील का कर्तव्य क्या है? उसे क्या करना चाहिए?
>
> एक व्यक्ति का मित्र अस्पताल में एक असाध्य रोग में पड़ा घुल-घुल कर मर रहा है। रोगी के अच्छे हो सकने की कोई सम्भावना नहीं है। उसके इलाज का व्यर्थ खर्च उसके परिवार का

बोझ बनता जा रहा है। रोगी कुछ खाकर जल्द मर जाना चाहता है जिससे उसे कष्ट से छुटकारा मिले और उसके परिवार का बोझ भी दूर हो जाय। वह अपने मित्र से जहर ला देने को कहता है। अब उसका मित्र क्या करे? नैतिक दृष्टि से क्या उसे एक व्यक्ति की मृत्यु में सहायक बनने का अधिकार है? दूसरी ओर क्या उसे अपने मित्र और उसके परिवार का दुख और बोझ दूर नहीं करना चाहिए? विभिन्न दृष्टि से दोनों ही बातें गलत हैं; किंतु उनमें से एक को तो करना ही है। तो उसे क्या करना चाहिए? उसका कर्तव्य क्या है?

एक कॉलेज के क्लर्कों ने हड़ताल कर दी है क्योंकि उनकी तनख्वाह नहीं बढ़ाई गई है जिससे उनका जीवन निर्वाह दूभर हो गया है। उनकी माँग न्यायोचित है किंतु उनकी हड़ताल से कॉलेज का काम चौपट हो रहा है। कॉलेज के लड़कों को उनकी जगह काम करने को कहा जाता है और इसके लिए उन्हें पारिश्रमिक देने की प्रतिज्ञा भी की जाती है। कॉलेज के लड़कों को क्या करना चाहिए? यदि वे हड़ताल तोड़ने में मदद देते हैं तो क्लर्कों को भक मार कर काम पर वापस आना पड़ता है और उनकी माँग पूरी नहीं हो पाती। क्या लड़कों को इस तरह दूसरों के हित में विघ्न डालने का अधिकार है? यदि वे बाधक न बनें तो क्लर्कों की माँग पूरी हो सकती है। ऐसी स्थिति में लड़कों का कर्तव्य क्या है? उनको कौन उचित मार्ग अपनाना चाहिए?

इन दोनों स्थितियों में अलग-अलग नैतिक समस्याएँ सामने आती हैं। उन सबमें निहित नैतिक विवेक को कार्य में परिणत करने पर कुछ विशेष आवश्यकताओं पर प्रकाश पड़ता है।

(१) वैकल्पिक पक्षों (alternatives) की परीक्षा और स्पष्टीकरण—जो स्थिति सामने है उसमें प्रसंगानुकूल काम कर सकने की संभावनाएँ क्या हैं? हरेक स्थिति को क्या अच्छी तरह समझ लिया गया है? क्या

नके आगे भेद को भलीभाँति देख लिया गया है? उन स्थितियों में या और कुछ निहित नहीं है या ध्यानपूर्वक देखने पर उनमें और बातें भी निकल सकती हैं? उदाहरण के लिए नवोदित वकील के सामने एक सरा रास्ता भी हो सकता था : वह अभियुक्त को छुड़ाने के बदले में उससे गुप्त रूप से रिश्वत लेने की व्यवस्था कर सकता था। ऐसा करना क नामी सार्वजनिक कार्यकर्त्ता को निस्सन्देह शोभा नहीं देता किंतु इससे क तार्किक संभावना का पता तो चल ही जाता है।

(२) परिणामों का युक्तिसंगत विवेचन—दूसरी बात हर वैकल्पिक त के संभव परिणामों पर विचार करना है। चूँकि यहाँ कल्पित भविष्य विषय में पूर्वकथन हो सकता है इसलिए निष्कर्ष में अधिकाधिक भाव्यता (probability) ही हो सकती है, निश्चितता नहीं। वरण र्व अनुभव पर जितना ही अधिक निर्भर होगा उसमें उतनी ही उत्तमता गी। वर्तमान स्थिति चाहे कितनी ही नई क्यों न लगे फिर भी श्लेषण करने पर उसमें कुछ ऐसी बातें अवश्य मिलेंगी जिनका साधर्म्य र्व अनुभव में मिल जायगा या जिन पर कार्य-कारण नियम लागू हो केगा। ऐसी विशेष बातों का विन्यास या तो साधर्म्य (analogy) से स समय जो कुछ किया जा रहा है उसी के समान काम का पहले क्या रिणाम हुआ था) या अलग-अलग बातों को देखकर (आगमन) उनके धार पर बनाए गए सामान्य नियमों (निगमन) की आगमन-निगमन णाली (inductive-deductive method) से किया जायगा। वोदित वकील जो कुछ भी करेगा उसे अपने कानूनी पेशे, जनता के त और अपनी पारिवारिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही करेगा।

(३) कल्पना द्वारा स्थिति में अपने आप को रखना—वरण करने संभव परिणामों पर ही सोच विचार कर लेना काफी नहीं है। नैतिक वेक विज्ञानीय न होकर मानवी और व्यावहारिक होता है। दो बातों की लनीयता का सही निर्णय कल्पना में उन दोनों का अनुभव करने से ही सकता है। अतएव तीसरी आवश्यकता अपने को कल्पना द्वारा भविष्य

में रस ले सकता है जिससे वर्तमान वास्तविक अनुभव सरीखे लगने लगें। दुर्भाग्यवश ऐसा बहुत कम लोग कर सकते हैं। वर्तमान भविष्य से अधिक आकर्षक और आवश्यक होता है। अपने को भविष्य में रख सकने के लिए कल्पना शक्ति का अभ्यास चाहिए, और विशेष नैतिक विचारक को इसमें निपुण होना चाहिए।

(४) किसी काम का प्रभाव जिन लोगों पर पड़ेगा उनके दृष्टिकोण से अपने सादृश्य की कल्पना करना—इस समय जो निर्णय किया जा रहा है यदि उसका कोई महत्व है तो उसका प्रभाव विभिन्न लोगों पर विभिन्न तरह से पड़ेगा। नैतिक खोज में यह समझने की बड़ी महत्ता है कि वे लोग उस काम को किस दृष्टि से देखेंगे। अतएव हमें अपने और दूसरों के बीच एक नाटकीय तादात्म्य स्थापित कर लेना चाहिए। यह इसलिए संभव है कि उपन्यास पढ़ने या तमाशा देखने से कल्पना उपन्यास या तमाशे के पात्रों से हमारा तादात्म्य करा देती है। वे पात्र हमें मुग्ध करते हैं और हम थोड़ी देर को उन्हीं की दुनियाँ के हो जाते हैं। हम उन्हीं की भावनाओं में रस लेने और उनको हर बात में सहानुभूति रखने लगते हैं।

सामाजिक चेतना अनेक व्यक्तियों में, अत्यधिक उदार व्यक्तियों में भी, आवेश के साथ काम करती है। दूसरों की आवश्यकताओं और अधिकारों को देख सकना उतना ही कठिन है जितना अपने भविष्य के लिए उनकी तरह काम कर सकना। नैतिक विचारक को अपने सामाजिक दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए क्योंकि वह तभी दूसरों की आवश्यकताओं और अधिकारों को, जो न्याय का आधार है, संतुलित रूप से देख सकता है।

(तीसरी आवश्यकता की भाँति यहाँ भी दूसरी आवश्यकता के अनुसार) जिन परिणामों का पूर्वाभास मिल चुका हो उनके हर विकल्प पक्ष में काल्पनिक प्रक्षेपण करना चाहिए।

(५) निहित मूल्यों का अंकन और उनकी तुलना—(तीसरी और

तिकता का आधार है। मान लीजिए कि उपलब्ध विकल्प पक्षों में स
र्वोत्तम साध्य है। इस साध्य तक क, ख, ग साधनों से पहुँचा जा सकता
है। अतएव साध्य तक पहुँचने के लिए क, ख, ग साधनों में से जो भी
साधन अपनाया जायगा वह उस समय हमारा कर्तव्य बन जायगा। विवेक
यदि दृढ़ता और बुद्धिमानी से किया गया हो तो वह 'मुझे क्या करना
चाहिए ?' इस प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर दे देता है, चाहे वह उत्तर कुछ
हालतों में 'कुछ न करो' ही क्यों न हो।

ये सातों आवश्यकताएँ नैतिक विवेक और वरण के सभी अनुभवों
में स्पष्ट रूप से नहीं मिल सकतीं। ये यहाँ दिए गए क्रमानुसार भी नहीं
हो सकतीं। कभी कभी दो साध्यों की सापेक्षिक योग्यता पर विवेक किया
जा सकता है और साधनों को विवेक करने के साथ साथ या उसके बाद
खोजा जा सकता है। अभी-अभी किया गया विश्लेषण नैतिक समस्याओं
के स्वभाव पर कुछ प्रकाश डालता है और उसकी परीक्षा उसे इस
अध्याय के शुरू में दी गई तीन नैतिक स्थितियों पर लागू करके की जा
सकती है।

२ नैतिक स्थिति का तार्किक विश्लेषण

हर नैतिक प्रश्न में एक आदेश (ऐसा करना चाहिए) का आग्रह
(ought)[1] रहता है। किंतु हर तरह का आग्रह नैतिक आग्रह नहीं
होता। तार्किक आग्रह और विवेकपूर्ण आग्रह में भेद है। 'मकान की
दशा का आग्रह है कि उसकी कीमत इतनी होनी चाहिए,' 'मौसम का
आग्रह है कि रात को वर्षा होगी', ये तार्किक आग्रह के उदाहरण हैं।

---

1 हिन्दी में Ought का पर्याय 'चाहिए' है किंतु 'चाहिए' क्रिया
का प्रयोग भाषा के अनुकूल नहीं पड़ता और भद्दा लगता है, इसलिए
मैंने Ought की जगह 'आग्रह' शब्द रक्खा है। इस शब्द को खपाने
के लिए मूल वाक्यों में कहीं कहीं थोड़ा परिवर्तन करना पड़ा है।

'दुर्बल शरीर स्वस्थ बनने के लिए व्यायाम का आग्रह रखता है'; यह विवेकपूर्ण आग्रह का उदाहरण है। नैतिक आग्रह की भाँति उपर्युक्त उदाहरणों में 'आग्रह' शब्द का दो प्रकार का प्रयोग भी किसी साध्य या मापदण्ड के प्रति योग्यता के होने को व्यक्त करता है। तार्किक आग्रह मानवी आचरण पर लागू नहीं होता; विवेकपूर्ण आग्रह लागू होता है और उसके द्वारा व्यक्त होने वाली अनिवार्यता किसी इच्छा की अपेक्षा रखती है। किन्तु नैतिक आग्रह किसी शर्त की अपेक्षा नहीं रखता : हमें अपने सम्मान का ख्याल रखना चाहिए—इसका अर्थ यह नहीं है कि हम यदि न चाहें तो सम्मान का ख्याल न रक्खें। सम्मानित बनने के लिए दूसरों का आदर पाना अच्छी बात है, किन्तु हमें अपने सम्मान का ख्याल हर हालत में होना चाहिए। कांट नैतिक आग्रह को निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) कहता है। निरपेक्ष होने से नैतिक और विवेकपूर्ण आग्रह में भेद है, आदेश होने से वह तार्किक आग्रह से भी अलग है। नीतिशास्त्र में नैतिक आग्रह का ही अध्ययन किया जाता है और इस पुस्तक में आग्रह शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में में ही किया जायगा। अब हमें नैतिक आग्रह की मुख्य बातों पर गौर करना चाहिए।

मूल्य और संभावना (Value and Possibility)

हर नैतिक स्थिति की पहली बात उसमें किसी मूल्य (Value) की उपस्थिति होती है। जिस वस्तु की इच्छा की जाती है उसमें मूल्य की उपस्थिति का अनुभव भी किया जाता है। मूल्य निर्धारित करने के लिए सोच विचार करना जरूरी नहीं है। जिस प्रकार निर्णय अनुभव की सही व्याख्या कर सकने में सहायक होता है उसी प्रकार उसकी सहायता से मूल्य के तत्कालिक अनुभव को भी ठीक तरह से देखा जा सकता है। किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की इच्छा करने पर निर्भर नहीं होता; ... तो मूल्य की उपस्थिति का मनोवैज्ञानिक आधार है।

किसी वस्तु में मूल्य मानने का अर्थ उस वस्तु को किसी न किसी दृष्टि से श्रेयस्कर समझना है। अतएव नैतिक स्थिति की उपर्युक्त बात को दोहराते हुए हम यह कह सकते हैं कि कुछ वस्तुओं को श्रेयस्कर मानना चाहिए या, श्रेय शब्द के सापेक्षिक होने से, कुछ वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से अच्छा मानना चाहिए। किंतु क को ख से अच्छा मानना ख को क से बुरा मानना है। इसका अर्थ यह है कि कुछ वस्तुएँ अन्य वस्तुओं से बुरी होती हैं। अतएव तुलनात्मक दृष्टि से श्रेयस्कर और अश्रेयस्कर में भेद कर सकने की योग्यता ही नैतिकता की पहली आवश्यक शर्त है। क्या श्रेयस्कर है और क्या नहीं है? यह दूसरा ही सवाल है। यहाँ तो केवल इसी बात पर जोर दिया गया है कि जो व्यक्ति कुछ वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से अधिक महत्ता नहीं देता उसके लिए नैतिक समस्या हो ही नहीं सकती। (ऐसे मनुष्य के सामने नैतिक समस्याएँ हो भी सकती हैं इसे समझना ज़रा कठिन है)। अतएव नैतिक समस्या के हो सकने की पहली शर्त किसी न किसी मूल्य की उपस्थिति को मानना है।

नैतिक समस्या की यह प्राथमिक विशेषता नीतिशास्त्र को आदर्शात्मक (normative) विज्ञान बना देती है। नीतिशास्त्र अनुभववादी विज्ञानों के अर्थ में विज्ञान नहीं है और उसकी चिंतन प्रणाली भी सर्वथा अलग है। नीतिशास्त्र को विज्ञान शब्द के विस्तृत अर्थ में ही विज्ञान कहा जा सकता है क्योंकि उसकी विषय सामग्री को व्यवस्थित किया जा सकता है और कुछ सिद्धान्तों की खोज भी की जा सकती है। भौतिक-विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि में तथ्य-संकलन पर ही जोर दिया जाता है, किंतु नीतिशास्त्र में तथ्यों को गौण समझा जाता है और उन्हें वहीं तक लिया जाता है जहाँ तक उन पर नैतिक मूल्य लागू होते हैं और उनका मूल्यांकन हो सकता है। भारत गर्म देश है, यह एक तथ्य है; वहाँ के लोग ग़रीब हैं, यह भी तथ्य है। दोनों ही बातें तथ्य हैं किंतु हम उनके मूल्यांकन में भेद करते हैं। मूल्यांकन के यही भेद, यही आदर्शात्मक भेद, ही नैतिक स्थिति की नींव हैं।

पर विचार किया जाय तो उनमें भावात्मक या अभावात्मक किसी
प्रकार के मूल्य का आरोप हो सकता है। ये सब बातें चेतनता में
अलग न आकर ही स्थिति को नैतिक स्थिति बना देती हैं। व
प्रत्यक्ष परिचय के अलावा भी एक और बात की आवश्यकता
दूरस्थ मूल्यों में अन्तर्दृष्टि रखना भी ज़रूरी है। अतएव नै
की तीसरी आवश्यकता में दो बातें हैं : वरण को परिणामिक ह
और वैकल्पिक पक्षों को यहाँ और अभी समाप्त हो जाने
नहीं होना चाहिए, उनका मूल्य वर्तमान उपभोग से भी
चाहिए। अतएव वरण करने वाले में परिणामों को कल्पना
सकने की क्षमता और वर्तमान स्थिति द्वारा संकेत किए जा
के स्वभाव को जान सकने की अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए।

नैतिक स्थिति में निहित मूल्यों की अन्तर्दृष्टि की वि
कुछ उपयोगितावादी (Utilitarian) दार्शनिक, विशेषक
'मूल्य' शब्द से धोखा खा गए हैं। वे यह समझने
चीज़ों का मूल्य रुपए-पैसे से आँका जाता है उसी तरह
मूल्यों का भी अनुगणन किया जा सकता है। किंतु आर्थि
(Technical) और सैद्धान्तिक होते हैं, नैतिक मू
यथातथ (Concrete) होते हैं। कोई सौदागर दो
कीमत पर बेचकर उन चीज़ों के विनिमय मूल्य को
खरीदारों के लिए उन चीज़ों का मूल्य विनिमय में
योगिता में होता है। उन वस्तुओं के मूल्य में भेद
ख़रीदार हर वस्तु को अपनी पसन्द और प्रयोग के
है। नैतिक स्थिति के प्रतियोगी मूल्यों में प्रकार भेद
नहीं। मनुष्य की पसन्द और मूल्यांकन का ढंग
इस तरह बदलता रहता है कि अन्तर्दृष्टि में भी
जा सकता। मनुष्य के विकास को उसकी नैतिक
...से ही अच्छी तरह समझा जा सकता है।

किंतु क्या अन्तर्दृष्टि पर्याप्त है ? यदि हम किसी काम को सरल और सबसे अच्छा समझ कर करना चाहें तो क्या हम उसे कर भी सकते हैं ? हमें मालूम है कि हम ऐसा नहीं कर सकते। मोह का अनुभव सभी को होता है—अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष में हम काम करने का उचित मार्ग जानते हैं किंतु कोई न कोई क्षणिक प्रलोभन हमें उस मार्ग को अपनाने में बाधा डालता है। हमें तथा इस अनुभव पर भी विचार करना चाहिए।

३—हित और औचित्य (Good and Right)

हम जो करना चाहते हैं और हमें जो करना चाहिए उसमें अक्सर विरोध होता है: वर्तमान हित और औचित्य में असंगति सी मालूम पड़ती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है नैतिक विवेक सम्बन्धी दोनों वैकल्पिक पक्षों में से किसी न किसी को हितकर माना जाता है। किंतु प्रतियोगी हितों के गुण सर्वथा भिन्न हो सकते हैं। मान लीजिए कि मेरा अपने मित्रों के साथ बैठकर चाय पीने को जी चाहता है जबकि मैं जानता हूँ कि शाम का समय मुझे पढ़ने में लगाना चाहिए। एक जी तो बैठ जाने को करता है और दूसरा चले जाने को। पहली इच्छा आकर्षक और बलवती है किंतु उसके पीछे बौद्धिक अनुमति नहीं है; जबकि—

> नैतिक आग्रह की माँग दूसरी ही है। उसमें अन्तर्प्रेरणा न होकर अनिवार्यता होती है। हम अपने को उकसाए जाने का अनुभव नहीं करते, किंतु हम स्वयं अपनी अन्तर्प्रेरणा के विरुद्ध अपने को ही उकसाते हैं।[1]

ऐसी स्थिति से सभी परिचित हैं। उस समय तबियत वह काम करना चाहती है जो कर्तव्य के प्रतिकूल पड़ता है। उस तात्कालिक आकर्षण को तोड़ने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। ऐसे प्रयत्न की आवश्यकता, उसे कर सकने का मार्ग देखना और उसे अधिक लाभ की आशा से अच्छा समझना यही सब नैतिक आग्रह की अनुभूति की शर्तें हैं।

[1] आव् फीलिंग, पृ० १६६-७०

यद्यपि हित और औचित्य प्रायः विरोधी होते हैं किंतु उनमें अंतरंग सम्बन्ध होता है। उनके विरोध की व्याख्या 'हित' शब्द के अर्थ में विभेद—आन्तरिक (Intrinsic) और ऊपरी (Extrinsic) हित—से की जाती है। जब कोई हित अपने आप में साध्य होता है तो उसे आन्तरिक हित कहा जाता है; जब उसे किसी और हित को पाने का साधन बनाया जाता है तो उसे ऊपरी या नैमित्तिक (Instrumental) हित कहा जाता है। यह सम्बन्ध बदलता रहता है क्योंकि साध्य और साधन में भेद कर सकना सदा संभव नहीं है। जो एक दृष्टि से साध्य है वही दूसरी दृष्टि से साधन हो सकता है। फिर भी हम सामान्य रूप से यह कह सकते हैं कि शल्य चिकित्सा से ऊपरी लाभ होता है क्योंकि उससे भविष्य में रोगी के अधिक स्वस्थ होने की आशा की जाती है। शराब पीना आन्तरिक हित है क्योंकि शराब पीने के लुत्फ के लिए ही पी जाती है, किसी और प्रयोजन से नहीं। कुछ हित एक साथ ऊपरी और आन्तरिक दोनों ही होते हैं, जैसे स्वादिष्ट और स्वास्थ्यप्रद भोजन, प्रफुल्लित करने और गहरी नींद लाने वाला स्नान। किसी आन्तरिक हित (जैसे अच्छी नौकरी) की प्राप्ति के लिए उचित मार्ग अपना सकने का एकमात्र साधन यही है कि किसी ऊपरी हित (जैसे मेहनत से पढ़ना) का वरण कर लिया जाय। ऐसे अवसरों पर काम से प्राप्त होने वाला हित ही औचित्य का आधार होता है, किंतु यह हो सकता है कि कर्त्ता को दूरस्थ हित दिखाई न दे। तत्कालिक हित (जैसे कि विलासमय जीवन का सुख) के प्रति आसक्त होने से कभी-कभी यथार्थ में दो हितों (वर्तमान विलासिता और भविष्य) का विरोध वर्तमान हित (विलासिता) और वर्तमान उचित मार्ग (मेहनत से पढ़ना) का विरोध लगने लगता है।

इच्छाशक्ति का विरोधाभास (Paradox of Volition)

जिन स्थितियों में वास्तविक नैतिक संघर्ष होता है और प्रलोभन को दबाने के लिए नैतिक प्रयत्न करना पड़ता है वे नैतिकता के लिए अत्यन्त

आवश्यक है। किसी नैतिक सिद्धान्त के व्याख्याकार होने के नाते उन्होंने इसी बात से है कि वह नैतिक संघर्ष में इस नैतिक शक्ति का पता लगाये। विलियम जेम्स ने नैतिक संघर्ष को उस स्थिति से माना है जिसमें "एक आदर्श अन्तःप्रेरणा से प्रबल और स्थायी रूप से इन्द्रिय अन्तःप्रेरणाओं का दमन किया जा सके" और "नितान्त या अत्यधिक प्रतिरोध की रेखा पर चला जा सके और उसके सामने वाली बातों को हटाया जा सके।" वह कहता है -

> इच्छा शक्ति की दुनिया में, जब कि आदर्शों की उपस्थिति रहती है, हमें लगता है मानो हम अत्यधिक प्रतिरोध के मार्ग पर बढ़ रहे हों। यद्यपि न्यायाचार उद्देश्य आसान मालूम होता है तथापि हम उसे नहीं अपनाते। जो व्यक्ति शल्यचिकित्सा में अपने दर्द को दबा लेता है या कर्तव्य के लिए मस्तक की आपत्तियाँ सुन लेता है उसे लगता है मानो वह उस समय अधिकतम प्रतिरोध के मार्ग पर चल रहा हो......
>
> आदर्श अन्तःप्रेरणा निर्बल तो जान पड़ती है किंतु उसे कृत्रिम रूप से प्रबल बनाना चाहिए। उसको प्रयत्न द्वारा प्रबल बनाया जाता है जिससे आदर्शात्मक शक्ति निश्चित मात्रा की जान पड़ती है जब कि अन्तःप्रेरणा की मात्रा स्थाई लगती है। किंतु जब प्रयत्न की सहायता से आदर्श उद्देश्य ऐन्द्रिक प्रतिरोध पर विजयी होता है तो उसकी मात्रा किस बात से निर्धारित होती है? प्रतिरोध की महानता से ही। यदि ऐन्द्रिक प्रेरणा कम होगी तो प्रयत्न भी कम करना पड़ेगा। प्रतिरोध की महानता के सामने प्रयत्न भी महान बन जाता है। अतएव आदर्शात्मक या नैतिक कार्य की सर्वाचीन परिभाषा की जा सकती है: अधिकतम प्रतिरोध के मार्ग पर चलना ही नैतिक कार्य है।[1]

---

[1] विलियम जेम्स' दि प्रिंसिपल्स आफ् साइकोलॉजी, जिल्द दूसरी, पृ० ५४८-४९

प्रेम के इस गम्भीर विरोधाभास को समझने के लिए हमें भौतिक जगत के साधर्म्य से नैतिक स्थिति की व्याख्या करने की प्रचलित प्रवृत्ति से बचना चाहिए। भौतिक विज्ञानों के अध्ययन में न्यूनतम प्रतिरोध के मार्ग को अपनाया जाता है। विज्ञान के नियम यथातथ्य अनुभव पर पूर्ण रूप से घटित न हो सकने के कारण ही सार्वभौम होते हैं। कोई भी नियम यथातथ्य अनुभव पर ज्यों का त्यों लागू नहीं होता। वैज्ञानिक अपनी प्रविधिक आवश्यकताओं के अनुसार नियम बनाने में स्वतंत्र हैं। किंतु विज्ञानीय नियम हमें नैतिक अनुभव के बारे में कुछ नहीं बताते। नैतिक अनुभव के क्षेत्र में हर व्यक्ति अपना अन्वेषक स्वयं है। अन्तर्ज्ञान से यह पता चलता है कि नैतिक संघर्ष में हम अधिकतम प्रतिरोध के मार्ग पर चल सकते हैं और चलते हैं।

उद्देश्य पर विचार करने से 'हमें क्या करना चाहिए ?' प्रश्न को 'हम क्या करना चाहते हैं ?' में बदला जा सकता है। इस विषय में बुद्धि या अन्तर्दृष्टि ही मध्यस्थ का काम करती है। हमारे लिए चाय पीने का सुख छोड़ना इसलिए उचित है कि भविष्य में उससे हमारा हित हो सकता है : हमारा समय और पैसा दोनों बच सकते हैं। वरणीय काम तत्कालिक तृप्ति से अलग होता है किंतु उसमें भी एक तृप्ति होती है। हम कल्पना द्वारा अपने आप को भविष्य में रख कर अपने लाभ, हित या परितृप्ति को वर्तमान अनुभव से अलग करके देखते हैं। मनुष्य अपनी इसी योग्यता के कारण बौद्धिक प्राणी है। उसकी योग्यता जहाँ तक उसके आचार का निर्देशन करती है वहाँ तक वह नैतिक प्राणी भी है।

मनुष्य की अनुचयन करने की योग्यता परोपकारिक आग्रह (Altruistic 'ought') में भी दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य कर्तव्यों को अपने भविष्य के लिए ही न कर दूसरों के लिए भी कर सकता है। यहाँ फिर बुद्धि ही मध्यस्थ होती है। मनुष्य लाभ, हित या परितृप्ति को परितृप्त होने वाले व्यक्ति से और अनुभव को अनुभव करने वाले से अलग करके विचार करने की योग्यता रखता है।

(१) स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ—लोग कहते हैं कि 'अपनी अन्तर्प्रेरणाओं पर चलो और वही काम करो जिससे अधिक से अधिक सुख मिले', जैसे उन्होंने इन अनर्गल वाक्यों में कोई नैतिक सार्थकता पा ली हो। ऐसे लोग वास्तव में नैतिक मूल्यों की सत्ता से इनकार ही करते हैं। यदि आचार का मापदंड प्रवृत्तियाँ ही हों तो अनेक प्रवृत्तियों में से किसी एक का वरण कर सकने का कोई मापदंड नहीं हो सकता। ऐसी दशा में प्रबलतम प्रवृत्ति ही प्रबल होने के नाते उचित बन जायगी। अतएव यहाँ किसी नैतिक मापदंड की ओर संकेत न करके उसको केवल अस्वीकार ही किया गया है।

कभी-कभी स्वाभाविक अन्तर्प्रेरणाओं के पक्ष में मानवी स्वभाव की दुहाई दी जाती है। इसकी विस्तृत परीक्षा चौथे अध्याय में की जायगी; यहाँ पर इतना ही कह देने की जरूरत है कि मानवी स्वभाव की जटिलता और रहस्यमयता के कारण उसका अपचय तथ्यों के किसी रूप या प्रकार विशेष में नहीं किया जा सकता। मनुष्य यदि अन्तर्प्रेरणा में बह जाता है तो वह अक्सर उसको दबा भी देता है और दबा भी सकता है। अपने स्वभाव को सुधारना और फिर से बनाना भी मनुष्य का स्वभाव है। वैकल्पिक पक्षों में आसान मार्ग को छोड़कर कठिन मार्ग पर चल सकना अत्यन्त आवश्यक बात है, नहीं तो नैतिक क्रिया शक्तिहीन और नैतिक निर्णय निरर्थक हो जायगा। किंतु नैतिकता के लिए अन्तर्प्रेरणा, स्वभाव और प्रकृति को पर्याप्त समझने वाले इसी आदर्श तथ्य की उपेक्षा जानबूझ कर कर बैठते हैं।

(२) व्यवस्थापित विधान (Statute law)—किसी देश का विधान उचितानुचित का सब पर लागू होने वाला मापदंड होता है। किंतु मनुष्य सारे कानूनों का पालन नहीं कर सकता। बहुत से लिखित कानून एक अर्से से व्यर्थ हो चुके हैं और उन्हें अब तक हटाया नहीं गया है। मनुष्य सारे कानूनों का पालन तभी कर सकता है जब वह कानूनी मदद से आचार के बारे में कौन-कौन से कानून हैं? इसका पता

लगा ले। शत कानूनों में भी कुछ का आदर दूसरों से अधिक है। 'कानून मानने वाले' ऐसे लोग भी हैं जो शराबबन्दी पर भी छिपकर पीते हैं। वर्तमान कानूनों में परिवर्तन कर सकने का अधिकार सभी को है। अतएव वास्तविक और प्रस्तावित कानूनों के उचितानुचित होने का निर्णय कर सकने के लिए कोई मापदंड होना चाहिए।

(३) सार्वजनिक सम्मति की प्रामाणिकता व्यवस्थापित विधान से अधिक होती है क्योंकि कोई कानून सार्वजनिक समर्थन पाए बिना चल नहीं सकता। फिर भी सार्वजनिक सम्मति अक्सर गलत होती है क्योंकि लोगों के सोचने का तरीका भावना प्रधान या संघचारी होता है। शिक्षा का एक उद्देश्य सार्वजनिक सम्मति को उन्नत बनाना है। अतएव किसी समय पर सार्वजनिक सम्मति को उचितानुचित ठहरा सकने के लिए किसी श्रेष्ठ मापदंड की अपेक्षा है।

(४) कुछ लोग इस श्रेष्ठ मापदंड को धार्मिक सत्ता में मानते हैं। इस दृष्टिकोण में (१) ईश्वर की सत्ता, (२) मनुष्य को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ईश्वरीय इच्छा का निमित्त समझने और (३) अपने ही धर्म या गुरु द्वारा मनुष्य के सदसद्विवेक की चंचलता पर अंकुश लगाने के लिए ईश्वरीय इच्छा की अभिव्यक्ति होने के विश्वास को स्वीकार किया जाता है। इन सब विश्वासों को मान लेने पर भी उनकी व्याख्या करने की कठिनाई पड़ती है। चोरी न करो : क्या यह निषेध व्यापार सम्बन्धी सब बातों पर भी लागू होता है ? चोरी की एक सार्वभौम मान्य परिभाषा न होने से यह ईश्वरीय आदेश उचित और आवश्यक होते हुए भी बड़ा अनिश्चित है। मानवजाति से प्रेम करो : ठीक है; किंतु इस नियम को युद्ध और श्रम सम्बन्धी आवश्यक सामाजिक समस्याओं पर लागू करने के अनेक मत हैं।

(५) सदसद्विवेक (Conscience) हर व्यक्ति का मापदंड होता है। सदसद्विवेक की आवाज क्षणिक प्रवृत्ति और कभी-कभी सार्वजनिक सम्मति का विरोध करती है और जिस मनुष्य ने ? अपने को अनैति

दिया है उसके लिए किसी भी धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष कानून से
धिक श्रेष्ठ और मान्य होती है। फिर भी सदसद्विवेक स्थाई नहीं है
र उसे शिक्षा द्वारा प्रौढ़ करना चाहिए। उस पर आलोचना के बिना
सा कर लेने पर स्वार्थ स्वार्थ नहीं लगता।

(६) अतएव सदसद्विवेक पर नियंत्रण होना चाहिए और उसकी
र मूलक व्याख्या करनी चाहिए। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि
नैतिकता का मापदंड बुद्धि ही है। कांट ने बुद्धि को मापदंड सिद्ध
ने की चेष्टा की थी किंतु उसका चिंतन भी उतना ही विवादग्रस्त है[1]
ना कि किसी और नैतिक विचारक का। यदि उदारता स्वार्थ से अच्छी
ी इसके माने यह नहीं है कि वह अधिक बुद्धिमूलक है। कुछ दार्श-
: उदारता को बुद्धिमूलक नहीं समझते। बुद्धिमूलकता नीतिशास्त्र का
ावश्यक अंग होते हुए भी उसकी कसौटी नहीं है।

यह स्पष्ट है कि उचितानुचित के किसी एक मापदंड से काम नहीं
सकता। नीतिशास्त्र का काम नैतिक समस्याओं के समाधान के लिए
ुचन नियम प्रस्तुत करना नहीं है। सक्रिय बुद्धि किसी भी बात पर
तम शब्द कहने वाले सिद्धान्त का विरोध करती है। यह बात नीति-
ा पर विशेष रूप से लागू होती है क्योंकि नैतिक निष्कर्षों की महत्ता
व्यक्ति के लिए अलग अलग होती है। तत्कालिक निर्णय अक्सर
ा निश्चित आदत या पसन्द या नियम के अनुसार ही किया जाता
किंतु सिद्धान्तों पर अवकाश के समय भी विचार किया जा सकता है।
ास्तिक नीतिशास्त्र का काम हर नई नैतिक समस्या को निश्चित रूप से
ाने के लिए ध्रुव आदर्श जुटा देना नहीं है। उसका काम वर्तमान
ों और नए मूल्यों की खोज के लिए एक समुचित आलोचनात्मक
ी को विकसित कर देना है जिनसे नैतिक निर्णयों का आधार और
ृढ़ बन सके।

---

[1] दे०, दूसरा अध्याय

२

नीतिशास्त्र की विचार-प्रणाली

नैतिक स्थिति की परिभाषा पहले अध्याय में दी जा चुकी है। अब नैतिक स्थिति में निहित मूल्यों का ठीक ठीक पता लगाने के लिए किसी विचार-प्रणाली पर विचार करना रह जाता है। किन्तु हम आधारभूत नैतिक मूल्यों की व्याख्या जिस ढंग से करेंगे उसका हमारी विचार-प्रणाली की खोज पर बहुत असर पड़ेगा। यदि नैतिक मूल्य स्थाई हैं और हर समय, हर स्थिति में, हर मनुष्य के लिए सार्वभौम रूप से सही हैं तो नैतिक विचार प्रणाली मुख्यतः निगमनात्मक (Deductive) होगी। निगमनात्मक प्रणाली में पहले से ही प्रस्तुत मूलभूत सिद्धान्तों को ठीक तरह से लागू करने की समस्या होती है, जैसे कोई न्यायाधीश पहले से ही प्रस्तुत कानूनों के आधार पर हर मुकदमे की परख करता है। नैतिक निरपेक्षवाद (Ethical Absolutism) इसी मत का समर्थन करता है। किन्तु यदि नैतिक मूल्य केवल मनोविज्ञानीय या सामाजिक तथ्य ही हैं और वे समाज की गति और मनुष्य की इच्छाओं के साथ साथ बदलते रहते हैं तो नैतिक विचार प्रणाली आगमनात्मक (Inductive) होगी। *आगमनात्मक प्रणाली में किसी समाज के लोगों का वास्तविक आचरण* और वे वैयक्तिक या सामूहिक रूप से जिस ध्येय की ओर बढ़ते हैं उसे देखा जाता है। फिर उस ध्येय को प्राप्त करने के उनके साधनों की खोज की जाती है। नैतिक सापेक्षवाद (Ethical Relativism) में इसी का प्रतिपादन किया जाता है। अब हमारे सामने यह प्रश्न है : क्या ध्रुव और सार्वभौम नैतिक मूल्यों की सत्ता है? या नैतिकता का आधार राजनैतिक विधानों, आर्थिक साँचों, कला के रूपों और धार्मिक काण्डों की

रह बदलता रहने वाला लोगों का रीति रिवाज ही है ! इस विषय पर र्शनिकों में शुरु से ही गहरा मतभेद रहा है।

१ नैतिक निरपेक्षवाद (Ethical Absolutism)

नैतिकता के बारे में सार्वजनिक प्रवृत्ति दुरंगी होती है। लोग एक ोर तो अच्छे और बुरे काम की परख करने के लिए कोई व्यवस्थापित ानून की कसौटी चाहते हैं किंतु दूसरी ओर जब वही कानून उनके स्वार्थ विरुद्ध पड़ते हैं तो वे उनकी अवहेलना करते हैं। तो क्या हम दूसरों परख और तिरस्कार करने के लिए अन्दर ही अन्दर कोई व्यवस्थापित ानून चाहते हैं और उसी कानून से अपनी परख हो सकने के विचार खिन्न हो जाते हैं ? इस दुरंगी प्रवृत्ति के कारण न्याय, देशप्रेम और दारता की प्रशंसा और झूठ बोलने, चोरी और हत्या का तिरस्कार कर रने के लिए कुछ निरपेक्ष नैतिक मान्यताएँ स्वीकार कर ली जाती हैं, नका बड़ा बखान किया जाता है और वे जहाँ तक स्वार्थ में असुविधा- रक नहीं बनतीं वहाँ तक उनका पालन भी किया जाता है; किंतु यदि स्वार्थ के रास्ते में आ जाती हैं तो उन्हें व्यावहारिक अपवाद समझा ता है। यह असंगति नैतिक मूलशब्दों की अस्पष्टता और दुरूहता के रण ही होती है।

कुछ अपूर्ण निरपेक्ष मान्यताएँ

हमें सच बोलना चाहिए : इस नैतिक वाक्य पर ध्यान दीजिए ! ा हम इसको निरपेक्ष मान्यता मानने को तैयार हैं ? तो हम उस वैद्य क्या कहेंगे जो रोगी के स्वास्थ्य लाभ या नीरोग हो सकने के लिए ठ बोलता है ! उसका झूठ बोलना उचित है अथवा अनुचित ? इसका र देने के लिए शायद हम पहले रोगी की स्थिति और वैद्य के मन के देह को जानना चाहेंगे। यदि मृत्यु निश्चित है तो क्या रोगी को उसे नने का अधिकार नहीं है ? हो सकता है कि वह अपने मरने के पहले ु व्यवस्था करना चाहता हो या वह मरने के लिए तैयार होना चाहता

हो। हो सकता है कि मृत्यु की संभावना बहुत कम हो किंतु रोगी की स्थिति इतनी शोचनीय हो कि वह शायद मृत्यु के डर से ही मर जाय। ऐसी हालत में वैद्य तथ्यों के विपरीत आशा प्रकट करके क्या अनुचित करेगा?

ऐसे बहुत से लोग हैं जो किसी व्यक्ति की जान बचा सकने के लिए झूठ बोल जाते हैं किंतु बाद में झूठ बोलने के लिए पछताते हैं। बहुत से लोग यह कहेंगे कि ऐसी स्थितियों में शमन करने वाली बातें भी होती हैं। *यद्यपि झूठ बोलना उचित नहीं है किंतु वह अवसर विशेष पर क्षम्य हो सकता है।* कुछ स्थितियाँ ऐसी भी हो सकती हैं जहाँ झूठ न बोलना अनुचित होता है। किसी देश प्रेमी को ज़रा सा झूठ बोलकर फाँसी से न बचाना अनुचित समझा जायगा। ऐसे अपवादों को मानने से सच बोलना निरपेक्ष नैतिक नियम नहीं रहता। झूठ बोलना किन परिस्थितियों में ठीक है? वैद्य हर अवसर पर अपने रोगी से झूठ नहीं बोल सकता। देशप्रेमी की जान बचाने के लिए हर परिस्थिति में झूठ बोलना ठीक नहीं है—विशेषकर उस हालत में जब उसकी जान बच जाने से देश पर और भी भयंकर संकट आ जाय। अनेक छोटे-छोटे अवसरों पर तो झूठ के बारे में रत्ती भर भी चिन्ता नहीं की जाती। किसी के यहाँ स्वादहीन खाना खाकर भी हम उसको मेज़बान के सामने बुरा नहीं कहेंगे। शिष्टाचार वश जो असत्य बातें कही जाती हैं उन्हें झूठ बोलना कहा जाय या नहीं? यदि कहा जाय तो सच और झूठ बोलना अपने आप में उचित या *अनुचित नहीं है। झूठ बोलने का अर्थ सत्य का गलत कथन नहीं है;* झूठ का अर्थ है सत्य का वह गलत कथन जो नैतिक दृष्टि से समर्थनीय नहीं बन सकता। इस अर्थ के अनुसार 'झूठ बोलना अनुचित है' इस कथन में कुछ भी नहीं कहा गया है। यह कथन केवल पुनरुक्ति मात्र ही है। 'झूठ बोलना अनुचित है' इसका उत्तर किसी स्थिति के मूल्य विशेष को बताकर ही दिया जा सकता है, केवल झूठ शब्द के अर्थ को बताकर नहीं।

चोरी नहीं करना चाहिए: ठीक है। किंतु चोरी जब बड़े पैमाने पर

'हत्या नहीं करना चाहिए', इस वाक्य को लीजिए। क्या यह वाक्य
के समय सैनिक पर लागू होता है? क्या यह न्यायसंबंधी मृत्युदण्ड
भी लागू होता है? क्या न्यायाधीश अपराधी को मृत्यु दंड देकर और
जाद उसे फाँसी पर चढ़ा कर अनैतिक काम करता है? क्या आत्मरक्षा
दूसरे की जान बचाने के लिए गोली चलाना अनुचित है? फिर हत्या
अप्रत्यक्ष तरीकों के बारे में क्या कहा जा सकता है? यदि हम व्यापार
तनी भीषण प्रतियोगिता करने लगें कि हमारा प्रतियोगी दिवालिया
र आत्महत्या कर ले तो उसकी हत्या में हमारा हाथ कहाँ तक है?
कोई देश किसी अन्य देश के कच्चे माल और बाजार पर इस तरह
कार कर ले कि उस देश के निवासी भूखों मरने लगें तो वह देश
त देश के लोगों की हत्या करता है या नहीं?

झूठ बोलने, चोरी और हत्या करने के नैतिक निषेध आवश्यक होते
भी निरपेक्ष नहीं हैं। अपवाद की स्थिति विशेष को जाँच करके ही
: निषेधों को ठीक से समझा जा सकता है, नहीं तो वे केवल पुनरुक्ति
ही होते हैं और दो शब्दों के तार्किक सम्बन्ध के अलावा और कुछ
ताते। प्रचलित नैतिक वाक्यों में अपवाद होने का यह अर्थ नहीं
सार्वभौम रूप से सही नैतिक सिद्धान्तों की सत्ता ही नहीं होती। यह
है कि प्रचलित नैतिक वाक्य सापेक्ष रूप से ही सत्य होते हैं किंतु
और उनके अपवादों की सत्यता को जानने के लिए स्वयंसिद्ध

सिद्धान्तों की अपेक्षा होती है। इस पर अभी विचार किया जायगा। पहले हमें वैधानिक और स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों के अनुसार विचार करने वालों की मान्यताओं पर ध्यान देना चाहिए।

वैधानिक विचार-प्रणाली

वैधानिक प्रणाली में नैतिकता की परख कुछ निश्चित नियमों से की जाती है। नियम पहले से ही प्रस्तुत और अटल होते हैं। उनसे इस प्रश्न कि अमुक अवसर पर किस तरह काम करना चाहिए, के हर रूप का उत्तर मिल जाता है। फिर भी चूँकि नियम भाषा द्वारा व्यक्त किए जाते हैं अतएव उनको विशेष स्थितियों में लागू कर सकने के लिए उनकी व्याख्या करनी पड़ती है। ऐसे प्रश्नों का उत्तर दे सकने के लिए उस विधानवेत्ता उल्लंघनीय स्थितियों का पहले से ही वर्गीकरण कर लेता है। आचार को निषेधाज्ञा और निषेध से नियमित किया जाता है।

वर्गीकरण में नैतिकता का अर्थ इतना बढ़ जाता है कि उसका स्वभाव खतरे में पड़ जाता है। कुछ निश्चित नैतिक सिद्धान्तों को मानने और उनका निरपेक्ष रूप से पालन न करने वाला व्यक्ति यह जानता है कि अनेक अवसरों पर झूठ बोलना ठीक होता है। जब सच बोलने से कोई बड़ा हित खतरे में पड़ने लगता है तो उस अवसर पर लोग झूठ ही बोलते हैं। किंतु वर्गीकरण करने वाला झूठ को 'व्याख्या करना' आदि अन्य नाम देकर गलत कथन पर ही अड़ा रह सकता है। इग्लैंड का राजा हेनरी सप्तम वर्गीकरण से लाभ उठाना जानता था। स्पेन के किसी राजकुमार ने ड्यूक आव सफोक को अपने यहाँ आश्रय दे रक्खा था। हेनरी ने ड्यूक को न मारने के वादे पर वापस ले लिया था किंतु वह अपनी वसीयत में लिख गया था कि उसके बाद उसका लड़का ड्यूक को तत्काल मार डाले।

नीतिशास्त्र और व्यवस्थापित विधान

व्यवस्थापित विधान की व्याख्या करने के लिए जिस ढंग से विचार किया जाता है उसे इसलिए देखना आवश्यक है कि कभी-कभी उसे

नैतिक चिंतन का भी आदर्श समझ लिया जाता है। न्याय संबंधी कार्य का स्पष्ट अर्थ नियमों और कानूनों को विशेष स्थितियों पर ठीक से लागू करना होता है। न्यायाधीश का काम कानूनों की वास्तविकता पर विचार करना होता है। उसका काम अपने व्यक्तिगत मापदंडों और रुचि के अनुसार न्याय और नीति संबंधी कानूनों को कैसा होना चाहिए? यह विचार करना नहीं है। इस पर विचार करना जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का काम है। न्यायालय कानून की व्याख्या और स्थिति विशेष पर उसे ठीक से लागू ही कर सकता है, कानून नहीं बना सकता। यह काम तभी हो सकता है जबकि कानूनी चिंतन निगमनात्मक हो और स्थितियों के वर्गीकरण—नई स्थितियों को कानून के अन्तर्गत लाने—से किया जाय।

किंतु कानून के अन्तर्गत स्थितियों और घटनाओं का वर्गीकरण तीन कारणों से पर्याप्त नहीं है। एक तो तैयार कानूनों में सदा पारस्परिक संगति नहीं होती या फिर किसी कानून और राज्य या संघ के विधान में कोई विरोध हो सकता है। इन विरोधों का समाधान न्यायाधीश द्वारा किसी कानून की व्याख्या और उसको दी गई महत्ता पर ही निर्भर करता है।

दूसरी बात यह है कि मानवी जीवन सदा बदलता रहता है। इस परिवर्तन के साथ कुछ ऐसी नई स्थितियाँ आ जाती हैं जिन्हें कानून बनाने वाले देख नहीं सकते। वे स्थितियाँ किसी नियम के अन्तर्गत नहीं आतीं। उनके उत्पन्न होने के कारण नए आविष्कार या नई तरह का सामाजिक जीवन हो सकते हैं। वायुयान के आविष्कार ने आकाश-मार्ग की सम्पत्ति के अधिकारों की समस्या को पैदा कर दिया है। परिवर्तनशील अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक सम्बन्धों, श्रम की नई शर्तों, नए आविष्कारों और बढ़ती हुई आबादी से नई तरह के स्वार्थों का संघर्ष पैदा हो चुका है जिन्हें जब कचहरी में . है तो वे बिल्कुल 'नवीन बातें' लगते हैं।

ये कहा जा सकता है कि ये 'नवीन बातें' बहुत कम होती हैं और पूर्व दृष्टान्तों के बढ़ने से और भी कम होती जाती हैं। इसका उत्तर यों दिया जा सकता है कि ये 'नवीन बातें' विरल इसलिए लगती हैं क्योंकि हम अभिभावित सिद्धान्त की प्रधानता के कारण उन पर ध्यान नहीं दे पाते। हर स्थिति पहली स्थिति से किसी न किसी प्रकार भिन्न होती है। किन्तु पूर्व दृष्टान्त ढूँढने की प्रवृत्ति के कारण हम स्थितियों के भेद की उपेक्षा कर बैठते हैं। यह भी जरूरी नहीं है कि फैसला किए गए विषयों की संख्या के बढ़ने पर 'नवीन बातों' की संख्या घट जाय। 'नवीन बातें' निर्णय किए गए विषयों पर निर्भर न होकर जीवन परिवर्तन की गति पर निर्भर हैं। पूर्व दृष्टान्तों के बढ़ने से चतुर व्यक्ति दोनों पक्षों के पूर्व दृष्टान्तों को आसानी से ढूँढ सकता है। अतएव वैधानिक निर्णय का काम न्यायाधीश के मत, सार्वजनिक नीति और वस्तुओं के सामान्य स्वभाव और योग्यता से निर्धारित होता है।[1]

इस उद्धरण के अन्तिम वाक्य से वैधानिक कार्यविधि को सीमित करने वाली तीसरी महत्वपूर्ण बात का पता चलता है। न्याय के सम्बन्ध में किसी भी न्यायाधीश का दृष्टिकोण एकदम निरपेक्ष नहीं हो सकता किंतु वह व्यक्तिगत अभिरुचि और प्रचलित सामाजिक सम्मतियों के अनुसार बदलता रहता है। माना कि कोई सम्माननीय न्यायकर्ता किसी मामले पर, जहाँ तक बन पड़ेगा, निरपेक्ष निर्णय ही देगा किंतु फिर भी मनुष्य होने के नाते उसके निर्णय पर उस समय की प्रचलित सामाजिक सम्मतियों, अभिरुचियों आदि की छाप अवश्य पड़ेगी।

1 मॉरिस आर० कोहेन, लॉ एण्ड दि सोशल ऑर्डर, पृ० १२२-२३ (हार्कोर्ट)

> विधान को किसी आदर्श समाज का संचालन करने वाला वैज्ञानिक नियम नहीं माना जा सकता। विधान को अर्थशास्त्रियों और सामाजिक वैज्ञानिकों की खोजों के अनुसार वर्तमान अवस्थाओं और परिस्थितियों पर घटित करके ही उस पर ठीक से विचार किया जा सकता है।[1]

अतएव यह स्पष्ट है कि वास्तविक वैधानिक कार्यविधि या उससे प्राप्त हो सकने वाली संभावनाओं को स्थितियों का वर्गीकरण करके नहीं समझा जा सकता। निर्णय की स्वतंत्रता शायद सब महत्त्वपूर्ण निश्चयों में वास्तविक और आवश्यक है। यों तो प्रतिष्ठित कानूनों को उपलब्ध पूर्व दृष्टान्तों के आधार पर किसी स्थिति पर लागू करना ही वैधानिक कार्यविधि का आदर्श है किन्तु जब पूर्व दृष्टान्तों या कानूनों में ही असंगति बैठती हो, जब पूर्वदृष्टान्त या कानून वर्तमान स्थिति पर ठीक से न लागू होते हों या जब कानून के अर्थ की व्याख्या के बारे में सन्देह हो तो स्वतंत्र निर्णय की आवश्यकता पड़ जाती है। यदि किसी स्थिति में उपर्युक्त तीनों बातें हों तो वैधानिक कार्यविधि को लिखित नियमों और निर्णय किए गए पूर्वदृष्टान्तों के आगे जाने वाले सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए। तब ये दो प्रश्न उठाने चाहिएँ : कानून का वास्तविक तात्पर्य और उसकी समीचीन व्याख्या क्या है? इन दोनों प्रश्नों में खुले या छिपे तौर से नैतिक रूप से श्रेयस्कर होने की बात आ जाती है। 'वास्तविक तात्पर्य' की माँग यह है कि किसी कानून के बनाने वालों ने उस कानून से कौन-सा सामाजिक हित चाहा था? 'समीचीन व्याख्या' की माँग यह है कि शब्दों के व्यवहृत अर्थ की सीमा के अन्दर कानून से अधिकाधिक सामाजिक हित प्राप्त करने के लिए कानून की व्याख्या कैसे होनी चाहिए? कानून के वास्तविक रूप में लागू होने में सामाजिक हित भावना किसी न किसी में सदा रहती है।

---

[1] बेंजमिन एन० कार्डोज़ो, दि नेचर आव दि जूडीशल प्रोसेस, [illegible]

अतएव जो लोग व्यवस्थापित विधान के आदर्श पर नैतिक स्थितियों को परखने के लिए नैतिक विधान की स्थापना करना चाहते हैं उनके सामने यह असमञ्जसपूर्ण बात आती है : कानून विभिन्न हितों को पाने के ढंगों की सीमाएँ निर्धारित करता है किंतु उसे नैतिक समर्थन की जरूरत होती है। यह समर्थन उस सामाजिक हित में ही मिल सकता है जिसको प्राप्त करने के अभिप्राय से ही कानून बनाया जाता है। किंतु पसन्द और अभिरुचि पर आधारित होने से सामाजिक हित की धारणा बदलती रहती है। अतएव हमारे सामने बार-बार यह प्रश्न आता है कि इन बदलती हुई धारणाओं में क्या निरपेक्ष और सार्वभौम नैतिक सिद्धान्त मिल सकते हैं।

क्या स्वयंसिद्ध नैतिक सिद्धान्त होते हैं?

नैतिक स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों पर प्रश्न उठाने का अर्थ यह है कि उनको नैतिक समस्याओं पर लागू किया जा सकता है या नहीं। क्या गणित और तर्कशास्त्र की भाँति नीतिशास्त्र में भी वादविवाद से परे मूलभूत सिद्धान्त हैं? जब ४+३=७ या 'कोई निश्चित वस्तु एक ही समय में दो स्थानों पर नहीं हो सकती' इनके अर्थ पर विचार किया जाता है तो उनकी सत्यता तुरन्त मान ली जाती है। किंतु ४+३=६ की गलती तुरन्त पता चल जाती है। यदि कोई आदमी पहली दो बातों को अस्वीकृत और दूसरी बात को स्वीकृत करता है तो वह उनको किसी और ही अर्थ में ले रहा है जो सामान्य अर्थ से अलग है। क्या समान रूप से अटल सिद्धान्तों पर नैतिक चिंतन किया जा सकता है?

सत्रहवीं शती के दार्शनिक और कवि हेनरी मोर ने इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर दिया था। उसने कुछ ऐसे स्पष्ट और स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों की तालिका बनाई थी जिन पर पक्षपात हीन विचार करना ही उनको मान लेना था और उनमें वादविवाद या निगमन की कोई आवश्यकता नहीं थी।

१. श्रेयस्कर वह है जिसमें कृतज्ञता और सुख होता है, जो प्रत्येक प्राणी के अनुकूल होता है और उसके जीवन का संरक्षण करता है। (पाप की परिभाषा इसके ठीक विरुद्ध दूसरे सिद्धान्त में की गई है)।

५. श्रेयस्कर को अपनाना और पाप से बचना चाहिए; कम श्रेय की अपेक्षा अधिक श्रेय को पसन्द करना चाहिए। बड़े पाप से बचने के लिए छोटे पाप से भी दूर रहना चाहिए।

१३. सब से बड़े और पूर्ण श्रेय के मार्ग पर बड़े उत्साह से बढ़ना चाहिए; कम श्रेय के मार्ग पर बढ़ने का उत्साह भी कम होना चाहिए।

१४. किसी व्यक्ति से हम जिस हित की आशा करते हैं वही उसके प्रति भी करते हैं और वही अन्य लोगों के प्रति भी किया जा सकता है।

१५. जो पाप हम स्वयं नहीं करते उसे दूसरों के प्रति भी नहीं करते और उसे अन्य लोगों के प्रति भी नहीं करेंगे।

१६. भलाई का बदला भलाई से दो, बुराई से नहीं।

१७. मनुष्य के पास अच्छे और सुखी जीवन बिताने के साधन होना श्रेयस्कर है।

१८. यदि सुख के साधन होना एक मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है तो दो मनुष्यों के लिए दुगने, तीन के लिए तिगुने और हजार के लिए हजार गुने श्रेयस्कर हैं।

१६. दूसरों के अभाव और मुश्किलों में रहने से यह अच्छा है कि एक आदमी का भोगविलास पूर्ण जीवन छिन जाए।

२२. हरेक व्यक्ति को उसका अधिकार देना अच्छा और न्यायोचित है। शेर के इन सिद्धान्तों पर दो आलोचनात्मक प्रश्नों के साथ विचार करना चाहिए : क्या हरेक सिद्धान्त सार्वभौम रूप से सत्य है ? क्या ये सिद्धान्त यथार्थ स्थितियों पर ठीक से लागू होते हैं ? अनुभव स्वतंत्र (a priori) विचार प्रणालियों से जिन विभिन्न सिद्धान्तों की खोज की जाती है वे इतने सामान्य होते हैं कि उनकी व्याख्या और उनको लागू करने में बहुत अन्तर पड़ जाता है। संसार के किसी धर्म या नैतिक विचार

ने हर नैतिक समस्या के समाधान के लिए सरल नियम नहीं दिए हैं। नैतिक समस्याओं का समाधान पहले से ही नहीं किया जा सकता; उनकी कठिनता उनकी नवीनता में होती है। नैतिक सिद्धान्त पत्थर की लकीरें नहीं हैं। यद्यपि वे आदर्शात्मक हो सकते हैं किंतु वे मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाए जाने पर ही ठीक से लागू किए जा सकते हैं।

> विज्ञान बन सकने के लिए नैतिकता को विकासशील होना चाहिए, इसलिए नहीं कि मनुष्य समस्त सत्य को नहीं खोज सका है वरन इसलिए कि जीवन परिवर्तनशील है और उस पर पुराने नैतिक मूल्य लागू नहीं किए जा सकते······किंतु नैतिक निर्णयों के प्रयोगवादी (Experimental) होने का यह अर्थ नहीं है कि वे अनिश्चित या अस्थाई होते हैं। सिद्धान्त वे मान्यताएँ होती हैं जिन पर प्रयोग किया जाता है······अतीत में आचार पर इतना प्रयोग हो सकने से ही अनेक सिद्धान्तों का आदर किया जाता है। उनकी उपेक्षा करना मूर्खता है। किंतु सामाजिक स्थिति बदलती है; और इस बदलती स्थिति में ठीक तरह से लागू हो सकने के लिए उन सिद्धान्तों को न बदलना भी मूर्खता है।[1]

२ नैतिक सापेक्षवाद (Ethical Relativism)

नैतिक निरपेक्षवाद का ठीक विरोधी नैतिक सापेक्षवाद है जिसके अनुसार मूल्य अटल न होकर मानवी स्वभाव के साथ साथ बदलते रहते हैं। तुलनात्मक रूप से कुछ मानवी मूल्य अधिक प्रचलित और स्थाई हैं। बच्चों के प्रति माता का प्रेम, अपनी जाति के प्रति सच्चाई और साहसी होना सभी समाजों में मान्य हैं। अपनी जाति के लोगों और मित्रों के प्रति नीचता या छल कपट सभी जगह तिरस्कृत हैं। एक विवाह

---

[1] जॉन ड्यूई, ह्यूमन नेचर एण्ड कॉन्डक्ट, पृ० २३९ (माडर्न लाइब्रेरी)

करना, आदमी का माँस खाना और अपने व्यक्तिगत शत्रु से बदला लेना ये मूल्य विभिन्न समाजों में विभिन्न रूप से स्वीकृत या अस्वीकृत किए जाते हैं। सापेक्षवादी का यह कहना है कि हम किसी समाज के वास्तविक रीति-रिवाज के अध्ययन के आधार पर यही कह सकते हैं कि उस समाज में किसी समय किन मूल्यों को प्रधानता दी जाती थी या माना जाता था। सच्ची परख वास्तविकता में ही है और वास्तविकता बदलती रहती है। यदि किसी का उचित और अनुचित का दृष्टिकोण उसके समाज के दृष्टिकोण से भिन्न है तो वह वैयक्तिक ही माना जायगा और उसका मूल्य या तो उस व्यक्ति तक ही सीमित होगा या उस दृष्टिकोण को समाज द्वारा मान्य करा देने की सफलता में होगा। उचित और अनुचित पर निर्भर हैं; उनकी अपनी कोई सत्यता नहीं है। वे मनुष्य के स्वभाव और परिस्थिति के दबाव के अनुसार बदलते रहते हैं।

नैतिक सापेक्षवाद की प्रधान युक्तियाँ तीन हैं : सामाजिक, मनोविज्ञानीय और भाषार्थ सम्बन्धी। सामाजिक सापेक्षवादी मनुष्य जाति की नैतिक विभिन्नताओं के आधार पर कुछ मूल्यों को दूसरों की अपेक्षा अच्छा समझना गलत ठहराता है। मनोविज्ञानीय सापेक्षवादी के अनुसार मनुष्य का सारा आचरण पहले से ही निर्धारित होता है। मनुष्य अपने जिस मानसिक आचरण से मूल्यांकन करता है वह भी पहले से ही निर्धारित होता है अतएव मूल्यांकन में कोई मूलभूत विषयभाव (objectivity) नहीं होता वरन् मनोभौतिक आचरण की वास्तविकता और उसके संभव कारणों और पूर्वकथनीय परिणामों की व्याख्या ही होती है। भाषार्थपेक्षी सापेक्षवादी (semantic relativist) के अनुसार यथार्थ मूल्यांकन के अतिरिक्त मूल्यों की कोई सत्ता नहीं होती क्योंकि मूल्य बताने वाले वाक्यों का कोई वास्तविक अर्थ नहीं हो सकता।

सापेक्षवाद का सामाजिक आधार

विभिन्न काल और स्थानों की सामाजिक संस्थाओं और नैतिक आदर्शों का तुलनात्मक अध्ययन करने से उनकी विभिन्नता के बारे में कोई सन्दे

नहीं रहता। अँग्रेजी दार्शनिक जॉन लॉक (१६३२-१७०४) ने अपने "मानवी बुद्धि सम्बन्धी निबन्ध" (Essay Concerning Human Understanding) में यह कहा है :

> जो व्यक्ति मनुष्य जाति के इतिहास और अलग-अलग जातियों के आचरण को तटस्थ रूप से देखेगा उसे तुरन्त यह विश्वास हो जायगा कि दूसरों से बिल्कुल विरोधी व्यावहारिक सम्मतियों और जीवन यापन के नियमों (सिवाय उनके जो समाज में एकसूत्रता रखने के लिए नितान्त आवश्यक हैं और जिनकी अक्सर उपेक्षा की जाती है) से संचालित विभिन्न समाजों की अभिरुचि से परे कोई नैतिकता या सद्गुण नहीं है।[1]

लॉक ने यहाँ एक साधारण बात कही है। नैतिक मापदण्डों में भेद होता है, इसे सापेक्षवादी और निरपेक्षवादी दोनों ही मानेंगे। किंतु सापेक्षवादी अपनी युक्ति में इस विभिन्नता का उपयोग और ढग से करता है। वह केवल नैतिक आचार और नियमों के ही अनेक रूप नहीं मानता, यह तो ठीक है ही, किंतु उचित और अनुचित के भी अनेक रूप मानता है। "नियम हर बात को उचित बना सकते हैं।"[2] नियम क्या हैं यदि यह सार्वभौम रूप से न समझा जा सके तो उन नियमों से अनुबद्ध कैसे रहा जा सकता है? क्रूर से क्रूर रीति को और जघन्य से जघन्य बात को किसी न किसी समय स्वीकार किया गया है और पवित्र कर्तव्य समझा गया है। नरमांस खाना, बहुविवाह आदि आज बहुत सी घृणायोग्य बातों के कभी अपने दिन रहे थे; सूद पर कर्ज देना, थियेटर जाना और विजातीय विवाह करना आदि बातें कुछ समाजों में तिरस्कृत होती रही हैं। तो क्या नैतिकता के सारे मापदण्ड किसी विशेष समय

---

[1]—१, ३, १०

[2] जॉन ग्राहम सम्नर, फोकवेज़, परि० १५ वाँ

और स्थान पर स्वीकृत किए जाने वाले रीति रिवाज ही नहीं हैं? क्या उचित और अनुचित की कोई निश्चित कसौटी भी है?

सामाजिक सापेक्षवादियों के विरोध में दो तरह की युक्तियाँ दी गई हैं। पहली युक्ति में समाज की विभिन्नता को एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों का भेद बताया जाता है। फ्रैंक चैपमैन शार्प ने बाह्य और आन्तरिक नैतिकता में भेद करके विभिन्न युगों की जातियों और धार्मिक सम्प्रदायों के नैतिक विवेक की विभिन्नता को "कार्य के परिणामों की विभिन्न धारणा" बताया है जिसका अर्थ "नैतिक दृष्टि की विभिन्नता" नहीं है।

मध्यकालीन सती प्रथा और नास्तिकों को जला देना क्या बुरा था? हम स्वीकारात्मक उत्तर इसलिए देते हैं कि ये दोनों प्रथाएँ हमारी वर्तमान नैतिक धारणाओं के ठीक विरुद्ध पड़ती हैं। किंतु फ्रीडरिख पॉलसन का यह कहना है कि शायद यह प्रथा मध्यकाल के बढ़ते हुए नगरों की नागरिकता को पुष्ट बनाने के लिए अस्थाई आवश्यक साधन रही हो। उनका कहना है कि "सार्वभौम मानवी नैतिकता के नियमों को जीवन के ऐतिहासिक रूपों और शर्तों के अनुरूप बनाकर ही उनसे आचार का निर्णय और आचार को निर्धारित किया जा सकता है।"[1] हम मध्यकालीन नागरिकता की पुष्टि करने वाले सामान्य सिद्धान्त की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं; किंतु यह कैसे उत्पन्न हो और उसको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता कहाँ तक त्यागनी चाहिए इस विषय में हम मध्यकाल से मतभेद रखते हैं। संक्षेप में पहली विरोधी युक्ति यह है कि नैतिक मूल्यों की विभिन्नता गौण और ऊपरी है; नैतिक रीति और प्रथा का भेद नैतिकता के मूलभूत सिद्धान्तों के कारण न होकर प्रचलित परिस्थिति की विभिन्नता के कारण होता है।

यह भी हो, लेकिन लक्ष्यों और उनको प्राप्त करने वाले साधनों के

[1] फ्रीडरिख पॉलसन, ए सिस्टम आफ् एथिक्स, पृ० ११

भेद को, यद्यपि वह बहुत जरूरी है, अधिक आगे नहीं ले जाना चाहिए। ऊपरी तौर से जीवन की उपेक्षा का आधार आत्मा की अमरता में हो सकता है। किंतु इस व्याख्या को सार्वभौम नहीं बनाया जा सकता। यद्यपि पाश्चात्य राष्ट्र दो महायुद्धों के कारण जीवन से उदासीन से हो गए हैं किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका विश्वास किसी पारलौकिक जीवन में बढ़ गया है। नैतिक विश्वास यथातथ्य विषयों की सम्मतियों से प्रभावित अवश्य होते हैं किंतु नैतिक विश्वासों को सम्मतियों तक ही नहीं सीमित किया जा सकता। नैतिक दार्शनिक को नैतिक विश्वासों की उन वास्तविक बातों पर ध्यान देना चाहिए जिनका प्रत्यानयन नहीं हो सकता।

यदि मूलभूत नैतिक विश्वासों के भेदों की सत्ता मान ली जाय तो सापेक्षवाद के आलोचक की युक्ति यह होगी कि "जिस तरह प्राकृतिक विज्ञान की सामग्री इन्द्रिय-अनुभव है उसी प्रकार नीतिशास्त्र की सामग्री शिक्षित और विचारपूर्ण लोगों के नैतिक विश्वास हैं।" जिस तरह प्राकृतिक विज्ञान में कुछ बातों को भ्रमात्मक माना जाता है उसी प्रकार नीतिशास्त्र में भी कुछ भ्रमात्मक सामग्री होती है। प्राकृतिक विज्ञान की बातों को तभी अस्वीकृत किया जाता है जब वे अधिक ठीक इन्द्रिय-अनुभव का विरोध करने लगें; और नैतिक विश्वासों को तब अस्वीकृत किया जाता है जब वे सोचविचार की नींव पर खड़े पुष्ट विचारों का विरोध करते हैं।"[1] अतएव यदि सब लोगों की नैतिक चेतना पर्याप्त विकसित हो तो नैतिक सम्मति में विभिन्नता नहीं हो सकती; नैतिक स्थिति को बौद्धिक रूप से न समझ सकना ही नैतिक विभिन्नता का कारण है। किंतु सापेक्षवादी इसका प्रभावशाली उत्तर देता है :

> पर्याप्त रूप से विकसित नैतिक चेतना का अर्थ क्या है? मेरी समझ में व्यावहारिक दृष्टि से इसका अर्थ लेखक के नैतिक विश्वासों को स्वीकार कर लेना है। लेखक की युक्ति दोष और

---

[1] डब्ल्यू० डी० रॉस, दि राइट एण्ड दि गुड, पृ० ४१

भ्रमपूर्ण है क्योंकि युक्ति में नैतिक निर्णयों को सार्वभौम मान लिया गया है जो वे नहीं होते; साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि युक्ति अपनी मान्यताओं को ही सिद्ध करना चाहती है...सत्य का सार्वभौम होना तथ्यों का सम्पूर्ण ज्ञान रखने वाले सब लोगों द्वारा निर्णयों की सत्यता मान लेने पर निर्भर होता है नैतिक निर्णय सत्य की भाँति सार्वभौम नहीं हो सकते क्योंकि उनके विधेयों (predicates) में गुणों का ही नहीं मात्रा (quantity) का भेद भी होता है। सत्य और झूठ में मात्रा नहीं होती; किंतु अच्छाई और बुराई में मात्रा होती है, सद्गुण या योग्यता कम या अधिक हो सकती है, कर्तव्य कम या अधिक कड़ा हो सकता है...नैतिक अनुमानों का यह मात्रात्मक भेद नैतिक धारणाओं का मूल संचारीभावों (emotions) में होने से होता है।[1]

मनोविज्ञान का सदुपयोग और दुरुपयोग

समाज-शास्त्र से मनोविज्ञान की ओर आने का अर्थ सामाजिक प्रथाओं को छोड़कर मनुष्य को उसके मनोभौतिक रूप में समझना है सारे वर्णनात्मक विज्ञानों में मनोविज्ञान ही नैतिक खोज से ज्यादा सम्बन्धित है और यही आदर्शात्मक विज्ञान नीतिशास्त्र और वर्णनात्मक विज्ञानों का महत्वपूर्ण सम्बन्ध समझा जा सकता है। हर प्रवृत्ति, हर मूल्यांकन और हर निर्णय किसी मनुष्य के मानसिक जीवन की विशेषता होती है। इसलिए उसका वर्णन, अध्ययन और काफी बड़ी सीमा तक उसके प्रत्यावर्तन का पूर्वकथन हो सकता है। संक्षेप में मनुष्य के प्रकट मनोभावों के अतिरिक्त उसकी अप्रकट और आन्तरिक भावनाओं का प्रतिबिम्ब भी उसके मनोभौतिक आचरण में खोजा जा सकता है। मनोविज्ञान में इन्हीं बातों की खोज की जाती है, इन्हीं बातों के संबंध प्रत्यावर्तन की शर्तों के बारे में सामान्य सिद्धान्त बनाए जाते हैं और

[1] एडवर्ड वेस्टमार्क, एथिकल रिलेटिविटी, पृ० ११०-१८ (हार्कोर्ट)

उनको प्रस्तुत करने, उनका संशोधन और उनके निवारण की कार्यविधियों की खोज की जाती है। अतएव मनोविज्ञान नीतिशास्त्र को नैतिक समस्याओं के विशेष पहलुओं पर विचार करने में बड़ी सहायता देता है। मनोविज्ञान मनुष्य की मनोदशा का विश्लेषण कर उसकी नैतिक पसन्द और वरण पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाल सकता है।

वास्तव में नैतिक निर्णयों में मनोविज्ञानीय सोच विचार की बहुत आवश्यकता है। हम एक हत्यारे का सहज तिरस्कार कर देते हैं किन्तु यदि हमें यह पता लग जाय कि वह एक गन्दे वातावरण में पला था, उसका बाप शराब पीकर गाली गलौज करता था और उसकी माँ को मारता था, उसके चारों ओर क्रूरतापूर्ण पाशविक काम होते रहते थे; छोटी उम्र में ही उसे बिना किसी अपराध के जेल भेज दिया गया था, उसके लिए ईमानदारी से जीवन बिताने के सारे रास्ते बन्द कर दिए गए थे और उसे विवश होकर चोर से डाकू बनना पड़ा और अपने बच सकने के लिए उसने हत्या कर डाली तो क्या हम उस पर तरस खाकर उससे सहानुभूति नहीं रक्खेंगे। किसी व्यक्ति का नैतिक निर्णय हत्यारे के इस इतिहास से अवश्य प्रभावित होगा। ज्ञान से अपराध के प्रति तटस्थता उत्पन्न नहीं होती। किसी भी कारण से की गई हत्या में दूसरे का अधिकार छीन लिया जाता है। ज्ञान इस हत्या में हत्यारे के अलावा हमें भी निष्क्रिय भागी बनाता है क्योंकि हमने एक व्यक्ति को हत्यारा बना देने वाली सामाजिक विद्रूपताओं को पनपने दिया था। यदि हम नैतिक ईमानदारी के साथ सोचें तो अपराध की व्याख्या करने वाली बातों के अन्तर्गत हम भी आ जायेंगे, चाहे वैधानिक रूप से न आएँ। यथार्थवादी नैतिक खोज में मनोभौतिक बातों के अलावा अपराध को प्रेरणा देने वाली सामाजिक अवस्थाओं की खोज भी की जाती है।

नैतिक विवेक करने और सिद्धान्त बनाने में मनोविज्ञानीय सामग्री के उपयोग के बारे में चेतावनी के तौर पर दो [illegible] ध्यान रखना चाहिए। इधर हाल में मनोचिकित्सा [illegible] क्षेत्र में

उन्नति होने से मनोविज्ञान का आश्रय बहुत लिया जाने लगा है। अव-चेतन (subconscious) मन के ज्ञान से अपनी स्थूल प्रवृत्तियों में सुधार करने और उनको अच्छे लक्ष्य की ओर लगाने की बजाय मनो-विश्लेषण से केवल दृढ़ संकल्प से ही सम्पन्न हो सकने वाले काम की आशा कर व्यावहारिक भूल की जाती है और हम जैसे हैं उसके लिए मनोविज्ञानीय व्याख्या का बहाना किया जाता है। क्योंकि कुछ स्वाभाविक मनोभावों का दमन करने से मानसिक अस्वस्थता पैदा हो जाती है इसलिए कभी कभी यह तर्क भी दिया जाता है कि हमें अपने मनोभाव को कभी नहीं दबाना चाहिए और जहाँ तक समाज और विधान अनुमति देता है वहाँ तक जीवन अपने मनोभावों के अनुकूल ही बिताना चाहिए। इस मत के कुछ विनाशक परिणामों का वर्णन चौथे अध्याय में किया गया है। यहाँ एक स्वयंसिद्ध सत्य के नाते, जिसके बिना कोई वास्तविक नैतिक वाद विवाद नहीं हो सकता, इतना ही कह देना काफी है कि मानवी आचरण के तथ्य आवश्यक होते हुए भी नैतिक वरण पर दबाव नहीं डालते। सब से बड़ा तथ्य यह है कि मानवी विवेक और प्रयत्न से नवीन तथ्य पैदा हो सकते हैं हम अनेक संभावनाओं में से भविष्य में किसे वास्तविक बनाना चाहते हैं। इस पर विचार करना ही नैतिक समस्या का स्वभाव है।

मानवी आचरण के बारे में मनोविज्ञान को कुछ भी बताता है वह रोचक और महत्वपूर्ण होते हुए भी काफी नहीं है। अन्तर्प्रेरणात्मक (impulsive) जीवन के तत्वों का विभिन्न सीमाओं के अन्दर बोध हो सकना मनोविज्ञान से परे है। अन्तर्प्रेरणा जब चेतन बन जाती है तो वह विज्ञानीय भाषा में अनूदित हो सकने वाला तथ्य नहीं रहती। उसके बारे में पूर्ण सूचना नहीं मिल सकती। रसायन वेत्ता का ज्ञान किसी रासायनिक पदार्थ का स्वभाव नहीं बदल सकता। किंतु जब मनोवैज्ञानिक को अपने अवचेतन मन की दबी बात का पता चल जाता है तो इससे उसकी स्थिति पर असर पड़ सकता है। दबी हुई बात का पता चल जाने से उसकी असलियत बदल जाती है। दबी बात अब आगे किस तरह से अभिव्यक्त

होगी? जो मनुष्य अपने आचरण के आधार पर ही विचार करता है उसके विषय में क्या कहा जा सकता है!

> दरियाई घोड़ा क्या है इसे हम अच्छी तरह से जानते हैं क्योंकि हम उस पर अपनी कल्पना का आरोप नहीं करते। अतएव दरियाई घोड़ा एक निश्चित चीज़ के अलावा और कुछ नहीं होता। किंतु जब हम यह पूछते हैं कि कोई मनुष्य क्या है तो हम यह देखते हैं (यदि नैतिक अन्तर्दृष्टि का प्रयोग किया जाय) कि वह निश्चित चीज़ कभी नहीं होता।
>
> मैं इस बात को यों कह सकता हूँ कि दरियाई घोड़े की अपेक्षा मनुष्य किसी हद तक यह जानता है कि वह क्या है; मनुष्य का अपने आप को जान सकना मनोविज्ञान के अध्ययन का आवश्यक अंग होना चाहिए। क झूठा है; इसमें इतना और जोड़ दीजिए कि क जानता है कि वह झूठा है। अब क क्या है? वह झूठा व्यक्ति क्या है जो यह जानता है कि वह झूठा है? जब वह यह जान लेता है कि वह झूठा है तो उसके बारे में क्या कहा जा सकता है? इस बात को कोई नहीं जानता, विज्ञानीय मनोवैज्ञानिक भी नहीं। और यही नैतिक तथ्य है, यह तथ्य की आवश्यकताओं के एकदम अनुकूल न होने वाला एक अनिश्चित सा तथ्य है।[1]

एक साथ ही तथ्य और मूल्य की अभिव्यक्ति दोनों ही होने से नैतिक तथ्य "एक अनिश्चित सा तथ्य" होता है। विज्ञानीय मनोवैज्ञानिक तथ्य के मूल्य के पहलू की ओर नहीं देखता और वह जिस तथ्य का वर्णन करता है वह अनुभव किए गए नैतिक तथ्य का अनुचयन (abstraction) होता है। यदि हम किसी उपन्यास और मनोविज्ञान की किसी पुस्तक में दिए गए किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व (personality) का तुलनात्मक

अध्ययन करें तो हमें यह पता चल जायगा कि विज्ञानीय मनोविज्ञान यथार्थिक जीवित अनुभव में कितनी दूर है। उपन्यासकार मानव जीवन की अवश्यम्भावी गुत्थियों का अनुभव कर उन्हें कलात्मक रूप में अभि-व्यक्त करने का कौशल जानता है। लोग जिस लक्ष्य को पाने के लिए बढ़ रहे हैं उसमें भी ऐसी ही गुत्थियाँ होती हैं। मनोविज्ञान के सैद्धान्तिक वर्णन और यथार्थ अनुभव की स्मृति में आकाश पाताल का अन्तर होता है।

"हम मनोविज्ञान से उस निपुणता की आशा करते हैं जब हम आदेशानुसार किसी व्यक्ति को जन्म से ही सामाजिक या असामाजिक प्राणी बना सकेंगे"।[1] यह मनोविज्ञान का दावा है और यहाँ नैतिक सापेक्षवाद अपनी भयंकर सीमा तक पहुँच गया है। किसी को आश्चर्य हो सकता है कि ऐसा किसके आदेश पर किया जा सकता है? आचरणवादी (*behaviourists*) मानवी चरित्र को बदलने की इस प्रविधि का पता चलाकर किसी स्वार्थपूर्ण असामाजिक षड्यन्त्र की सेवा कर रहे हैं या सृजनात्मक और सहयोगात्मक सामाजिक जीवन की। मनोवैज्ञानिक मनुष्यों का पुनरानुयोग (*reconditioning*) कैसे करना चाहिए इस प्रश्न की या तो उपेक्षा करते हैं या उस पर पूर्वनिर्णय दे देते हैं। हम मनुष्यों को स्वतंत्र और उत्तरदायी बनाना चाहते हैं या शक्तिशाली लोगों के स्वार्थ की पूर्ति के लिए स्वतः परिचालित मशीन मात्र? यहाँ हम मनोविज्ञान के क्षेत्र से निकलकर नैतिक मूल्यांकन के क्षेत्र में आ जाते हैं। और नैतिक प्रश्नों से बचा नहीं जा सकता चाहे वे *किसी युग में कितने ही* कठिन क्यों न रहे हों।

भाषार्थ का विचार

नैतिक सापेक्षवाद के पक्ष में सबसे प्रबल युक्ति भाषार्थ विश्लेषकों द्वारा दी गई है जिन्हें तर्कपरक भाववादी (logical positivists) नाम

---

1 जॉन बी० वॉटसन, दि वेज़ आव् बिहेवियरिज़्म

से सम्बोधित किया जाता है। तर्कपरक भाववाद में भाषा के अर्थ और प्रतीकों और अर्थ सत्य और असत्य से किस तरह सम्बन्धित होता है इस पर विचार किया जाता है। तर्कपरक भाववादियों के अनुसार सच और झूठ का प्रश्न यथातथ्य बातों के बारे में ही उठाया जा सकता है।' क्योंकि यथातथ्य बातों का ही सार्वजनिक परीक्षण हो सकता है। चूँकि नैतिक निर्णय वास्तविक अर्थ पर बिल्कुल निर्भर नहीं होता इसलिए भाववादियों के तर्क के अनुसार उसमें सच या झूठ की कोई बात नहीं होती। एलफ्रेड आयर का कहना है कि "तुमने रुपया चुराकर अनुचित काम किया" इस वाक्य में केवल यही साधारण बात कही गई है कि "तुमने रुपया चुराया;" इस वाक्य से कहने वाले की नैतिक असहमति ही पता चलती है—मानो किसी ने विचित्र भयभीत स्वर में यह कहा हो कि "तुमने रुपया चुराया!"

आयर के मत का अभिप्राय यह है कि वास्तव में नैतिक प्रश्न होते ही नहीं। नैतिक प्रश्न तब उत्पन्न होता है जब हमें दो वैकल्पिक प्रस्तावनाओं (propositions) में निर्णय करना पड़ता है जो या तो एक दूसरे का विरोध करते हैं या उनमें विरोधी बातें निहित होती हैं। क कहता है "तुमने रुपया चुराकर अनुचित काम किया;" ब कहता है "मैंने रुपया चुरा कर अनुचित काम नहीं किया क्योंकि मुझे उस रुपये की अधिक जरूरत थी;" स्पष्ट है कि क और ब दोनों विरोधी बातें कह रहे हैं। या "रुपया चुराना तो अनुचित है" इस बात को एक तो स्वीकार करता है और दूसरा उससे इनकार करता है, क उसे सत्य मानता है और ब झूठ। क और ब दोनों के सामने एक वास्तविक प्रश्न है; वे दोनों नैतिक सत्य को मानते हैं किन्तु वह नैतिक सत्य है क्या? इसमें उनमें मतभेद है। अब एक तीसरे व्यक्ति स के लिये न्यायोचित ढंग से यह कह सकना सम्भव है: "रुपया चुराना उचित या अनुचित दोनों नहीं है क्योंकि उचित और अनुचित का कोई अर्थ नहीं है; उचित और अनुचित व्यक्ति की विभिन्न अभिरुचियों की सहमति या असहमति ही हैं।" यह युक्ति चातुर्य किसी भी बात में दिखाया जा सकता है। यदि दो वैज्ञानिक किसी वस्तु की सत्ता के

विषय में वाद विवाद कर रहे हो तो एक अतिशय सन्देहवादी उनकी सत्ता में ही सन्देह करके उनके वाद विवाद का खण्डन कर सकता है। आत्म विरोधी न होने से *सन्देहवादी का तर्क मान्य न होते हुए भी युक्तिसंगत* होगा। जिस तरह किसी वस्तु की सत्ता में विश्वास किए बिना वैज्ञानिक कोई बातचीत नहीं कर सकते उसी तरह उचित और अनुचित, श्रेयस्कर और अश्रेयस्कर बातों की सत्ता को माने बिना नैतिक वाद-विवाद नहीं हो सकता।

आयर का कहना है कि 'रुपया चुराना अनुचित है' और 'सहिष्णुता एक गुण है' इन दोनों वाक्यों में हम एक से अपनी सहमति और दूसरे से असहमति ही प्रकट करते हैं। निस्सन्देह उपर्युक्त वाक्यों में हम अपनी नहीं नैतिक भावनाओं को प्रकट करते हैं; और यदि नहीं करते हैं तो हम ईमानदारी नहीं करते। हरेक कथन में कहने वाले की प्रवृत्ति जरूर होती है, चाहे वह सही हो या गलत। कोई बात उसके कहने वाले व्यक्ति से अलग अपनी योग्यता पर भी परखी जा सकती है और यही खोज का ठीक तरीका है। किंतु उसी बात को उसके कहने वाले व्यक्ति की सहमति या असहमति के सम्बन्ध में भी परखा जा सकता है। यह किसी बात को उसकी अपनी योग्यता के अनुसार या उसके कहने वाले व्यक्ति की अभिरुचि के सम्बन्ध में देखने का भेद है। जब किसी बात को व्यक्ति की अभिरुचि के अनुसार देखना ठीक न हो तो भी उसे व्यक्ति की अभिरुचि के अनुसार देखना गलती करना है।

निस्सन्देह कुछ प्रश्नों पर उनकी अपनी योग्यता के अनुसार विचार नहीं किया जा सकता। उन प्रश्नों पर कोई व्यक्ति अपना स्वतंत्र मत या निर्णय भी नहीं कर सकता। विज्ञानीय मामलों की अपेक्षा व्यक्ति की नैतिक मामलों में अधिक स्वतन्त्रता रहती है। किसी क्षेत्र में कोई विवाद एक ओर तो व्यक्ति से हटकर प्रमाणित किया जा सकता है और दूसरी ओर व्यक्ति की अभिरुचि का भी कहीं हाथ होता है किन्तु यह सापेक्ष प्रबलता अलग-अलग प्रश्नों में भिन्न हो सकती है। 'सहिष्णुता अच्छी बात है'

ह नैतिक निर्णय में मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं का बड़ा हाथ हो
ता है, विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त में नहीं। किन्तु चूँकि मनुष्य
नी अभिरुचि के बारे में भी प्रश्न उठाता है और उसकी आलोचना
ता है इसलिए उसकी अभिरुचि को स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता;
ह "मेरी अभिरुचि क्या है?" इसके अतिरिक्त "मेरी अभिरुचियाँ
ी क्या होना चाहिए?" यह भी पूछता है। ये दोनों प्रश्न अन्तर्ग्रथित
, दूसरा प्रश्न पहले प्रश्न से ही पैदा होता है; किन्तु यदि पहले प्रश्न के
ाथ दूसरा न हो तो इसकी उन्नति और विकास रुक जाएगा।

अधिक विश्लेषण करने पर यह भी पता चलता है कि तर्कपरक
ाववादी (logical positivist) का कथन स्वयं विरोधी होता है।
सके अनुसार वही बात सत्य या असत्य होती है जिसकी अनुभव में
रीक्षा की जा सकती है। इस कसौटी पर तर्कपरक भाववादी का कथन
क "केवल यथार्थ बात ही सत्य या असत्य हो सकती है" भी सत्य नहीं
हरता। उसके इस कथन में कोई यथार्थ बात न होकर केवल एक
मान्यता ही है। तर्कपरक भाववादी अनुभव में अपनी इस मान्यता की
रीक्षा नहीं कर सकता। "केवल यथार्थ बात ही सत्य या असत्य हो
सकती है" यह कथन अपना अपवाद स्वयं है और इसलिए यह सार्वभौम
नहीं हो सकता। इस विरोध से बचने के लिए तर्कपरक भाववादी प्रथम
श्रेणी और द्वितीय श्रेणी की प्रस्तावनाओं (propositions) में भेद
करते हैं। जो प्रस्तावना किसी अन्य प्रस्तावना की अपेक्षा करती है वह
द्वितीय श्रेणी की होती है और द्वितीय श्रेणी की प्रस्तावना अपनी अपेक्षा
न कर केवल प्रथम श्रेणी की प्रस्तावनाओं की अपेक्षा ही कर सकती है।
यह विरोध से बचने के लिए एक अन्य (तृतीय श्रेणी की) प्रस्तावना है।
इससे वास्तविक समस्या का समाधान नहीं होता। वास्तविक समस्या तो
अनुभव द्वारा 'केवल यथार्थ बातों के सत्य या असत्य हो सकने की'
परीक्षा की है जिसे तर्कपरक भाववादी स्वीकार भर कर लेता है किंतु सिद्ध
नहीं करता।

नैतिक तटस्थतावाद (Moral Indifferentism)

अतिशय नैतिक सापेक्षवाद से सबसे बड़ा खतरा यह है कि उससे नैतिक तटस्थता और गैरज़िम्मेदारी की प्रवृत्ति पैदा हो सकती है। नैतिक वाद-विवाद में सबसे खतरनाक अर्धसत्य यह कहना है कि "यह तो अपना अपना दृष्टिकोण है।" इससे कौन इनकार कर सकता है कि नैतिक निर्णय अपने अपने दृष्टिकोण से नहीं किए जाते : यदि नहीं किए जाते तो उनका कोई मूल्य नहीं। किंतु "यह आपका दृष्टिकोण" है इस कथन में इस कथन के अलावा और बहुत कुछ भी कहा गया है। इसमें यह भी कहा गया है कि हमारे दृष्टिकोण के अलावा और दृष्टिकोण भी हैं और हमारा दृष्टिकोण उनमें से एक है; कट्टरता और असहिष्णुता से बच सकने के लिए इस कथन का बड़ा नैतिक महत्व है। अपने विरोध पड़ने वाले दूसरों के दृष्टिकोणों के अनुसार उनके कामों का मूल्य और औचित्य जानना शिक्षित व्यक्ति की विशेषता है।

किंतु जो लोग नैतिकता को अपने अपने दृष्टिकोण पर ही निर्भर बताते हैं उनका अभिप्राय कुछ और ही होता है। उनका तात्पर्य यह होता है कि चूँकि विभिन्न दृष्टिकोणों की तुलना व्यक्ति से हटकर नहीं की जा सकती इसलिए नैतिक दृष्टि से किसी दृष्टिकोण में खास भेद नहीं होता। उनका तात्पर्य शायद यह भी होता है कि दृष्टिकोण एक निश्चित चीज़ होती है अतएव वह पदार्थों की तरह उसका भी वर्गीकरण किया जा सकता है और उसकी विशेषताएँ बताई जा सकती हैं। ये दोनों मान्यताएँ पहले अपवाद के निष्कर्षों का विरोध करती हैं। उन निष्कर्षों के बिना किसी नैतिक विवाद में संगति या एकवाक्यता नहीं हो सकती। कुछ दृष्टिकोण अन्य दृष्टिकोणों की अपेक्षा श्रेयस्कर होते हैं और उनका श्रेयस्कर होना विवेकपूर्ण नैतिक अन्तर्दृष्टि पर निर्भर करता है। ये बातें नैतिक लोक की आदि सिद्ध हैं।

यह नहीं भूलना चाहिए कि सहिष्णुता दो तरह की होती है। कुछ सहिष्णु लोग भूलों के प्रति तटस्थ होते हैं। अन्य लोग इस दृष्टि से

सहिष्णु होते हैं कि वे अपने मूल्यों को रखते हुए भी उनके प्रचार के लिए कटु साधनों का इस्तेमाल नहीं करते। पहली तरह की सहिष्णुता में नैतिक वरण नहीं हो सकता और अपने प्रति सहिष्णु होना पाप से सन्धि करना है। दूसरी तरह की सहिष्णुता में अपनी नैतिकता का उत्तरदायित्व माना जाता है किंतु दूसरों का नहीं। दूसरों के प्रति उदार रहो किंतु अपने प्रति कठोर: यह नियम हमें अपने उत्तरदायित्व की याद दिलाता है।

३—कामचलाऊ विचार-प्रणाली की ओर

नैतिक निरपेक्षवाद और नैतिक सापेक्षवाद एकपक्षीय होने से नैतिक खोज में भलीभाँति सहायक नहीं होते। इस पुस्तक में प्रस्तुत दृष्टिकोण को आलोचनात्मक विषयसापेक्षवाद (Critical objectivism) कहा जा सकता है। रीति रिवाज, मनोभाव और स्वार्थ की विभिन्नताओं से परे नैतिक मापदण्डों की सत्ता मानने से प्रस्तुत पुस्तक का दृष्टिकोण विषयसापेक्षी है; हर जगह के नैतिक नियमों को उस जगह के इतिहास का परिणाम मानने से यह दृष्टिकोण आलोचनात्मक है। मानव द्वारा बनाए गए नैतिक नियमों से नैतिक श्रेय और हित के अधिक निकट तक ही पहुँचा जा सकता है। हम प्रजातंत्र को अपूर्ण मानते हुए भी ताना-शाही से अच्छा समझते हैं। हम जानते हैं कि सचाई और उदारता अच्छी चीज़ है किंतु साथ साथ यह भी जानते हैं कि उनका पालन पूरी तौर से नहीं किया जा सकता। नैतिक निर्णय एक ओर बहुत गम्भीर और आवश्यक हैं और मानवी जीवन के योग्यतम मापदण्डों की खोज विचारशील व्यक्ति का सब से महत्त्वपूर्ण काम है। नैतिक निर्णय दूसरी ओर बहुत ही व्यक्तिगत होते हैं। नैतिक निर्णय जब नैतिक विश्वासों की सच्ची अभिव्यक्ति होते हैं तो उनसे व्यक्ति विशेष का जीवन को देखने का ढंग पता चलता है। यद्यपि नीतिशास्त्र का अभिप्राय विषय-सापेक्ष (objective) है किंतु उसमें भौतिक विज्ञानों की भाँति यथार्थता और ध्रुवता नहीं हो सकती। अरस्तू कहता है:

विशिष्ट स्वभाव को बताओ जिससे कोई काम पवित्र कहलाता है। (१)

यूथाइफ्रो—यह तो बहुत आसान है। काम पवित्र तब होते हैं जब वे देवताओं को प्रिय हों, अपवित्र तब होते हैं जब न हों।

सुकरात—पर क्या देवताओं में इन मामलों पर पारस्परिक मतभेद नहीं होता? तुम्हारा काम उदाहरण के लिए ज़ूस को प्रिय हो सकता है और हेरा को अप्रिय। तब वह एक ही साथ पवित्र और अपवित्र दोनों ही होगा। (२)

यूथाइफ्रो—जो भी हो लेकिन मैं यह समझता हूं कि एक हत्यारे का तिरस्कार और उस पर मुकदमा चलाने वाले का समर्थन सभी देवता करेंगे।

सुकरात—क्या इसी से तुम्हारा वर्तमान काम पवित्र हो जाता है?

यूथाइफ्रो—तुम्हारा मतलब क्या है?

सुकरात—मेरा मतलब यह है कि क्या देवताओं के समर्थन मात्र से ही कोई काम पवित्र हो जाता है? क्या हमें देवताओं के समर्थन का कारण नहीं जानना चाहिए? क्या वे किसी काम का समर्थन इसीलिए कर देते हैं कि वह पवित्र होता है? (३)

यूथाइफ्रो—शायद यही हो।

सुकरात—तब तुमने मुझे पवित्रता की मुख्यता के बारे में कुछ नहीं बताया। पवित्र काम देवताओं को प्रिय बताकर तुमने केवल उसकी आनुषंगिक (incidental) विशेषता ही बताई है। (४)

यूथाइफ्रो—यह इसलिए है कि तुम बातों को इधर से उधर घुमाते रहते हो। मैं जानता हूँ कि मेरा तात्पर्य क्या है किंतु मैं उसे कह नहीं सकता। (५)

सुकरात—अच्छा हमें दूसरी तरह से कोशिश करनी है। तुम इसे मानोगे कि पवित्र काम को उचित होना चाहिए किंतु क्या तुम उचित काम को भी पवित्र कहोगे? क्या तुम यह नहीं कहोगे कि पवित्रता में उचित की उचित बातों की गिनती है और इसलिए पवित्रता उचित का ही एक अंश है ! (६)

यूथाइफ्रो—हाँ, यह ठीक मैं कहूँगा।

सुकरात—तो पवित्रता औचित्य का कौन सा अंश है ! उसका भेद करने वाली विशेषताएँ क्या हैं ? (७)

यूथाइफ्रो—मेरी राय में पवित्रता औचित्य का वह अंश है जिसका सम्बन्ध देवताओं के प्रति हमारी सेवाओं का है। उसके अवशिष्ट अंश का सम्बन्ध मनुष्यों के प्रति हमारी सेवाओं से है।

सुकरात—देवताओं की सेवा क्या है? उनका सुधार करना?

यूथाइफ्रो—नहीं तो।

सुकरात—तब क्या ! देवताओं की सेवा करने से क्या परिणाम होता है?

यूथाइफ्रो—बहुत अच्छे परिणाम होते हैं, सुकरात।

सुकरात—निस्सन्देह। किसानों के काम के भी बहुत अच्छे परिणाम होते हैं किंतु उनके काम का मुख्य परिणाम धरती से अन्न उगाना है। इसी तरह से यह बताओ कि देवता हम से क्या करवाते हैं।

यूथाइफ्रो—मेरे ख्याल से उन्हें हमारी सेवाओं से सुख और सन्तोष मिलता है।

सुकरात—अब देखो कि तुम्हारी बातचीत में कितनी पुनरुक्ति है। तुम पवित्रता की व्याख्या फिर देवताओं के सन्तोष से कर रहे हो। इस परिभाषा को हमने पहले ही अस्वीकृत कर

दिया था। देवताओं का सन्तोष
मूल रूप नहीं। (८)

इस वार्तालाप में सुकरात नैतिक विचार
बातों को सामने लाता है। वे आठ हैं : (१)
प्रयोग किया जाता है तो उसका अर्थ भी स
(Form) का निर्देश करता है। स्पष्ट नैतिक चिं
है कि जहाँ तक हो सके 'रूप' की परिभाषा क
शब्द के कुछ ऐसे उदाहरणों को दे देना, जिन
पर्याप्त नहीं है। यूथाइफ्रो यही करता है : हमें य
कि ये उदाहरण किस प्रकार से समान हैं। (२) यू
बात के आधार पर 'पवित्रता' की परिभाषा देने की
यथातथ बात के आधार पर नैतिक धारणा की परिभा
यथातथ बातें दो अर्थवाली होती हैं और उनसे किसी
को पुष्टि की जा सकती है। उनसे किसी काम को प
दोनों ही ठहराया जा सकता है। (३) यदि देवताओं
किसी काम के उचित होने का मापदंड है तो यह इसलिए
को अच्छा मान लिया जाता है। इससे यह नतीजा निकल
अच्छे काम के अलावा और किसी काम से सन्तुष्ट नहीं
(४) किसी काम की अच्छाई देवताओं के सन्तोष से अ
हो जाती है। (५) अब यूथाइफ्रो को यह पता चलता है कि
कह रहा है उसके बारे में वह स्पष्ट नहीं है क्योंकि वह अ
शब्द जाल में ही पड़ा हुआ था। सुकरात उसको एक नई दि
है : (६) पवित्रता की परिभाषा के लिए सबसे पहले पवि
(genus) का पता लगाना आवश्यक है जो "औचित्य" है। र
जाति का सम्बन्ध असमान होता है : पवित्र काम उचित जरूर
उचित काम पवित्र नहीं भी हो है। जाति
(७) शब्द की विवेचना

की जगह देवताओं को प्रिय होने की ही बात करता है जिसे पहले ही अस्वीकृत किया जा चुका था। अतएव उसकी युक्ति में चक्रक दोष है।

अपने पहले की निश्चितता के होते हुए भी और अपने काम को नैतिक समझते हुए भी यूथाइफ्रो को अपनी बात का कोई स्पष्ट प्रत्यय नहीं था। सुकरात के अनुसार भ्रामक और अस्पष्ट बातों से छुटकारा पाना ही दार्शनिक खोज का पहला कदम है। "क्या मेरी बात सही है?" इसके पहले यह प्रश्न उठाना चाहिए कि "क्या मैं जानता हूँ कि मेरा अभिप्राय क्या है?" एक उलझी हुई बात न तो स्पष्ट रूप से सत्य ही होती है और न असत्य।

द्वंद्वात्मक तर्क (Dialectics)

वाद विवाद के विषय के अर्थ को जानने की प्रविधि द्वंद्वात्मक तर्क कहलाती है। अनुभव निरपेक्ष निगमनात्मक प्रणाली और वर्णनात्मक आगमन प्रणाली के विपरीत द्वंद्वात्मक तर्क बातों को स्पष्ट करता है। यद्यपि द्वंद्वात्मक तर्क में निगमन और आगमन (inductive and deductive) प्रविधि को आनुषंगिक तौर से प्रयुक्त किया जाता है किंतु बात की सत्यता जानने के लिए उनमें से किसी का आश्रय नहीं लिया जाता। निगमन और आगमन प्रणाली के विपरीत द्वंद्वात्मक तर्क में जटिल, सीमित और अस्पष्ट स्थिति से सापेक्षतः स्पष्ट और सुबोध स्थिति की ओर जाया जाता है।

द्वंद्वात्मक तर्क में बात चीत द्वारा सत्य को खोजने की कोशिश की जाती है। अतएव द्वंद्वात्मक तर्क प्रधानतः सामाजिक हैं और उसमें दो या दो से अधिक भाग लेने वाले होते हैं। मनसवार्तालाप में भी दो पक्ष होते हैं। जब हम मन ही मन में किसी बात को सोचते हैं तो लगता है मानो हमारे भीतर दो व्यक्ति बातचीत कर रहे हों। द्वंद्वात्मक तर्क का एक पहलू दो विरोधी दृष्टिकोणों में सहमति ढूंढना है। हम अपने मन में साधन के बारे में भेद रख सकते हैं किंतु शायद साध्य के बारे में नहीं।

चूँकि द्वंद्वात्मक तर्क का मुख्य उद्देश्य सहमति न ढूँढकर स्पष्टीकरण

जब वरण की आवश्यकता आने पर उसे बुद्धिमूलक रूप से पसन्द किया जाता है। हेय हित वे होते हैं जिनका तिरस्कार कर श्रेष्ठ हित की ओर बढ़ा जाता है। शराब पीना शराबियों के लिए मूलभूत हित होते हुए भी वचन निभाने से हेय है। इसलिए ऐसे अवसरों पर जबकि दोनों में असंगति हो तो शराब को छोड़ देना कर्तव्य हो जाता है।

परम हित क्या है? इस प्रश्न की व्याख्या यों की जा सकती है : क्या कोई ऐसा भी हित है जिसके लिए हम हरेक अवसर पर अन्य हितों को छोड़ सकते हैं? अरस्तू ने ऐसे परम हित को 'आत्मा की स्वस्थता' बताया था। किंतु हरेक व्यक्ति इसका अर्थ अलग अलग लगाएगा : कुछ लोग इसका अर्थ सुखानुभूति, कुछ लोग राजनीतिक, सैनिक या व्यापारिक सफलता और अन्य लोग (अरस्तू स्वयं) दार्शनिक चिंतन और मनन समझेंगे। सब लोग किसी एक हित को परम नहीं मान सकते जब तक कि उस हित को (अरस्तू के 'आत्मा की स्वस्थता' की भाँति) विस्तृत अर्थ न दिया जाय या उसका इतना अस्पष्ट अर्थ दिया जाय (जैसे उपयोगितावादियों का 'सुख') जो भ्रामक हो। कोई व्यक्ति किसी विशेष हित को अपने आधार के लिए सर्वोत्तम मान सकता है। नैतिक आदर्श को एकरूपता के साथ निभाने वाले लोग कम ही हैं, किंतु हर व्यक्ति की प्रधान नैतिक प्रवृत्ति एक दिशा की ओर ही होती है।

अगले पाँच अध्यायों में मनुष्यों में पाई जाने वाली इन्हीं प्रधान नैतिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया गया है। उनमें से हरेक में कुछ न कुछ सत्य है, किंतु वही पूर्ण सत्य नहीं है। अतएव आलोचनात्मक पाठक को उनमें से किसी एक को पूर्णरूप से स्वीकार या अस्वीकार नहीं करना चाहिए। उसे अपना निर्णय इस बात से करना चाहिए कि वे सिद्धान्त मानवी अनुभव की व्याख्या किस तरह करते हैं और उनके आदर्शों की क्या महत्ता है।

३

सुख का अनुसरण

जो नैतिक दर्शन मनुष्य का परम हित सुख का अत्यधिक उपभोग करने में मानता है उसे सुखवाद (hedonism) कहते हैं। 'सुख' शब्द की अस्पष्टता के कारण जिन विचारकों ने सुखवाद का प्रतिपादन किया है उनके सिद्धान्तों में बहुत कम समानता है। किन्तु इस विभिन्नता के होते हुए भी उनके अर्थों में एकसूत्रता है। सुख, चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, एक अनुभूति है; अतएव सारा सुखवाद नैतिक मूल्य को अनुभूति में ही मानता है। हमारा काम, इरादा और नीयत नैतिक दृष्टि से यहीं तक श्रेयस्कर है जहाँ तक उससे एक विशेष प्रकार की अनुभूति पैदा होती है और उसकी विरोधी अनुभूति नष्ट होती है। यदि हमारे कामों का हमारी अनुभूति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो वे नैतिक दृष्टि से तटस्थ होते हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल को छोड़कर और सब सुखवादी मूल्यों को मात्रात्मक (quantitative) भी मानते हैं। उनके अनुसार सुख और दुख में कम और ज्यादा का सम्बन्ध है। उनकी किसी काम की नैतिक मूल्य की परख यह है कि वह कितना अधिक सुख और कितना कम दुख पैदा करता है। इन दो बातों के अलावा सुखवाद के सिद्धान्तों में बहुत विभिन्नता है। सबसे प्रमुख विभिन्नता इस प्रश्न पर है कि नैतिक मूल्य को निर्धारित करने वाले सुखों और दुखों की अनुभूति कौन करता है। स्वहित सुखवादी (egoistic hedonist) अपने दुख सुख की ही चिंता करता है और शायद उन लोगों के सुख दुख की भी चिंता करता हो जिनकी भावनाओं का उस पर असर पड़ता हो। सार्वभौम सुखवाद (Universalistic hedonism), या उपयो-

मितावाद (Utiliturianism) दो बराबर मात्रा वाले सुखों और दुखों का मूल्य बराबर मानता है चाहे उनकी अनुभूति किसी को भी क्यों न हो।

स्वहितवादी सुखवाद (Egoistic Hedonism)

स्वहितवाद (egoism) व्यक्ति के अपने हित को ही श्रेयस्कर और उसके लाभ के लिए किए गए काम को ही महत्वपूर्ण समझता है। स्वहितवाद के अनुसार यदि दूसरों के हित हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डालते तो हमें उनसे कोई मतलब नहीं है और उनके प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं है। कभी कभी समाज या दूसरे लोगों के हित में ही हमारा हित होता है। किन्तु अनेक अवसरों पर हमारे और उनके हितों में विरोध होता है और यद्यपि कभी कभी समझौता किया जा सकता है तथापि पारस्परिक हितों को चोट पहुँचाए बिना कोई समझौता नहीं हो पाता; इसे चाहे तो मानवी बुद्धि की दुर्बलता कहिए चाहे विकार। स्वहितवादी के अनुसार हमारा कर्तव्य अपने ही प्रति है चाहे उससे दूसरों को कितनी ही क्षति क्यों न हो; और यदि स्वहितवादी सुखवादी हो तो वह अपने इस कर्तव्य की परिभाषा सुख के अनुसार करता है।

मानवी मनोवृत्ति के साथ अत्यधिक सुख देने वाले काम, वस्तुएँ और स्थितियाँ भी बदलती रहती हैं। कुछ लोगों के लिए सुख अत्यधिक उपभोग में ही होता है और कुछ लोगों के लिए कष्ट और दुख से बचने में। पहले लोगों के लिए सुख का अर्थ उत्तेजना है, दूसरे लोगों के लिए सुख मानसिक शान्ति में है। यह भेद नीति शास्त्र के इतिहास में दो यूनानी दार्शनिकों एरिस्टीपस (४३५-३५० ई० पूर्व) और एपीक्यूरस (३४१-२७० ई० पूर्व) के समय से चला आ रहा है। एरिस्टीपस एक विचित्र सुखासक्त था। इतिहासकार डायोजिनीज़ का कहना है कि "एरिस्टीपस अपने को हर देश, काल, व्यक्ति के अनुसार बना लेता था और अपने अभिनय को हर परिस्थिति में खूब निभाता था······वह वर्तमान वस्तुओं से सुख पाता था और भविष्य की चिन्ता नहीं करता था।" वह भोग विलास के लिए चापलूसी तक करने से नहीं चूकता

था। एक बार वह सेराक्यूज के राजा डायोनीसियस के दरबार में अतिथि होकर गया। वहाँ राजा की कृपा चाहने के लिए भद्दे तरीके से साष्टांग दण्डवत् करने के लिए जब उसे धिक्कारा गया तो उसने शांतिपूर्वक जवाब दिया, "इसमें मेरा नहीं डायोनीसियस का ही दोष है क्योंकि उसके कान उसके पैर में हैं।" वह साइरीन नगर में रहता था इसलिए उसके सुखवादी जीवन-दर्शन को साइरीनवाद (Cyrenaicism) कहा जाता है। उसके सिद्धान्त की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं : (१) हमारा उद्देश्य एक सामान्य सुखमय जीवन न होकर अत्यधिक सुखों को पा सकना ही होना चाहिए; (२) तीव्रतम सुख ही श्रेयस्कर है और उनको दुख और अपमान सहकर भी पाना चाहिए। सुख और दुख के उद्दीपन से रहित जीवन स्वप्न रहित नींद की भाँति ही फीका है; (३) सुख तभी अच्छी तरह प्राप्त हो सकते हैं जब किसी में स्थिति पर पूरा काबू पाने का साहस और बुद्धि हो। अन्तिम बात की गूढ़ अभिव्यक्ति एरिस्टीपस द्वारा अपनी सुन्दर प्रेमिका के सम्बन्ध में कही गई इस उक्ति में मिलती है, "उस पर मेरा अधिकार है, मैं उससे अधिकृत नहीं हूँ।"

इसी तरह का सिद्धान्त एथेन्स के एक कैलीक्लीज नामक व्यक्ति में मिलता है। प्लेटो ने उसको यों कहते हुए उद्धृत किया है : "उचित तरह से रहने के लिए मनुष्य को अपनी इच्छाएँ जहाँ तक सम्भव हो खूब बढ़ा लेनी चाहिए और उनको रोकना नहीं चाहिए। जब वे अपनी ऊँचाई पर हों तो उसमें उनको पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर सकने का साहस और बुद्धि होनी चाहिए और जब कभी कोई नई इच्छा पैदा हो तो उसे भी सन्तुष्ट करना चाहिए।" उसके अनुसार सुखी जीवन इच्छाओं को शांत करने से नहीं मिलता वरन् अत्यधिक सुखमय अनुभूति से मिलता है।[१]

एपीक्यूरस डर, दुख और इच्छाओं से स्वतंत्र होने पर मिलने वाले

---

[१] प्लेटो, गॉर्जियास

मनः प्रसाद को मनुष्य का परम हित मानता है। उसके दर्शन को एपीक्यूरसवाद कहते हैं किंतु इस शब्द का बहुत कुप्रयोग किया गया है और उसे जीवन के किसी भी सुखवादी आदर्श पर लागू कर दिया जाता है। एपीक्यूरस को सुखवादी मानना चाहिए क्योंकि उसके अनुसार "हरेक सुख स्वाभाविक होने से हमारे लिए श्रेयस्कर है।" एपीक्यूरस सुखों को बुरा नहीं मानता किंतु वह उनमें भेद करता है। सब सुखों की लालसा ठीक नहीं है क्योंकि "कुछ सुखों को उत्पन्न करने वाले साधन उन सुखों से कई गुना ज्यादा दुख ही लाते हैं।" अत्यधिक भोग विलास और हर प्रकार के सुख के उपभोग से मानसिक थकान और रोग हो जाते हैं। एपीक्यूरस कहता है कि हमें साधारण भोजन करना चाहिए। साधारण भोजन से स्वास्थ्य अच्छा रहता है और सुखों की अनुभूति टिकाऊ बनी रहती है।

> सुखी जीवन भोग विलास, आमोद-प्रमोद, खाने पीने से ही नहीं मिलता वरन् गम्भीर चिंतन, वरण करने के उद्देश्यों को ढूँढने आदि से मिलता है।[1]

एपीक्यूरसीय दर्शन का लक्ष्य सम्मतियों पर ध्यान न देकर वरण करने के सही उद्देश्यों को खोजना ही है और एपीक्यूरस के लिए अच्छा आदमी दार्शनिक ही बन सकता है। दर्शन अपने आप में अच्छा नहीं है किंतु यदि उसका अध्ययन ठीक से किया जाय तो उससे जीवन शांतिमय बनता है। इस तरह अत्यधिक विलास से उत्पन्न होने वाले क्लेशों और निराधार डरों से उत्पन्न होने वाली मानसिक अशांति को दूर किया जा सकता है। मौत का डर लोगों को बहुत परेशान करता है। दर्शन इस एपीक्यूरसीय आदर्श को सिद्ध करता है कि मौत से डरने का कोई कारण नहीं है।

---

[1] एपीक्यूरस, दि एक्सटैंट रिमेन्स, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२६

इस विश्वास को पक्का कर लेना चाहिए कि मौत हमारे लिए कुछ नहीं है। अच्छा और बुरा तो अनुभूति में ही होता है और मौत में अनुभूति नहीं रहती। मौत हमारे लिए कुछ नहीं है इसको ठीक तरह से समझ लेने पर जीवन सुखमय बन [illegible] हमारे मन से अमरता की लालसा

सुखवाद का 'प्रमाण' (The 'Proof' of Hedonism)

अपने सिद्धान्त की सत्यता के लिए सुखवादी मुख्य युक्ति यह देते हैं कि मनुष्यों के काम को संचालित करने और कर सकने वाला उद्देश्य सुख ही है। हरेक काम अपने लिए अत्यधिक सुख और न्यूनतम दुख पाने की नीयत से किया जाता है। सुख की इच्छा ही मनुष्यों के कामों का संचालन करती है। इस सिद्धान्त को मनोविज्ञानीय सुखवाद कहा जाता है। नैतिक सुखवाद में सुख को एक आदर्श माना जाता है जिसको पाने के लिए काम करना चाहिए। सुखवाद के ये दोनों पहलू बेन्थम के इन शब्दों से अभिव्यक्त हैं :

> प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुख के संचालन में रखखा है। यही यह बताते हैं कि हमें क्या करना चाहिए और हम जो कुछ करते हैं वह उन्हीं से निर्धारित होता है। उचित और अनुचित का मापदंड और कार्य-कारण की शृंखला उन्हीं पर आधारित है।

मनोविज्ञानीय सुखवाद बहुत से लोगों को पहली नजर में ठीक सा जँचता है। इसमें कोई शक नहीं कि हरेक व्यक्ति सुख दुख के वश में होता है। दूसरे सुख दुख और उनको ग्रहण करने के तरीके इतने हैं कि यदि कोई आदमी किसी सुख को छोड़ दे या दुख सहने लगे तो यह विश्वास किया जा सकता है कि ऐसा उसने किसी और बड़े सुख को पाने या दुख से बचने के लिए किया होगा। यह शल्य चिकित्सा आदि के उदाहरणों से स्पष्ट है। सुखवादी नीति को वहाँ भी देखा जा सकता है जहाँ उसका प्रमाण कम निश्चित होता है। जो लोग अपनी न्यायप्रियता का बहुत गुणगान करते हैं वे अक्सर अपने स्वार्थपूर्ण गुप्त उद्देश्यों पर पर्दा ही डालते हैं। इसी दिखावे से खिन्न होकर बर्नार्ड मैंडेविल (१६७०-१७३३) ने यह कहा था :

> किसी डूबते हुए भोले भाले शिशु को बचाने में कोई विशेषता नहीं है। उसको बचाना न तो उचित है और न अनु-

> चित। बचाए जाने से बच्चे को कोई भी फायदा क्यों न हो किंतु हम अपने प्रति आभारी बन जाते हैं। शिशु को डूबना देखकर उसे बचाने की चेष्टा न करने से हमें दुख होता; अतएव हमारी आत्मसंरक्षण की भावना ने हमें शिशु को बचाने पर बाध्य किया।[1]

यदि मनोविज्ञानीय सुखवाद सार्वभौम रूप से सत्य है तो सुखवादियों का कहना है कि नैतिक सुखवाद आवश्यक है। यदि मनुष्य सदा सुख दुख से ही परिचालित होते हैं तो किसी और नैतिक लक्ष्य को मानना हास्यास्पद है। इसके लिए जॉन स्टुअर्ट मिल ने यह युक्ति दी है: "किसी चीज़ के दिखाई पड़ने का प्रमाण यही है कि लोग उसे देखते हैं। इसी तरह किसी वस्तु के अभीष्ट होने का प्रमाण यही है कि लोग वाकई उसे चाहते हैं।" अतएव सुख को अभीष्ट अर्थात् श्रेयस्कर होना चाहिए क्योंकि सब लोग सुख चाहते हैं। और चूँकि सब लोग सदा अधिक से अधिक सुख की कामना रखते हैं इसलिए अधिक सुख अधिक श्रेयस्कर होता है। अतएव हमारा सर्वोच्च नैतिक लक्ष्य अपनी शक्ति के अनुसार अत्यधिक सुख पाने का प्रयत्न होना चाहिए।

२. उपयोगितावाद (*Utilitarianism*)

उपयोगितावाद अपनी मूलभूत धारणाओं में सुखवाद ही का एक रूप है, भेद केवल इतना ही है कि उपयोगितावाद का लक्ष्य किसी एक व्यक्ति का सुख न होकर अधिक से अधिक लोगों का सुख है। इसलिए इसे सार्वभौम सुखवाद कहा जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से सुखवाद के दोनों रूपों, स्वहितवादी और सार्वभौम, में बड़ी विभिन्नता है। उपयोगितावादी सम्प्रदाय के नेता जेरमी बेन्थम (१७४८-१८४२) और जॉन स्टुअर्ट मिल

---

[1] ऐन एन्क्वायरी इनटू दि ऑरिजिन आव् मॉरल वैल्यू (ऑक्सफ़ोर्ड, दि क्लैरेन्डन प्रेस)

(१८०६-१८७३) अपने समय के प्रसिद्ध समाज सुधारक थे। एपीक्यूरस शायद उनके इस काम को पसन्द नहीं करता। उपयोगितावाद का सुखवादी पहलू दो अर्थों में आवश्यक है। बेन्थम और मिल मनोविज्ञान को मानवी उद्देश्यों का सच्चा विवरण और इसलिए सामाजिक कर्तव्यों का अनिवार्य आधार मानते हैं। दूसरी ओर उनका नैतिक आदर्श मानववादी होते हुए भी मानवतावाद के धार्मिक, सन्यासिक आदि रूपों का विरोधी है और उनके विपरीत सामाजिक आदर्श का प्रतिपादन सुखवादी ढंग से करता है।

बेन्थम ने अपने उपयोगितावादी नीति शास्त्र का प्रतिपादन मनोविज्ञानीय सुखवाद के एक अत्यन्त उग्र रूप के आधार पर किया है जिसे वह आत्मवरीयता (self preference) का सिद्धान्त कहता है। वह अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन यों करता है :

> प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से इस तरह काम करता है कि उसे उस काम से अत्यधिक सुख मिल सके चाहे उस काम का असर दूसरों के सुख पर कैसा ही क्यों न हो।[1]

डेविड ह्यूम (१७११-१७७६) ने अपनी पुस्तक "इनक्वायरी कंसर्निंग दि प्रिंसिपिल्स आव् मारल्स" में सुखवाद द्वारा किये गये मानवी उद्देश्यों के इतने अतिशय साधारणीकरण के विरुद्ध चेतावनी दी है। उसके अनुसार मनुष्य में सामाजिक और सहानुभूति की भावनाओं के साथ-साथ स्वार्थ भी होता है और उनमें कोई विरोध नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य स्वार्थ और आकांक्षा या स्वार्थ और प्रतिशोध की भावना से काम कर सकता है उसी प्रकार वह स्वार्थ और उदारता से भी काम कर सकता है। किंतु बेन्थम के मनोविज्ञान में इस बात को नहीं माना गया है। "मनुष्य अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए सार्वजनिक हित की कीमत पर जो भी जघन्य काम कर सकता है उसे वह अवश्य करेगा यदि ऐसा करने न दिया जाय।"

---

1 जेरमी बेन्थम, वर्क्स, जि० ६, पृ० ५

मानवी स्वभाव को इतना कठोर मानने के कारण बेन्थम सहानुभूति के सिद्धान्त पर आधारित ह्यूम और आदम स्मिथ के मतों पर सन्देह करता था। सहानुभूति को मानने से व्यक्ति की निजी अभिरुचि ही कसौटी बन जाती है और उसमें कोई नैतिक सिद्धान्त नहीं मिल सकता। "सिद्धान्त से आन्तरिक भावनाओं का संचालन करने वाले किसी बाह्य साधन का पता चलने की आशा की जाती है। यदि आन्तरिक भावनाओं को ही आधार और मापदण्ड मान लिया जाए तो यह आशा पूरी नहीं होती।"[1] न्याय शास्त्र (Jurisprudence) में रुचि रखने से बेन्थम कोई कठोर नियम, कोई व्यापक और सार्वभौम कसौटी चाहता था और समझता था कि वह कसौटी उसने आत्म-वरीयता के सिद्धान्त में पा ली है।

मात्रात्मक सिद्धान्त (The Quantitative Principle)

बेन्थम के मत की दूसरी आवश्यक बात यह है कि वह दो सुखों या दुखों में परिमाण-भेद मानता है।

मात्रा-भेद में वर्णित हो सकने पर गुण-भेदों (Differences of quality) की उपेक्षा की जा सकती है। विज्ञान में विभिन्न रंग, गन्ध, आवाज और वजन का भेद नापा जा सकता है और उनके भेद मात्रात्मक सम्बन्धों में वर्णित किया जा सकता है। विज्ञान के अनुसार जगत के हर पदार्थ को उसके मात्रात्मक भेद के रूप में समझा जा सकता है। क्या नीतिशास्त्र में भी इसी तरह की प्रणाली अपनाई जा सकती है? क्या सुखों और दुखों को नापने का मापदण्ड मिल सकता है?

मिल सकता है, और यह समझ कर बेन्थम ने मात्रात्मक भेदों के रूप में सुखों और दुखों को नाप सकने के लिए एक 'सुखवादी-अनुगणन विधि' (hedonistic calculus) बनाई। इस अनुगणन विधि के अनुसार किसी काम का नैतिक मूल्य (१) सुखों और दुखों की तीव्रता, (२) उनके कार्यकाल (duration), (३) उनकी पूर्वकथनीयता की

---

१ वही पृ० ११६ और क्रि० १, पृ० ६

उपरयता (probability) की मात्रा, (४) उनकी क्षिप्रता (promptitude), (५) उनकी प्रभावोत्पादकता (fecundity) अर्थात् किसी सुख या दुख के बाद दूसरे सुखों या दुखों का प्रकट होना, (६) उनकी शुद्धता अर्थात् किसी सुख के बाद दुख या दुख के बाद सुख का न आना और (७) उनके सामाजिक क्षेत्र अर्थात् उनका असर कितने लोगों पर पड़ता है इन बातों पर निर्भर करता है। यह अनुगणन-विधि किसी काम की नैतिकता पर विषयगत (objective) विचार करना संभव कर देती है। किसी काम से उत्पन्न होने वाले सारे सुखों की सूची बनाना चाहिए; फिर सातों दृष्टिकोणों से हर सुख का मूल्य निर्धारित करना चाहिए और फिर सब मूल्यों को जोड़ देना चाहिए। यही दुखों के साथ भी करना चाहिए। फिर दुखों को सुखों में से घटाना चाहिए। अब यदि नतीजा भावात्मक निकले तो वह काम नैतिक दृष्टि से श्रेयस्कर है और उसे करना चाहिए। यदि नतीजा अभावात्मक (negative) निकले तो काम नैतिक दृष्टि से बुरा है और उसे नहीं करना चाहिए।

सामाजिक नैतिकता की अनुज्ञप्ति

अब बेन्थम के मत के तीसरे पहलू सामूहिकतावाद (collectivism) का विवेचन करना रह जाता है। मनुष्य को स्वभावतः अपने ही सुख की पड़ी रहती है किंतु फिर भी नैतिक आदर्श को अत्यधिक लोगों का अत्यधिक सुख ही मानना चाहिए। हम सदा अपने ही सुख के उद्देश्य से काम करते हैं किंतु हमारे काम का नैतिक मूल्यांकन सामान्य सुख की वृद्धि के मापदंड से करना चाहिए। उद्देश्य और मापदंड के इस विरोध को कैसे मिटाया जा सकता है ?

इस विरोध को यों मिटाने की चेष्टा की गई है : काम की नैतिकता उस काम को कराने वाले उद्देश्य में न होकर उसके सामाजिक परिणाम में होती है। यह बात तो अभी अभी प्रतिपादित सिद्धान्तों से अनुसरित होती लगती है क्योंकि यदि किसी काम को करने का उद्देश्य केवल अत्यधिक सुख प्राप्त करना ही हो तो उद्देश्यों में एक दूसरे से कोई भेद

नहीं हो सकता। अपने सुख की इच्छा अनेक रूप ले सकती है और
बार के अनुभव से यह पता लगाया जा सकता है कि किन उद्देश्यों
परिणाम सुखमय होता है और किनका दुखमय। ख्याति की इच्छा, मै
की आकांक्षा, दूसरों की सहायता करने की कामना स्वार्थमय होते हुए भ
सामाजिक दृष्टि से सुखमय परिणामों को पैदा करती हैं और इसलिए उन्हें
श्रेयस्कर कहा जा सकता है। क्रोध, ईर्ष्या और प्रतिशोध से सामाजिक
दुख बढ़ते हैं इसलिए उन्हें बुरा कहा जा सकता है। आत्मसंरक्षण,
शारीरिक इच्छाओं, आर्थिक लाभ आदि अन्य उद्देश्यों के सुखमय और
दुखमय परिणामों में एक संतुलन सा होता है इसलिए उन्हें तटस्थ
उद्देश्य कहा जा सकता है। यहाँ उद्देश्य अपने आप में अच्छा या बुरा
नहीं होता वरन उसके परिणामों के अनुसार ही उसे अच्छा या बुरा क
जाता है। नैतिक-अनुगणन विधि के अनुसार "पाप सुखों और दुखों
गलत मूल्यांकन है, वह गलत नैतिक गणित है।" पुण्य सही नैति
गणित है। मिल का एक उदाहरण लीजिए :

डूबने को बचाना नैतिक दृष्टि से उचित है चाहे उद्देश्य
कर्तव्य रहा हो या पुरस्कार मिलने की भावना; अपने मित्र के
साथ विश्वासघात करना बुरा है चाहे वह दूसरे मित्र को बड़ी से
बड़ी कृतज्ञता चुकाने के उद्देश्य से ही क्यों न किया गया हो।[1]

बेन्थम इस स्थिति की व्याख्या यों करेगा : विश्वासघाती ने —
[मित्र] के सुख ही जोड़े और अपने पहले मित्र के दुखों को जो
[दूसरे] मित्र के सुखों से घटाकर पहले मित्र के अधिक दुख को नहीं दे
[इसलिए] उसका नैतिक गणित गलत हो गया और उसका काम
[बुरा हो गया]।

[हर] काम की नैतिकता का निर्णय उसके वास्तविक परिणाम से न क
[उसके परिणामों] की संभावनाओं से भी करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति नदी में डूब

---

[1] जॉन स्टुअर्ट मिल, यूटिलिटेरियनिज़्म, अधि० २

कर किसी डूबते हुए को बचाना चाहे किंतु प्रवाह के कारण बचा न सके तो भी उसका काम प्रशंसनीय होगा क्योंकि यदि वह डूबते व्यक्ति को बचाने में सफल होता तो उससे मानवी सुख की वृद्धि होती। इसी प्रकार यदि कोई विश्वासघात करना चाहे किंतु सफल न हो सके तो भी उसका काम निन्द्य है। बेन्थम के लिए उद्देश्य और काम का भेद उतना महत्व-पूर्ण नहीं है जितना कि उद्देश्य और नीयत या इरादे का। अपने मित्र को कर्ज देने का इरादा उसे आर्थिक कष्टों से मुक्त होकर सुखपूर्ण और उपयोगी जीवन के लिए तैयार कर सकना हो सकता है। किंतु ऐसा मैत्री प्रेम उदारता के प्रदर्शन या भविष्य के किसी लाभ के उद्देश्य से किया जा सकता है। संक्षेप में नीयत लक्ष्य बनाए गए परिणामों का वर्ग है। उद्देश्य संकल्प को प्रेरित या निर्धारित करता है और अन्तिम विश्लेषण में "एक निश्चित ढंग से काम करने वाला सुख या दुख" ही होता है।

मनुष्य के सारे कामों का मूल सुख की इच्छा और दुख से बचना है किंतु उनसे उत्पन्न होने वाली नीयतों की नैतिक योग्यता में अन्तर हो सकता है। इससे यह नतीजा निकलता है कि मनुष्य की नीयत और उसके आचार को सुधारने के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति को सदाचार से ही अत्यधिक सुख मिल सके। बेन्थम इस प्रकार की व्यवस्था को, चाहे वह प्राकृतिक हो या मनुष्यकृत, अनुशप्ति (sanctions) कहता है।

किसी सिद्धान्त या सदाचार के नियम को शक्ति देने वाली अनुशप्तियाँ, या सुखों और दुखों की व्यवस्थाएँ, चार हैं। पहली भौतिक अनुशप्ति है जो प्रकृति द्वारा दिए गए सुखों और दुखों में है। स्वास्थ्य की दृष्टि से ठीक खान-पान से सुख मिलता है और अधिक खान-पान से रोग हो जाते हैं जिनसे दुख मिलता है। इस अनुशप्ति का सामाजिक आदर्श से बहुत सम्बन्ध है क्योंकि यदि हर कोई ऊँटपटाँग ढंग से रहने लगे तो सार्वभौम सुख नहीं बढ़ सकता। देश के कानूनों और उनको तोड़ने की सज़ा पर आधारित दूसरी राजनैतिक अनुशप्ति है। तीसरी नैतिक या सार्वजनिक

अनुशक्ति है। मनुष्य को सार्वजनिक सम्मान मिलने से सुख होता है और निन्दा से दुःख; इसलिए वह सार्वजनिक सम्मति के दबाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। चौथी धार्मिक अनुशक्ति है। यहाँ मनुष्य की अन्तरात्मा उसे सुख या दुःख देती है और उसे पारलौकिक पुरस्कार और दंड का भय होता है। ये सब अनुशक्तियाँ मनुष्य के काम के निजी परिणामों और सामाजिक परिणामों में एकता लाती हैं। यदि यह एकता पूर्ण होती तो कोई नैतिक समस्या न होती; किंतु ऐसा नहीं है। अतएव बेन्थम के अनुसार कानून का अभिप्राय राजनैतिक अनुशक्ति को अपराधी को अपराध के अनुपात के अनुसार दंड दे सकने की शक्ति दे देना है।

मिल का विरोधी मत (Mill's Heresy)

जॉन स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम के 'उपयोगिता के सिद्धान्त' (the theory of utility) की जगह 'उपयोगितावाद' शब्द का प्रयोग कर उस सिद्धान्त में तार्किक दृष्टि से एक उच्छेदक परिवर्तन कर दिया है। बेन्थम के सिद्धान्त का बड़ा विरोध हुआ था। कुछ विरोध तो ऐसा था जो स्वार्थपूर्ण कारणों से पुरानी संस्थाओं को न बदलने के लिए किसी सामाजिक सुधारक के प्रति किया जाता है। किंतु कुछ पक्षपात रहित आपत्तियाँ भी थीं। कुछ लोगों को जीवन का प्रयोजन सुख के अतिरिक्त और किसी बात में न मानना बड़ा कुत्सित सिद्धान्त लगता था। कार्लाइल ने इस मत को सुअरों का दर्शन बताया था। बेन्थम इस समय तक मर चुका था अतएव मिल को ऐसे आलोचकों को जवाब देना पड़ा। मिल ने उन पर उपयोगितावादी दर्शन की गलत व्याख्या करने का दोष लगाया क्योंकि उनकी आलोचना के अनुसार-"मनुष्य उन्हीं सुखों की अनुभूति के योग्य है जो सुअरों को होती है।" किंतु "मनुष्य की ऐन्द्रिक क्षमता जानवरों से ऊँची होती है इसलिए वह अच्छे प्रकार के सुखों का उपभोग कर सकता है। बुद्धि, कल्पना द्वारा उत्पन्न अनुभूतियों और नैतिक भावनाओं के सुखों का संवेदन मात्र के सुखों से अधिक मूल्य होता है।

मिल के अनुसार "कुछ सुखों का मूल्य अन्य सुखों से ज्यादा मानने से उपयोगिता-सिद्धान्त में कोई असंगति नहीं आती।"

किंतु ऐसा है नहीं। बेन्थम की रचनाओं में गुण-भेद को वहीं तक स्वीकार किया गया है जहाँ तक उससे मात्रा-भेद सूचित होता है। बेन्थम के अनुसार नैतिकता की कसौटी सुख-दुःख का परिणाम ही है। यदि दो सुखों की मात्रा बराबर हो तो उनके गुण-भेद का कोई नैतिक महत्व नहीं होता। मिल का कहना है कि "जब गुण और मात्रा दोनों पर विचार किया जाता है तो सुखों को परिमाण पर ही निर्भर मानना अनर्गल है।" ठीक है, किंतु मिल ने बेन्थम के मूलभूत नैतिक सिद्धान्त को बदल डाला है और वह बेन्थम का प्रशंसक होने से अपने काम की महत्ता नहीं समझ सका है। इस परिवर्तन का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि बेन्थम नैतिक चिंतन को "नैतिक गणित" और मूल्यांकन को नाप-तोल ही मानता था। मिल एक विरोधाभास में पड़ गया है और दूरी को पहले मीलों में बताकर बाद को कहता है कि सब मीलों की लम्बाई एक सी नहीं होती।

गुण का मापदंड (The Standard of Quality)

किंतु हमें मिल ने अपने और बेन्थम के मत में जो सादृश्य दिखाने की कोशिश की है उसे भूलकर मिल के उपयोगितावाद से पैदा होने वाली समस्या पर विचार करना चाहिए। गुण की परख किस चीज़ से हो सकती है? परिमाण को नापा जा सकता है, उसमें कम और ज्यादा का सम्बन्ध होता है; किंतु गुण निरपेक्ष होता है। दो रंगों, दो गन्धों आदि में कम या ज्यादा का सम्बन्ध नहीं होता, वे निरपेक्ष होते हैं। इसी तरह सुखों के भेद मात्रात्मक तुलना से नहीं बताए जा सकते। तब दो सुखों में किसकी नैतिक महत्ता अधिक है यह कैसे निर्णय किया जाय? मिल का कहना है कि "इसका एक ही संभव उत्तर है" और वह उसे देता है :

> दो सुखों में से यदि दोनों ऐसे हों जिनका अनुभव सभी को हो तो उनमें से नैतिक बाध्यता के बिना जिस सुख को सभी

पसन्द करें वही अधिक वरणीय होगा। दोनों सुखों को जानते हुए भी यदि लोग एक सुख को दूसरे से श्रेष्ठ समझकर पसन्द करते हैं, चाहे उससे बाद में अधिक असन्तोष ही क्यों न होता हो, और वे उसे अन्य सुख के अत्यधिक परिमाण में मिलने पर भी नहीं छोड़ना चाहते हों तो वह सुख गुण (quality) में श्रेष्ठ होगा और तब तुलना में उसकी मात्रा का कोई महत्त्व नहीं रहेगा।

इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि जो लोग दोनों सुखों को जानते हैं और उनका उपभोग करने की क्षमता रखते हैं वे अपनी पसन्द सोच विचार कर ही करते हैं। कोई व्यक्ति पूरा पाशविक सुख पाने के लालच पर भी पशु बन जाना पसन्द नहीं करेगा। कोई बुद्धिमान आदमी मूर्ख, शिक्षित अज्ञानी और विवेकशील स्वार्थी और नीच बनना नहीं चाहेगा, चाहे उसे इस बात का यकीन भी क्यों न दिला दिया जाय कि पशु, मूर्ख और नीच व्यक्ति उसकी अपेक्षा अपनी किस्मत से ज्यादा सन्तुष्ट होते हैं...अच्छे मस्तिष्क वाले को प्रसन्न करने के लिए कुछ और ही चाहिए; उसमें मामूली आदमियों से दुखी होने की क्षमता अधिक होती है। किंतु इन सब बातों के होते हुए भी वह जीवन के निम्न स्तर पर जाने की इच्छा कभी नहीं करेगा।[1]

मिल के इस महत्त्वपूर्ण कथन से दो प्रश्न सामने आते हैं। क्या कथन बेन्थम के 'उपयोगिता-सिद्धान्त' से संगति रखता है, और यदि रखता है तो दोनों सिद्धान्तों में से कौन सत्य के अधिक निकट है! और बेन्थम के शब्दों की तुलना करने पर पहले प्रश्न का उत्तर कारात्मक ही होगा। बेन्थम नैतिकता को 'गणित' मानता है और के अनुसार बराबर परिमाण वाले सुख समान होते हैं। यहाँ मिल के ों की श्रेष्ठता' के लिए कोई स्थान नहीं है। अब दूसरे प्रश्न पर

---

[1] यूटीलिटेरियनिज़म, परि० २.

आइए : दोनों उपयोगितावादी सिद्धान्तों में कौन सत्य के अधिक निकट है ? कुछ लोगों को मिल के मत में अपने अनुभवों का अधिक सही चित्रण मिलता है। कुछ लोग ऐसा मानने से संकोच कर सकते हैं। आसक्ति काल में लोग पशु बन जाना ही बेहतर समझते हैं। अनुभव की अवस्थाएँ क्षणिक और परिवर्तनशील होती हैं और जब तक वे कुछ स्थाई न हों तब तक उनसे सही नैतिक सिद्धान्त नहीं बनाए जा सकते। मिल से सैद्धान्तिक स्तर पर भी विवाद हो सकता है। उसका कहना है कि "असन्तुष्ट होना और मनुष्य होना सन्तुष्ट होने और पशु होने से अच्छा है; असन्तुष्ट सुकरात होना सन्तुष्ट मूर्ख होने से लाख अच्छा है। किंतु यदि मूर्ख और पशु अलग राय रखते हैं तो वह इसलिए कि वे केवल अपने प्रश्न के पहलू को ही जानते हैं। मनुष्य उनकी तुलना में दोनों पहलुओं को जानता है।" इस उद्धरण के अन्तिम वाक्य पर आलोचकों को आपत्ति हो सकती है। क्या बुद्धिमान आदमी मूर्ख होना क्या है इसे जान सकता है ? क्या संयमी आदमी विलासी आदमी के सुखों या साहसी व्यक्ति कायरता को समझ सकता है ? क्या कोई आदमी पशु होना क्या है इसे जान सकता है ? दो सुखों में कौन सा श्रेष्ठ है क्या इस विषय पर दोनों सुखों का अनुभव रखने वाले व्यक्तियों में सहमति हो सकती है ? योग्य से योग्य आलोचक भी किसी चित्र या कविता पर मतभेद रख सकते हैं। ऐसा ही क्या सुख के बारे में नहीं हो सकता ?

इन आपत्तियों का उत्तर यह होगा कि निर्णायक सर्वज्ञ नहीं होते इसलिए उनमें मतभेद सदा रहता है किन्तु फिर भी सापेक्ष शक्त निर्णय किया जा सकता है। पशु होना क्या है ? मनुष्य को इसका कुछ अनिश्चित सा ज्ञान होता है क्योंकि उसमें भी पशुता के तत्व होते हैं। किंतु पशु को मनुष्य की अवस्थाओं का कोई ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार बुद्धिमान, संयमी और साहसी व्यक्ति, मूर्खता, अनियंत्रित जीवन और कायरता को जानता है क्योंकि ये बातें उसमें गुप्त रूप से विद्यमान [illegible] कुछ लोगों का अनुभव विस्तृत होता है और इसलिए [illegible] सुखों

का समीचीन वर्णन कर सकने की क्षमता अधिक होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि विस्तृत अनुभव वाले सब लोगों के निष्कर्षों में सहमति होगी। नीतिशास्त्र में हमें हर जगह सहमति की आशा नहीं करनी चाहिए। यह हो सकता है कि विस्तृत अनुभव वाले व्यक्ति सामान्यतः किसी एक सुख को ही पसन्द करें। तब मिल के गुणात्मक भेद को स्वीकृत और लागू किया जा सकता है किंतु तब बेन्थम के "नैतिक-गणित" के निश्चित आदर्श को छोड़ देना पड़ेगा।

३ सुखवाद का आलोचनात्मक विश्लेषण

यदि सुखवाद के 'प्रमाण' ठीक होते तो नैतिक खोज को बढ़ाना व्यर्थ होता। यदि हर व्यक्ति के कामों का संचालन सुखवादी आदर्श से ही होता तो अन्य सिद्धान्तों और मतों को छोड़ा जा सकता था। मूल्यों के प्रश्न पर 'प्रमाणों' में सदा कम या अधिक हेत्वाभास (fallacy) रहता है। इस बात की पुष्टि द्वंद्वात्मक तर्क से होती है जिसका वर्णन पिछले अध्याय में किया गया था। जब किसी मूल्य को स्वीकार किया जाता है तो द्वंद्वात्मक तर्क द्वारा उसकी जगह किसी और विशद् मूल्य का प्रतिपादन भी किया जा सकता है। इस सामान्य सिद्धान्त के मार्ग-प्रदर्शन में हम सुखवाद का प्रमाण देने वाले तर्क की परीक्षा कर सकते हैं। सुखवाद का प्रमाण यों दिया जाता है: "यदि मनोविज्ञानीय सुखवाद सत्य है तो परिणामस्वरूप नैतिक सुखवाद भी सत्य होगा; मनोविज्ञानीय सुखवाद सत्य है अतएव नैतिक सुखवाद भी सत्य है।" यदि हम यहाँ अनुमिति (conclusion) के सत्य में सन्देह करें तो हमें कम से कम एक प्रतिज्ञा (premise) के सत्य पर सन्देह करना चाहिए। वस्तुतः दोनों प्रतिज्ञाओं पर घोर आपत्ति की जा सकती है। अतएव हम बारी-बारी से (१) मनोविज्ञानीय सुखवाद की सत्यता और (२) मनोविज्ञानीय सुखवाद की सत्यता पर नैतिक सुखवाद की सत्यता का अनुमान करने पर आपत्ति करेंगे।

सुखवादी तर्क के हेत्वाभास (Fallacies of Hedonistic Logic)

(१) मनोविज्ञानीय सुखवाद का हेत्वाभास—"हरेक अधिकाधिक सुख और कम से कम दुख पाने के लिए ही काम करता है," यह प्रतिज्ञा (Proposition) केवल वर्णनात्मक ही है। यहाँ किसी मूल्य को न बताकर केवल एक तथ्य का ही वर्णन किया गया है। किसी तथ्य का कथन अनुभव पर ही आश्रित होता है और उसमें निश्चित सत्य न होकर उपपत्यता (Probability) ही रहती है। बर्फ गर्मी पाकर पिघलने लगता है : यह बात हमारे पूर्व अनुभव, गर्मी और ठोस पदार्थों के स्वभाव से इतनी स्पष्ट है कि उसमें सन्देह करना समय बर्बाद करना ही होगा। किंतु उसके सत्य में अत्यधिक उपपत्यता होते हुए भी पूर्ण निश्चितता नहीं है। हम तार्किक असंगति के बिना बर्फ के न पिघलने को सोच सकते हैं। यदि ऐसा हो भी जाय तो हम उसे सामान्य नियम का एक अपवाद मान लेंगे। मनोविज्ञानीय सुखवाद में इसी शर्त का अभाव है।

जब सुखवादी यह कहता है कि मनुष्यों का लक्ष्य अत्यधिक सुख पाना होता है तो *उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि मनुष्य सुख पाने के* लिए ही काम करते हैं वरन् उन्हें सुख के लिए ही काम करना चाहिए। वह किसी अपवाद को मानने के लिए तैयार नहीं होता। वह देश के लिए शहीद हो जाने, विलासमय जीवन बिताने, माँ की ममता और बलिदान इन सबकी व्याख्या सुख पाना और दुख से बचना इसी दृष्टिकोण से करता है। उसकी दृष्टि में ये सब एक ही प्रश्न के अनेक पहलू हैं। वह अपवादों को भी अपने नियम का एक उदाहरण ही समझता है। चूँकि सुखवादी नियम उदाहरण के भेदों को स्वीकार नहीं करता अतएव वह अनुभव पर आधारित नहीं है। तथ्य का कथन अनुभव पर आधारित होता है इसलिए सुखवाद का यह कथन कि "हरेक अपने अत्यधिक सुख के लक्ष्य से ही काम करता है" किसी तथ्य का कथन नहीं रहता। अतएव हमें उससे कुछ भी पता नहीं चलता। उससे हम अपनी तरह से ही

व्याख्या कर सकते हैं। अपनी तरह से व्याख्या करने पर हमें तथ्य कथन मिल सकता है किंतु अब वह सार्वभौम नहीं रहता।

(२) नैतिक सुखवाद के अनुमान का हेत्वाभास—अब तक हमने मनोविज्ञानीय सुखवाद की सत्यता की ही आलोचना की है। यह भी दिखाया जा सकता है कि मनोविज्ञानीय सुखवाद की सत्यता से नैतिक सुखवाद की सत्यता का अनुमान नहीं किया जा सकता। सुखवादी कहता है कि हरेक अत्यधिक सुख के लिए ही काम करता है और वह इससे यह निष्कर्ष निकालता है कि हरेक को यही करना चाहिए। यह अनुमान तभी सत्य हो सकता है जब हम यह मान लें कि मनुष्य के उद्देश्य जो कुछ है उन्हें वही होना चाहिए। इससे इनकार करने से सुखवादी के अनुमान में कोई सत्यता नहीं रहती। यदि वह इसे स्वीकार करता है तो मानवी उद्देश्यों की तार्किक आलोचना कर सकने का अधिकार खो बैठता है। उद्देश्य वही होते हैं जो उन्हें होना चाहिए: इस तरह नैतिक आग्रह निरर्थक हो जाता है। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है: "मनुष्य सुख की इच्छा से ही काम करता है" और "मनुष्य सुख की इच्छा से ही श्रेयस्कर काम करता है" यदि ये दोनों बातें सार्वभौम और आवश्यक रूप से सत्य हों तो "मनुष्य के काम" और "मनुष्य के श्रेयस्कर काम" तार्किक भाव से बराबर हो जाते हैं और तब "श्रेयस्कर" शब्द निरर्थक हो जाता है। किंतु सुखवादी फिर भी "श्रेयस्कर" शब्द का प्रयोग करते हैं, उनके नैतिक दर्शन में एक काम को दूसरे से श्रेयस्कर बताया जाता है। उनकी इस बात को युक्तियुक्त कैसे बताया जा सकता है क्योंकि उनके सिद्धान्त के अनुसार हमें केवल उन्हीं कामों को करना चाहिए जिन्हें हमें आवश्यक रूप से करना पड़ता है?

(३) नैतिक सुखवाद का प्रमाण देने की किसी भी चेष्टा का हेत्वाभास—सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि नैतिक सुखवाद के प्रतिपादन करने का हर प्रयास सुख और हित (good) के तार्किक सम्बन्ध पर आधारित है। इस तार्किक सम्बन्ध का खण्डन यों किया जा

सकता है : सुख एक क्षणिक घटना होती है। सुख कम या ज्यादा देर तक बना रह सकता है किंतु फिर भी बहुत समय तक अटूट नहीं रह सकता। बौद्धिक और सौंदर्य विषयक सुख भी अधिक देर तक नहीं रहते। किंतु नैतिक गुण एक क्षणिक घटना मात्र नहीं है। किसी काम की नैतिकता (१) कर्त्ता के चरित्र को निर्मित करने वाले गुणों और (२) उसके काम से उत्पन्न होने वाली घटनाओं से सम्बन्धित होने पर ही निर्भर होती है। इन परिणामी घटनाओं में कर्त्ता और अन्य लोगों पर असर डालने वाले विभिन्न सुख और दुख रहते हैं। उनकी संख्या और उनका वितरण किसी काम को नैतिक दृष्टि से श्रेयस्कर ठहराने में आवश्यक बातें हैं। किंतु सुख स्वयं अलग-अलग इकाइयाँ होते हैं और तार्किक दृष्टि से उनका काम की नैतिकता से तादात्म्य नहीं होता।

(४) सुखों को मात्रात्मक बनाने का हेत्वाभास—मिल ने सुखों में गुणात्मक भेद मानकर और मात्रात्मक मापदंड को अपर्याप्त समझ कर भी कभी खुले तौर से बेन्थम का विरोध नहीं किया। किसी वस्तु को प्रसारिक (spatial) सम्बन्ध के प्रसंग के बिना नहीं नापा जा सकता। यह प्रसंग सुखों में कैसे संभव है? बेन्थम द्वारा बताई गई सुख दुख की सात कसौटियों में से सामाजिक क्षेत्र और कार्यकाल (duration) यह दो ही प्रसारिक प्रसंग की आवश्यकता को पूरा करती हैं। किसी काम से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या बताई जा सकती है क्योंकि हर व्यक्ति प्रसर द्वारा एक दूसरे से पृथक इकाई है। घड़ी देखकर सुख का कार्यकाल भी जाना जा सकता है। किंतु तीव्रता को नापने का कोई तरीका नहीं है। शरीर-विज्ञान में सुख दुख आदि की तीव्रता को खून के दबाव आदि से नापा जा सकता है क्योंकि सुख-दुख की अनुभूति और खून के दबाव में कुछ सम्बन्ध होता है। किंतु उनका सम्बन्ध गणित की भाँति सच्चा है इसे नहीं कहा जा सकता। यह तभी संभव हो सकता है जबकि स्वयं अनुभूतियों को ही नापा जा सके, और अनुभूति को नाप सकना असम्भव है। हम टहलने से पढ़ना अधिक पसन्द कर सकते हैं किंतु यह

नहीं कहते कि पढ़ना टहलने से दुगना या ढाई गुना सुख देता है। ऐसे कहना क्या निरर्थक नहीं है?

(५) उपयोगितावाद में विरोध—हम मनोविज्ञानीय सुखवाद से नैतिक सुखवाद का अनुमान करने के हेत्वाभास को पहले ही देख चुके हैं। उसी तरह की आलोचना उपयोगितावाद के तार्किक पक्ष को भी हो सकती है। यदि मनोविज्ञानीय सुखवाद को सही मान भी लिया जाए तो उससे उपयोगितावादी यह आदर्श कि हर व्यक्ति को अधिक से अधिक लोगों का अत्यधिक सुख प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए साबित नहीं होता। यदि हम अपने ही सुख की खोज में लगे रहते हैं तो हमारे ऊपर दूसरों का सुख खोजने की क्या नैतिक बाध्यता है? हमारे और उनके सुख में थोड़ी देर के लिए असंगति नहीं हो सकती किंतु कभी न कभी तो जरूर होगी, तब! तब बेन्थम का कहना है कि हमें "इस बात का स्वप्न भी नहीं देखना चाहिए कि लोग अपने लाभ को देखे बिना हमारी कोई सेवा करेंगे।" किंतु यदि बेन्थम की 'सुखवादी-परिगणन-विधि' में सामाजिक क्षेत्र की कसौटी का कोई अर्थ है तो लोगों को हमारी सेवा अवश्य करनी चाहिए। यदि सुखवादी-परिगणन-विधि (calculus) से किसी काम का सामाजिक लाभ हमारे दुख से अधिक निकले तो उस काम को करना हमारा कर्तव्य और नैतिक बाध्यता होगी। दूसरी ओर बेन्थम नैतिक बाध्यता को तथ्य-विषयक मानता है। फिर इन दोनों बातों का मेल कैसे हो सकता है!

नहीं हो सकता। इस प्रश्न का रूप सुखवादी भाषा में यों होगा: उनका सुख अधिक, मेरा सुख कम या उनका सुख कम और मेरा अधिक। बेन्थम के सिद्धान्त के अनुसार हमारा वरण अवैयक्तिक होना चाहिए। हमें यह पूछना चाहिए कि कौन सा सुख अधिक से अधिक लोगों को अत्यधिक सुख देगा! चाहे हमें यह सुख मिले या न मिले। किंतु कुछ स्थितियों में अवैयक्तिक वरण का अर्थ अपने सुख-दुख की उपेक्षा करना

होगा। यदि हम सदा सुख पाने और दुख से बचने के लिए ही काम करते हैं तो यह कैसे संभव हो सकता है?

बेन्थम इस प्रश्न का उत्तर तर्कशास्त्री की हैसियत से कभी न देकर समाज सुधारक की हैसियत से देता है। उसका प्रस्ताव एक ऐसे विधान को बना देना है जिससे हर आदमी को लाभदायक काम करने का पुरस्कार मिले। उसकी दृष्टि में ऐसे विधान को स्थापित होना चाहिए। किंतु यदि विधान-निर्माताओं का कोई निजी लाभ न होता हो तो वे ऐसा विधान बनाने को बाध्य क्योंकर होंगे? और चूँकि ऐसे कोई कानून नहीं हैं तो क्या हम अधिक से अधिक लोगों के सुख के लिए काम करना अपना कर्तव्य नहीं समझते?

सुखवादी आदर्श का मूल्य

अब तक किए गए विश्लेषण का तात्पर्य सुखवाद को नैतिक सिद्धान्त मानने का मूल्य नष्ट कर देना नहीं है। विश्लेषण का उद्देश्य सुखवादी प्रमाणों के हेत्वाभास को दिखा देना था। सुखवाद या किसी और नैतिक आदर्श का प्रमाण नहीं दिया जा सकता। सुखवादी आदर्श को कर्ता अपने नैतिक उत्तरदायित्व पर स्वीकार कर सकता है। किंतु सही मूल्यांकन तभी संभव है जब हम सुख और उपभोग का सही सही अर्थ जानते हों, जब हम अनेक उद्देश्यों में भेद कर सकें। "हमें अपने जीवन को अधिकाधिक सुखी बनाना चाहिए" इस आदर्श निर्णय को सार्थक बनाने के लिए हमें स्पष्ट ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

इस तार्किक आवश्यकता को स्वीकार करते हुए सुखी जीवन की कुछ सामान्य बातें बताई जा सकती हैं। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, पर्याप्त धन, समाज में सम्मान, अच्छे मित्र, संतुलित यौन जीवन, मनबहलाव के अच्छे साधन, साहित्य और कलाओं आदि में रुचि ये सुखी जीवन के कुछ अंग हैं। इस तरह के जीवन को हरेक अच्छा कहेगा और यदि सबका जीवन ऐसा बन सके तो क्या कहना! किंतु ऐसा जीवन कुछ भाग्यशालियों को ही मिल पाता है। अतएव हमें अपने सुख को ही

सकेंगे जो मूर्ख बनना पसन्द करें (चाहे यह उनकी शक्ति की बात क्यों न हो)।

तो क्या हम आदर्श जीवन में सुख की आवश्यकता से इनकार करें ? नहीं। जो व्यक्ति जीवन के सुखों पर लात मारकर सात वर्ष तक किताबें लिखता रहता है या समाज सुधार में लग जाता है उसे ऐसा करने में विशेष प्रकार का सुख मिलता है। सुख की इस तार्किक अस्पष्टता पर पहले विचार किया जा चुका है। किंतु इस अस्पष्टता का एक व्यावहारिक पक्ष भी है। जीवन में आसक्त होना या जीवन से विरक्त होना दोनों में ही इच्छा तृप्ति का सुख है। इच्छा के बिना कोई ऐच्छिक (voluntary) काम नहीं हो सकता। किंतु इच्छाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। इच्छा किसी मौलिक अशिक्षित अन्तर्प्रेरणा पर या लापरवाही से प्राप्त की गई अपरीक्षित आदत पर निर्भर हो सकती है। किन्तु ड्यूई के कथनानुसार यह हो सकता है कि "विचार करने वाली वस्तु के दृष्टिकोण से वह मौलिक अन्तर्प्रेरणा किसी और ही इच्छा में बदल जाय।"[२] इस भेद का शिक्षा में बड़ा महत्व है। शिक्षक का मुख्य लक्ष्य अपने शिष्यों की अन्तर्प्रेरणाओं का पुनर्निर्माण करना होना चाहिए जिससे वे अपरीक्षित और अशिक्षित अन्तर्प्रेरणाओं के सुखों से बचकर उन बातों में आनन्द ले सकें जिन्हें सोच विचार कर किया जाता है।

उपयोगितावाद में कुछ ऐसी सच्चाई है कि उसके विरोधी को भी उसकी प्रशंसा करनी ही पड़ती है। अपने ही सुख में पड़े व्यक्ति के लिए सुख उच्चतम आदर्श नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति अपने लिए वैरागी जीवन चुन सकता है : यह उसका अपना मामला है। किंतु दूसरों को उनकी आत्मा या चरित्र के लाभ के लिए जबर्दस्ती वैरागी बनाना एकदम अनैतिक है (छोटे बच्चों के साथ न्यायपूर्ण जबर्दस्ती करना अनैतिक नहीं है)।

किंतु सामाजिक दृष्टि से भी उपयोगितावाद में एक दोष रह जाता है। उसका मानवतावादी आदर्श गतिहीन है। जिस समाज में लोग जीवन-हीन होकर दूसरों की कृपा पर पल रहे हों वहाँ वे सक्रिय रूप से कुछ नहीं कर सकते। आदर्श समाज में लोगों को खाने-कपड़े के सुख के अलावा उपयोगी कार्य कर सकने की प्रेरणा भी मिलनी चाहिए जिससे उनकी योग्यताओं और क्षमताओं का समुचित विकास हो सके। समाज या व्यक्ति के लिए स्वीकार करने योग्य नैतिक आदर्श को विकासशील भी होना चाहिए।

४

प्रभुत्व प्राप्ति का दार्शनिक विवेचन

प्लेटो के संवाद 'गार्जियास' में कैलीक्लीज को स्वहितवादी या स्वार्थमूलक (Egoistic) गुणवाद के एक उग्र रूप का प्रतिपादन करते हुए देखा जा चुका है। स्वार्थपूर्ण गुण से असीमित शक्ति प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बना लेना बहुत आसान है। नीचे के उद्धरण से कैलीक्लीज के दर्शन का एक और पहलू मालूम होता है।

> बहुमत के ऊपर सुलाभ पाना अन्याय, अशोभनीय और पाप कहा जाता है। किंतु मेरे विचार से सबल और योग्य व्यक्ति का निर्बल और अयोग्य से सुलाभ लेना प्रकृति दत्त अधिकार है। इसका प्रमाण पशुओं और मनुष्यों दोनों के जीवन में मिल सकता है। दुर्बल के ऊपर सबल का शासन ही औचित्य माना जाता है। युद्ध में औचित्य के और किसी रूप का सहारा लिया जाता है। मेरे विचार से यहाँ प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त के अनुसार काम किया जाता है। हम कह सकते हैं कि तब प्रकृति के नियम के अनुसार ही काम किया जाता है यद्यपि वह काम मनुष्य निर्मित नियमों के मार्ग पर नहीं होता। हम अपने ही तरह के साहसी और श्रेष्ठ मनुष्यों को चुनकर उन्हें शेर के बच्चों की भाँति शिक्षित करते हैं। हम उन पर जादू कर देते हैं और उन्हें चीजों के बराबर भाग से सन्तुष्ट हो सकना सिखाते हैं क्योंकि वही न्याय और औचित्यपूर्ण है। किंतु यदि कोई व्यक्ति अपनी पर्याप्त प्राकृतिक शक्तियों के साथ विरोध करे तो मेरा ख्याल है कि वह इन शिक्षाओं पर लात मारकर अपने बन्धनों से मुक्त

हो जायगा। वह हमारी चालों और नियमों को कुचल डा[illegible]
करने के प्रकृति के विरोधी हैं। जब हमारा दास विद्रोह क[illegible]
है तो उसके विद्रोह में प्राकृतिक न्याय चमकता है।[1]

१. क्या शक्ति ही औचित्य (Right) है?

प्लेटो की 'रिपब्लिक' में थ्रैसीमैकस उस काम को उचित कहता है जो अपने से अधिक शक्तिशाली मनुष्य की खातिर किया जाए। दूसरे शब्दों में उचित काम वह है जिसको करने के लिए हम बाध्य किए जाते हैं। इस प्रकार काम करने वालों को थ्रैसीमैकस मूर्ख और शक्तिहीन कहता है। श्रेष्ठ मनुष्य जो चाहता है वह करता है और अपने हित के लिए उचित काम के स्थापित किए गए मापदण्ड का पालन अपने आश्रित लोगों से भी करवाता है। अतएव किसी नैतिक सिद्धान्त को अनुमान 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के नियम से ही है, चाहे उसके अनुमोदकों में उसे लागू करने की क्षमता हो या न हो। इससे यह भी नतीजा निकलता है कि कोई आदर्श तभी तक 'उचित' रहता है जब तक उसके अनुमोदक उसे लागू किए रहते हैं। अन्य शक्ति के आ जाने पर अन्य आदर्श 'उचित' बन जाते हैं।

इस दृष्टिकोण के पक्ष में बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। भारत से अंग्रेजों का चला जाना तो उचित समझा जाता है किन्तु उनका 'राष्ट्रमण्डल' न बनना अनुचित। यदि कोई तानाशाह किसी देश में अपनी ही मनमानी और किसी दूसरे की न सुने तो क्या उसका शत्रु और मित्र राष्ट्र के लिए 'उचित' नहीं है? यदि कोई विरोधी दल सफल हो इसका विरुद्ध देशद्रोही कह कर शोषण किया जायगा। तानाशाही में विरुद्ध दलों के झगड़ों के कारण है और कोई प्रतिस्पर्धी सफल न [illegible] सके। [illegible] कि कोई शत्रु [illegible] का [illegible]

---

१ प्लेटो, रिपब्लिक, [illegible]

विरोध को नष्ट कर दे तो क्या उसका काम 'उचित' नहीं माना जायगा ? किसी समय सब लोग जिस काम को उचित समझते हैं उसे क्या किसी अर्थ पूर्ण माने में अनुचित कहा जा सकता है ?

उचित और अनुचित का मापदंड बनाने वाली शक्तियों में प्रचार-शक्ति अत्यन्त प्रचण्ड है। यह निश्चित नहीं है कि कलम तलवार से हमेशा ताकतवर होती है किन्तु शिक्षित व्यक्तियों को कलम के द्वारा प्रभावित किया जा सकता है।

प्रचार कैसे किया जाता है ? कभी कभी झूठ को गढ़कर। जिस बात से भय होता है उसकी खबर दबा दी जाती है। 'समाचार' या 'प्रचलित घटनाएँ' कही जाने वाली स्थितियों का महत्व सामाजिक प्रवृत्तियों के तौर पर ही होता है। समाचार पत्र का स्वामी सरकार को प्रभावित कर सकता है और जनता की भावनाओं पर नियंत्रण रखने की शक्ति से युद्ध या शांति के प्रश्न का निश्चय भी कर सकता है। जिस राजनैतिक या अन्य किसी वर्ग का समाचार पत्र या रेडियो पर अधिकार नहीं होता है उसके सिद्धान्तों का प्रचार नहीं हो पाता और इसलिए वे स्वीकार भी नहीं किए जाते। इसी तरह के और हजारों उदाहरणों से क्या यह पता नहीं चलता कि उचितानुचित का मापदण्ड शक्तिशाली वर्गों पर निर्भर है ?

युद्ध का दर्शन (The Philosophy of War)

जर्मन युद्ध-विशारद कार्ल फोन क्लाउज़ेवित्स (१७८०-१८३१) युद्ध को "विरोधी पक्ष को अपनी इच्छा मनवाने के लिए अन्तिम सीमा तक की गई हिंसा" कहता है। "अन्तिम सीमा तक की गई हिंसा" वाक्य द्वारा क्लाउज़ेवित्स किसी युद्ध के नैतिकातीत (amoral) होने को बताता है। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों से युद्ध को मानवीय बनाना चाहते हैं उन्हें वह भावुक मात्र ही कहता है। युद्ध में रत कोई राष्ट्र किसी तरह की ऐच्छिक मर्यादा से अपनी विजय को खटाई में नहीं डालेगा। जो बातें मानवीय नीति लगती हैं वे भी सैनिक महत्त्व के तत्व होती हैं। "यदि सभ्य राष्ट्र युद्ध बन्दियों को नहीं मारते, नगरों आदि को

नष्ट भ्रष्ट नहीं करते तो इसका कारण यह है कि वे इन भावावेश के तुच्छ कामों के अलावा शक्ति का उपयोग अन्य सक्रिय साधनों से करना चाहते हैं।" युद्ध के भयंकर से भयंकर अस्त्रों का आविष्कार "इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि युद्ध में शत्रु को नष्ट करने की भावना सभ्यता के विकास से बदली नहीं है।"[1]

क्लाउजेविट्स केवल सैनिक और युद्ध-विशारद ही था, दार्शनिक नहीं। उसके सिद्धान्त सैनिक दृष्टिकोण से ठीक हैं किंतु उनसे कुछ ऐसे विस्तृत प्रश्न पैदा हो गए जिन पर उन्नीसवीं शती के जर्मन विचारकों ने तत्काल ध्यान दिया। काउन्ट फोन मोल्तके ने कहा कि "युद्ध से गुण, साहस, कर्तव्यभावना और आत्मसमर्पण के भाव पैदा होते हैं।" और उसके देशवासी हाइनरिख फोन ट्राइत्शके ने एक निर्दयतापूर्ण राजनैतिक राष्ट्रीयतावादी दर्शन के आधार पर युद्ध का समर्थन किया। उसके अनुसार जब कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों पर अधिकार करने की "नैतिक अनिवार्यता" का अनुभव करता है तो युद्ध उचित है। कोई राष्ट्र विस्तार और विजय पर ही पनप सकता है। अतएव युद्ध को "दैवी नियुक्त व्यवस्था का एक भाग" मानना चाहिए।[2]

२. विकासवादी नीतिशास्त्र

चार्ल्स डारविन (१८०९-१८८२) की जीव-विज्ञान सम्बन्धी खोजों से प्रभुत्व प्राप्ति के दर्शन को नया बल मिला। डारविन के विकासवादी सिद्धान्त से एक विद्रोह सा मच गया। यद्यपि उसका सिद्धान्त नीतिशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं रखता था किंतु कालान्तर में उसका नीतिशास्त्र पर भी भारी असर पड़ा। नीतिशास्त्र के कुछ सिद्धान्त तो डारविन के मत को ठीक तरह से न समझने या उसके सिद्धान्त से निगमन (deduction) करने से गलत हो गए।

---

[1] क्लाउज़ेविट्स, ऑन् वॉर।

[2] पॉलिटिक्स, जि० २, पृ० ६१०-६६८ (मैकमिलन)

विकासवादी सिद्धान्त के दो पहलुओं के भेद को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है क्योंकि इनके इस भेद का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है। डारविन का सबसे सामान्य और प्रमाणयुक्त मत यह है कि "जातियाँ" (जीवन के अलग-अलग रूप) विकासशील (mutable) हैं और आज जो जातियाँ विभिन्न लगती हैं वे एक ही मूल से उत्पन्न हुई हैं। इस मान्यता का अत्यधिक प्रमाण अनुभवगत है। यह सच है कि डारविन का युग उसके सिद्धान्त को अपनाने के लिए तैयार था। (यद्यपि यह अनिश्चित सी ही बात है)। भाप के इंजन का आविष्कार हो चुका था और गतिहीनता का स्थान गतिशीलता ले रही थी। अतएव उस युग के लोग "जातियों" की विकासशीलता को स्वीकार करने के लिए ज्यादा तैयार थे। किंतु फिर भी विकासवादी धारणा की उपेक्षा किसी भी युग में नहीं हो सकती थी।

प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection)

किंतु डारविन के विकासवादी सिद्धान्त का एक दूसरा पहलू भी है: "जातियों के विकास की व्याख्या कैसे की जा सकती है?" एक वैज्ञानिक होने के नाते डारविन इसके उत्तर के लिए ईश्वर, प्रयोजन या जीवन-शक्ति आदि धारणाओं का सहारा नहीं ले सकता था। जातियों के विकास की जाँच और विश्लेषण से ही इस रहस्य का पता चल सकता था। मनुष्य को मनुष्य बनाने वाले विकास तो लाखों वर्ष पहले खत्म हो गए थे। यदि कुछ जातियों में विकास हो भी रहा हो तो उसकी पूर्णता वर्षों की बात है इसलिए कोई व्यक्ति अपने जीवन काल में प्राकृतिक विकास को देख नहीं सकता। पेड़ पौधों और पशु जानवरों के साथ किए गए कृत्रिम विकास को देखा जा सकता है। डारविन ने देखा कि पौधों और पशुओं की अच्छी नस्ल पैदा करने की व्यवस्था चुनाव पर थी। माली और जानवर पालने वाले अच्छी नस्ल का ही विकास करते हैं। किंतु चुनाव के इस सिद्धान्त को यहाँ पर कैसे लागू किया जा

सकता है ? डार्विन इस प्रश्न के समाधान पर बहुत समय तक विचार करता रहा। अन्त में उसके माल्थस के "एसे ऑन पापूलेशन" में उसके जनसंख्या सिद्धान्त कि आबादी ज्यामितीय अनुपात और अन्न गणितीय अनुपात में बढ़ता है को पढ़ा। इसका नतीजा यह होगा कि अन्न अपने ऊपर निर्भर प्राणियों की अपेक्षा ज्यादा कम में घटता रहेगा। डार्विन ने इस सिद्धान्त में अपनी समस्या का समाधान पाया।

पशु और पौधों की आदतों को लगातार देखने पर मुझे पता चला कि जीवन संघर्ष हर जगह होता रहता है और लगा कि ऐसी परिस्थिति में अनुकूल परिवर्तन तो बच जायेंगे और जो अनुकूल नहीं होंगे वे नष्ट हो जाएँगे। इसके परिणामस्वरूप नई जातियों का निर्माण होगा। यहाँ मेरे प्रतिपादन करने के लिए एक सिद्धान्त था।[1]

इस संकेत पर डार्विन ने विकार कैसे होते हैं इस मत का प्रतिपादन किया। "अनुकूल परिवर्तनों के बचने और प्रतिकूल परिवर्तनों के नष्ट हो जाने" को प्राकृतिक चुनाव कहा गया। प्राकृतिक चुनाव में चार बा (१) एक जाति के व्यक्तियों में विभिन्नताएँ, (२) खाने, शत्रु से आदि के लिए एक जाति की दूसरी जाति से प्रतियोगिता पर आध जीवन संघर्ष (Struggle for Existence), (३) इस संघर्ष में योग्य का बच रहना (survival of the fittest), और (४) आनुवंशिक (heredity) अर्थात् जीवित रह जाने वाली विभिन्नताओं की दूसरी पीढ़ में चले जाने की प्रवृत्ति। पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाले इस व्यापार का उपचित प्रभाव होता है जिसके परिणाम स्वरूप बहुत विशाल परिवर्तन हो जाते हैं।

विकासवाद की दार्शनिक व्याख्या

नीतिशास्त्र में इस सिद्धान्त का क्या महत्व है ? प्रोफेसर अरबन का

---

[1] डारविन, दि थियरी आफ् एवोल्यूशन, एक उद्धरण से।

कहना है कि इस सिद्धान्त ने नीतिशास्त्र में दो तरह से क्रांति की है :

पहले तो यह आशा की जाती थी कि विकासवाद से नैतिक प्रथाओं, भावनाओं और निर्णयों के मूल, विकास और अर्थ की व्याख्या हो सकेगी। दूसरी ओर यह आशा की जाती थी कि मूल्यों का सिद्धान्त होने के नाते नीतिशास्त्र को पहली बार विज्ञानीय और प्राकृतिक नींव पर प्रतिष्ठित किया जा सकेगा। दूसरे शब्दों में जब आंगिक (organic) प्रकृति में मनुष्य का स्थान निर्धारित हो जायगा तो मानवी हित को आंगिक रूप में समझना संभव हो जायगा। इस प्रकार मानवी आचरण का निर्णय करने के मापदंडों का प्राकृतिक आधार मिल सकेगा।[1]

पहले प्रभाव पर दूसरे अध्याय में विचार किया जा चुका है और नैतिकता पर वंशपरम्परा प्रणाली का प्रयोग करने के खतरे भी बताए जा चुके हैं। बहुतों ने डारविन के सिद्धान्त में वंश परम्परा (genetic) प्रणाली का समर्थन पाया। वंशपरम्परा प्रणाली में "यह क्या है?" की जगह "यह कैसे हुआ?" प्रश्न उठाया जाता है। नीतिशास्त्र में नैतिक मूल्य क्या होते हैं? इसी को जानना ज्यादा आवश्यक है। डारविन के पहले हॉब्स, मैन्डेविल और रूसो आदि नैतिक विचारकों ने वंशपरम्परा प्रणाली का प्रयोग किया था किंतु उनके निष्कर्ष वही होते थे जो वे चाहते थे। डारविन की महान् खोज के बाद वंशपरम्परा प्रणाली का एक टिकाऊ आधार मिला क्योंकि यह प्रणाली अब समुचित प्रमाणों पर आधारित थी। अतएव समाज विज्ञान और मानवविज्ञान का विकास हुआ और उन्हें नीतिशास्त्र की आवश्यक पृष्ठभूमि माना जाने लगा।

किंतु यहाँ हमें डारविन के सिद्धान्त के दूसरे पहलू से मतलब है जहाँ उसके सिद्धान्त का प्रयोग नीतिशास्त्र को एक प्राकृतिक विज्ञान बनाने के लिए किया गया है। बाद में डारविन के मत में अन्य बातों का समावेश

---

१ विलबुर एम० अरबन, फंडामेंटल्स आव् एथिक्स, पृ० ९७।

भी हो गया, इसलिए हमें जीवविज्ञान संबंधी विकास और विकासवादी नीतिशास्त्र के सम्बन्ध को समझने के लिए उन बातों पर विचार कर लेना चाहिए। डारविन के सिद्धान्त की मुख्य बातें दो थीं : जातियों का विकास और प्राकृतिक चुनाव का सिद्धान्त। किंतु अपने समय की प्रचलित धारणाओं को खपाने के लिए एक विज्ञानीय सिद्धान्त की व्याख्या और विस्तार कई तरह से किया जा सकता है। डारविन के समय में ऐसी दो धारणाएँ प्रचलित थीं : विश्वऐक्य (cosmic unity) और प्रगति। मनुष्य के लिए चीजों में व्यवस्था खोजना आवश्यक है और वह यह मान लेता है कि चीजों के मूल में कोई न कोई निरवयव (simple) पूर्ण और अटल व्यवस्था अवश्य है। अतएव विकासवाद की व्याख्या इस प्रचलित एकतावाद के अनुसार की गई। डारविन या अन्य किसी ने इस विश्वास के प्रमाण में कुछ नहीं कहा किन्तु कुछ विकासवादी विकास के व्यापार को एक निरवयव समष्टि (single whole) मानने लग गए। उनके मत में एक जाति से दूसरी जाति में विकार हो नहीं होता किंतु पशु और पौधों की असंख्यक जातियों का मूल एक ही है (जिसके लिए आज तक कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिल सका है)।

डारविन के मत से सम्बन्धित हो जाने वाली दूसरी प्रगति की धारणा थी। यह धारणा जिसे काफी मान्य समझा जाता है आधुनिक ही है। यह धारणा प्राचीन यूनानी और मध्यकालीन ईसाई विचारधारा की विरोधी है और फ्रांस की क्रांति के बाद ही अधिक व्यापक हुई है। उन्नीसवीं शती के मध्यकाल तक औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति से प्रगति की धारणा सर्वमान्य हो चली और उस काल के विचारकों को डारविन के सिद्धान्त में प्रगति की धारणा की पुष्टि मिली। विकास को प्रगति के रूप में समझने से विकास को एक निरन्तर व्यापार समझा जाने लगा और मनुष्य का मूल प्रोटोप्लाज्म (वह पदार्थ जिससे सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है) में माने जाने से मनुष्य की महिमा बढ़ गई। इससे मनुष्य को और सब जीवों से श्रेष्ठ समझा जाने लगा क्योंकि

मनुष्य का विकास निम्न से उच्च श्रेणी की ओर हुआ है। अब जीव-विज्ञानीय विकास को नैतिक विकास भी माना जाने लगा।

हर्बर्ट स्पेन्सर का नीतिशास्त्र

जीवविज्ञानीय विकास की प्रणाली को हर्बर्ट स्पेन्सर (१८२०-१९०३) ने ही नीतिशास्त्र पर लागू किया। एक दृष्टि से स्पेन्सर का नीतिशास्त्र विशेषकर बेन्थम के उपयोगितावाद का ही तार्किक अनुगामी है। बेन्थम की भाँति स्पेन्सर भी नैतिक मूल्यों की नाप और निश्चय के लिए किसी विषयगत मापदंड को चाहता था। किंतु उपयोगितावादियों द्वारा प्रयुक्त सुख का मापदंड केवल एक अनुभूति मात्र ही है, अतएव उसमें विषयगत स्पष्टता नहीं हो सकती। नैतिक मूल्यों का विषयगत (objective) मापदंड मनुष्यों के दुःख-सुख की मात्रा में न मिलकर बाह्य जगत के किसी विषयगत परिमाण (quantity) में ही मिल सकता है। अनुभूतियों का महत्त्व जीवविज्ञानवेत्ता की नज़र में गौण है; उसका प्राथमिक सम्बन्ध भौतिक जीवन से है। तब स्पेन्सर को लगा कि नैतिक मूल्य को जीवन में ही खोजना चाहिए। अनुभूति को नहीं नापा जा सकता किंतु जीवन को भौतिक होने के नाते नापा जा सकता है।

जीवन को कैसे नापा जा सकता है? अवधिक लोगों की आयु या जीवन विस्तार से। जीवन की नाप में उसका विस्तार एक बात है किंतु उसके अलावा एक और बात भी है। स्पेन्सर उस बात को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण देता है। "जंगली और सभ्य मनुष्यों की औसत आयु या जीवन-विस्तार का भेद उनके जीवन की सच्ची माप नहीं है।" स्पेन्सर के अनुसार जीवन के मूल्यांकन में आयु या विस्तार ही सब कुछ नहीं है, जीवन में पूर्णता, जिसे स्पेन्सर "चौड़ाई" कहता है, भी होनी चाहिए। आचार के विकास में जीवन में इन दोनों बातों की वृद्धि होनी चाहिए। स्पेन्सर के अनुसार जीवन के ये दो जीवविज्ञानीय पहलू—आयु और वातावरण के अनुकूल सफल संयोजनीयता (adaptability)—भी स्पष्ट किए हैं।

इस सिद्धान्त में दो बातें निहित हैं। पहली बात "एक दृष्टि से काम को करना नैतिक धारणा" है। नैतिकता की माँग हमें अपने दूसरों को हानि पहुँचाने वाले कामों को न करना ही नहीं है वरन् काम इस तरह करने चाहिए जिससे दूसरों के कामों को हानि न पहुँ और हमारे कामों में बाधा न पड़े। नियंत्रण से यदि शारीरिक स्वा सुरक्षित नहीं रह पाते तो यह अनैतिक है।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि बैलोक्रीज और मुसीमैक्स सिद्धान्तों की भाँति स्पेन्सर के सिद्धान्त अत्यधिक स्वार्थ परता को उचि नहीं ठहराते। अपनी आयु और पूर्णता की वृद्धि करना ही मूलभूत र से श्रेयस्कर नहीं है, सब प्राणियों के जीवन की आयु और पूर्णता वृद्धि होना ही श्रेयस्कर है। स्वहितवाद (egoism) और परहित (altruism) दोनों ही समान रूप से आवश्यक हैं। *समाज को निर्मि करनेवाले हर व्यक्ति के जीवन का आधिक्य आवेशतः निस्वार्थ सहय से ही प्राप्त हो सकता है। और यह दोनों बातें सम्भव हैं क्योंकि "आत्म बलिदान भी उतना ही पुराना है जितना कि आत्मरक्षण।"*

हर आचार व्यक्ति का अपने परिवेश या समाज से संयोजन है आचार का अच्छा होना या बुरा होना, प्रशंसनीय होना या दूषित हो संयोजन की सफलता या असफलता पर ही निर्भर है। संयोजन की स लता की माप व्यक्ति की अपने या दूसरों के जीवन की वृद्धि है—अ जीवन वृद्धि की माप आयु और पूर्णता है।

स्पेन्सर का सुखवाद

स्पेन्सर का आदर्श जैविक (biological) है; पशु जीवन के वि *सित रूपों पर लागू करने से उसका एक मनोविज्ञानीय पहलू भी है* अच्छे कामों से सुख और बुरों से दुख होता है किंतु सुख या दुख कि काम को तार्किक दृष्टि से अच्छा या बुरा करार नहीं दे सकता। सु जीवन को उन्नत बनाने वाली मानसिक अन्योन्याश्रित (correlative बातें हैं, दुख इसके विपरीत हैं। स्पेन्सर के अनुसार यह अन्योन्याश्र

अनुभव का सामान्यीकरण (generalisation) न होकर "विकास सिद्धान्त की आवश्यक अनुमति (deduction) है।" इस अन्योन्याश्रय के बिना चेतन प्राणियों की सत्ता असम्भव हो जाती है। स्पेन्सर इसका *प्रमाण यों देता है :*

> यदि हम सुख को चेतनता में प्रतिधारण करने योग्य अनुभव और दुख को चेतनता से निवारण करने योग्य अनुभव कहें तो हमें तत्काल यह पता चलेगा कि यदि प्रतिधारण करने योग्य चेतनता की अवस्थाएँ क्षति पहुँचाने वाले काम की अन्योन्याश्रित हों और निवारण करने योग्य लाभदायक काम की तो वे क्षति पहुँचाने वाले काम में नहीं रह सकतीं और लाभदायक काम में उनका निवारण नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में प्राणियों की वही जाति जीवित रह सकती है जिसमें अनुकूल अनुभूतियाँ जीवन को बनाये रक्खें *जबकि प्रतिकूल अनुभूतियाँ प्रत्यक्षतः या परोक्षतः* जीवन को नष्ट कर देती हैं। और अन्य बातों के समान रहते हुए वही जातियाँ अधिक जीवित रह सकी होंगी जिनमें सहानुभूति और काम का संयोजन सर्वोत्तम रहा होगा और जो सदा अधिक पूर्ण संयोजन की ओर प्रवृत्त रही होंगी।[1]

अनुभव इस अनुमिति का समर्थन बहुत हद तक करता है। शारीरिक आघातों से मानसिक क्लेश होता है और दुख की प्रत्याशा खतरनाक कामों को नहीं करने देती।

इसके अपवाद में शल्यचिकित्सा के दुख और शराब पीने के सुख *का उदाहरण दिया जा सकता है। स्पेन्सर के इसके जवाब में* दो बातें हैं। शल्यचिकित्सा के दुख और शराब पीने के सुख का बाद का असर भी तो देखना चाहिए। नशे से क्षणिक सुख मिल सकता है किंतु उससे स्वास्थ्य गिर कर बाद में दुख भी तो होता है। दूसरी ओर हम जिस

---

१ डेटा आव् एथिक्स, परि० ९

विकास का व्यापार वातावरण से आंशिक से पूर्ण संयोजन, तत्कालिक लाभप्रद वरण और तत्कालिक हानिकारक से अत्यधिक लाभ के वरण और इच्छा और कर्म के साधारण रूप से जटिल रूपों की ओर आना है। विकास व्यापार के उच्चतम स्तर का दिग्दर्शन नैतिक आदर्शों के विकास में होता है। नैतिक विकास में मनुष्य का अपने वातावरण से पूर्ण और जटिल संयोजन और जीवन को अक्षुण्ण रखने की शर्तें दृष्टिगत होती हैं।[1]

३. नीत्शे का नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र का विकासवादी दृष्टिकोण फ्रीडरिख नीत्शे (१८४४-१९००) के हाथों में उग्रतम हो जाता है। नीत्शे को समझना कठिन है; उसकी शैली स्पष्ट और चित्ताकर्षक होने से पठनीय है किंतु नीत्शे के अभिप्राय को ठीक से समझ सकना टेढ़ी खीर है। इसका प्रमुख कारण उसके चिंतन की नाटकीयता है। उसमें त्वरित गति से बदलने वाले दृष्टिक्षेप और इसलिए विरोधाभास अत्यधिक हैं। वह दार्शनिकों में सबसे ज्यादा उद्धरणीय है किंतु उसके वास्तविक अभिप्राय का पता किसी एक उद्धरण से नहीं चल सकता। किंतु इस विच्छृंखलता में भी एक प्रणाली है। "उसके विचार किसी विषय पर साधारण अभिप्राय वाली सम्मति न होकर विचारों का द्वन्द्व होता है जिससे वह किसी जटिल संश्लेषण (synthesis) की ओर जाता है।...नीत्शे गम्भीरता की एक नई धारणा देता है। उसके विषय के दर्जनों पहलू होते हैं।"[2]

दार्शनिक योद्धा के रूप में

विचारों का यह द्वन्द्व और दृष्टिक्षेप प्रणाली नीत्शे के विचित्र सन्देहवाद (scepticism) के गुण की उपज है। उसका सन्देहवाद

---

१ वेनंर फाइट, ऐन इंट्रोडक्शरी स्टडी आव् एथिक्स, पृ० ६६

२ जार्ज एलन मोरॉन. व्हाट नीत्शे मीन्स. पृ० ५

साधारण सन्देहवाद से भिन्न है क्योंकि वह स्थापित मत्यों और परीक्षण करने की स्थापित प्रणालियों में ही सन्देह न कर सामञ्जस्यपूर्ण सत्य की खोज की सम्भावना में ही सन्देह करता है। उसकी विच्छृङ्खलता वस्तुओं की वास्तविकता में विच्छृङ्खलता होने के विश्वास का ही परिणाम है। जो मनुष्य सिद्धान्तों को मानता है और सत्य को व्यवस्थित और हार्दिक समझता है वह अपने आप को धोखा देता है।

नीत्शे के अनुसार सच्चे दार्शनिक को मूल्यों के अपने मार का सृजन करना चाहिए और इस तरह से उसे इतिहास और मनुष्य के भाग्य का प्रवर्तक होना चाहिए। वह केवल मस्तिष्क से चिंतन न कर अपने रोम रोम से चिंतन करता है। वह अपने से यह नहीं पूछता कि "मैं सत्य को कितना जानता हूँ?" वरन् यह पूछता है कि "मैं सत्य को कितना कह सकता हूँ?" चूंकि वह सत्य की खोज अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक साहस से करता है इसलिए वह अपने समय के लिए बुरा होता है और विनाशकारक चुनौती से भरा संदेश देता है कि—ईश्वर मर गया है! इस कथन से नीत्शे को साधारण अर्थ में नास्तिक नहीं समझ लेना चाहिए। नीत्शे इस कथन से अनुभव के बौद्धिक विश्लेषण द्वारा ध्रुव सत्य को पकड़ सकने से इनकार करता है। नीत्शे के लिए परिवर्तनीय प्रतिभासों में मिलने वाला सापेक्षिक सत्य ही सत्य है। प्रत्येक उत्तर अपनी खोज और निर्माण के अनुषंग से सीमित है। सत्य या वास्तविकता अतल है; तथ्य और मूल्य, प्रतिभास की सापेक्षिता और इदयेच्छा की निरपेक्षिता अव्यवच्छिन्न है। दार्शनिक हार्दिक सन्तोष को छोड़ देने पर संसार में सबसे अकेला रह जाता है।

शक्ति प्राप्ति की तृष्णा (The Will to Power)

ज्ञान की दृष्टि से दर्शन के सारे महत्वपूर्ण प्रश्नों का एकमात्र उत्तर ‹ (nihilism) ही है किंतु नीत्शे का दर्शन शून्यवाद नहीं है। । हर तह में तृष्णा होती है—शक्ति प्राप्ति की तृष्णा—जो सारी

विच्छृङ्खलता को अपने बनाए सत्यों के अनुरूप गढ़ लेती है। यहाँ नीत्शे का बौद्धिक शून्यवाद पता चलता है: सत्य शाश्वत न होकर कुछ विचारों का अन्य विरोधी विचारों को नष्ट करके अपने को स्थापित करने का युद्धमान औदात्त है। शक्ति प्राप्ति की तृष्णा, मनुष्य, पशु, पेड़, पौधों और जड़ जगत् में सर्वत्र है। वह बादलों की गड़गड़ाहट, अंकुरित होते पौधों, गर्भस्थित शिशु, युद्ध में जाते सैनिकों, कलाकार के सृजन और संत के संन्यास में सभी जगह तो है। शक्ति का यह विदोहन सर्वत्र विद्यमान है, कभी उस पर आवरण पड़ा होता है और कभी नहीं। संसार से शोषण दूर करने की बात सोचना मृगमरीचिका के पीछे दौड़ना है। जीवन दूसरे के जीवन पर पनपता है और शोषण भ्रष्ट या अपूर्ण समाज का चिन्ह न होकर जीवन का सार है। इसके बिना विकास सम्भव ही कैसे हो सका होता! डारविन के अनुसार विकास जीवन संघर्ष के कारण होता है। ठीक है, किंतु हम संघर्ष क्यों करते हैं? प्रतियोगिता के बढ़ जाने पर हम मर क्यों नहीं जाते? यदि हमें जीवन की तृष्णा न हो तो जीवन संघर्ष निरर्थक हो जाता है। किंतु जीवन की तृष्णा भी जीवन की विभिन्नता को व्याख्या कर सकने के लिए निष्क्रिय धारणा है। प्राणी और विशेषकर मनुष्य जीवित रहने मात्र की अपेक्षा अपना प्रभुत्व जमाने की चिंता अधिक करते हैं। मनुष्य नैसर्गिक रूप से योद्धा है, वह हिंसक और कठोर है और अपने इन गुणों से अपनी जाति को बनाए ही नहीं रखता वरन् ऊँचा भी उठाता है। "ज्ञान हमें निश्चिन्त, व्यंग्यात्मक और प्रतापी बनने को कहता है; ज्ञान एक स्त्री है जो योद्धा को छोड़कर किसी और से प्रेम नहीं करती।"

किंतु नीत्शे किसी एक सूत्र का दास न होकर जगत की सारी विभिन्नता को स्वीकार करता है। वह उस विभिन्नता का साक्षात् मनुष्य की औदात्त और अधिकार पूर्ण महानता में, उसकी सच्चाई और एकता में, उसकी घृणा आदि में करता है। नीत्शे के मूल्यों में आत्म-प्रतिष्ठा का अभिजातीय (aristocratic) गुण सर्वश्रेष्ठ है। आत्म-प्रतिष्ठा में एक प्रकार का

से ही अपने से बाह्य और विभिन्न हर चीज़ से 'नहीं' कहती है : और यह 'नहीं' उसका सृजनात्मक काम है।[1]

एक चीनी कहावत के अनुसार "महान् व्यक्ति सार्वजनिक दुर्भाग्य होता है"; और नीत्शे के अनुसार दासों के दृष्टिकोण से सब जगह ऐसा ही है। चीनियों में ही इसको स्वीकार करने की ईमानदारी है। अन्य समाज इसमें गुप्त रूप से सहमत होकर अपनी संस्थाओं को इस तरह व्यवस्थित करते हैं कि "महान् व्यक्ति जहाँ तक सम्भव हो कम ही पैदा हों और बहुत प्रतिकूल अवस्थाओं में विकसें।" महान् पुरुष छोटे लोगों को एक दैत्य सा लगता है क्योंकि उनकी नैतिकता उस आदमी का तिरस्कार करती है जो उसका तिरस्कार करता है। वे लोग अपनी नैतिकता स्वीकार करने वालों को अच्छा कहते हैं और उससे विद्रोह और विरोध करने वाले को बुरा।

किंतु अभिजातीय पुरुष उनकी तुच्छ नैतिकता से घृणा ही कर सकता है। उसके लिए नैतिकता अपनी इच्छाओं का सफल पुष्टिकरण ही है। वह नए मूल्यों का स्रष्टा है। वह पुराने मूल्यों का मूल्यान्तरण करता है, वह अच्छे और बुरे से परे जाकर अपना मूल्यांकन करता है। वह अभिजातीय व्यक्तियों के गुणों को अच्छा कहता है और दासों के आदर्शों को बुरा। केवल वही पूर्ण नैतिकता है यद्यपि अमर्षपूर्ण लोग उसे अनैतिक कहते हैं। क्योंकि वह हरेक को अपने स्तर पर लाने की चेष्टा और हरेक को समान समझने का विरोध करता है। वह उनके आदर्श में "जीवन विरोधी सिद्धान्त; मनुष्य का विनाशक, मनुष्य के भविष्य पर एक काला पर्दा, थकान का चिह्न और शून्यता की द्रुतगामी राह" देखता है। आक्रमणकारी होने से वह प्रतिक्रियावादी व्यक्ति की अपेक्षा न्याय के अधिक समीप है क्योंकि उसे प्रतिक्रिया करने वाले व्यक्ति की भाँति गलत मूल्यांकन करने के लिए चालबाजी करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

---

१ बियाण्ड [illegible]

अतएव उसका दृष्टिकोण ज्यादा स्वतंत्र और मन ज्यादा साफ और अच्छा होता है।

फिर भी नीत्शे संघर्ष में अनिश्चितता ही देखता है। अभिजातीय नैतिकता तुच्छता का विरोध करती है। सभ्य समाज में दासों को उनकी संख्या के कारण ही सुविधा दी जाती है। ईसाई धर्म के अभ्युदय के बाद से उनका मूल्य चढ़ता रहा है। किंतु युद्ध अब तक हो रहा है और यह अब तक संभव है कि श्रेष्ठ मनुष्य अपनी शक्ति और उसके द्वारा आरोपित कठिन कर्तव्यों को समझ कर सृजनात्मक स्वभाव के स्वतंत्र मार्ग में रोड़ा बनने वाली धार्मिक या सार्वजनिक संस्थाओं को कुचल कर स्वयं शक्ति ग्रहण कर लें। शुद्ध जीवन-संघर्ष पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जीवनयापन के आधुनिक तरीके सबल की जगह दुर्बल का पक्ष लेते हैं। दुर्बल व्यक्ति सामूहिक कृत्रिमता से सबल से भी सबल बन जाते हैं। किंतु इससे वे अपने अन्दर भावात्मक मूल्य नहीं ला सकते। नीत्शे हर तरह की सबलता को महत्ता न देकर केवल नैसर्गिकतः आध्यात्मिक व्यक्ति, जो आत्मा और शरीर दोनों से योद्धा होता है, की शक्ति को ही महत्ता देता है।

किंतु हर व्यक्ति अपनी नैतिक दासता के बन्धनों को तोड़कर उन लोगों के पक्ष की ओर आ सकता है जो स्वतन्त्र और सृजनात्मक रूप से रहकर भविष्य में आने वाली मनुष्यों की स्वस्थ और शक्तिशाली जाति की नींव डालते हैं। इसकी तीन अवस्थाएँ हैं जिन्हें नीत्शे ऊँट, शेर और शिशु के रूपक से बताता है। ऊँट विनयी होता है, शेर को अपनी शक्ति का ज्ञान होता है और वह सारे बंधन तोड़कर स्वाधीनता प्राप्त कर लेता है किंतु सृजन नहीं कर सकता। बच्चा "निर्दोष, एक नया आरम्भ, एक स्वचालित चक्र, एक आद्य क्रिया होता है। सृजन के लिए जीवन को स्वीकार करना पड़ता है: तब आत्मा सजातीय हो जाती है, बहिष्कृत व्यक्ति अपने संसार को जीत लेता है।"[1]

[1] नीत्शे, दस स्पोक ज़रथुस्त्र

४. नैतिक प्रकृतिवाद की सीमाएँ

इस अध्याय में वर्णित अनेक दर्शनों को नैतिक प्रकृतिवाद भी नाम दिया जाता है क्योंकि उनमें से हरेक प्रकृति के किसी न किसी पक्ष पर आधारित है। प्रकृतिवाद का अर्थ, चाहे उसकी व्याख्या वैसे ही क्यों न की जाय, यह है कि "जो कुछ प्राकृतिक है, और जो केवल प्राकृतिक है, वही श्रेयस्कर—" उचित, प्रशंसनीय या नैतिकता के किसी और विशेषण से अनुमोदनीय है। स्पष्ट है कि इस कथन के अनेक अर्थ हो सकते हैं क्योंकि यह इस बात पर निर्भर करता है कि वाद विवाद करने वाला अनुभव के किन तत्वों और मानवी कर्म की किन प्रवृत्तियों को "प्राकृतिक" कहता है। विशद अर्थ में तो जो कुछ होता है वह प्राकृतिक ही है। किंतु प्राकृतिक शब्द का इतना विशद अर्थ लेने पर प्रकृतिवाद नैतिकता-शून्य बन जाता है क्योंकि उसके अनुसार होने वाली सभी घटनाओं और कामों को श्रेयस्कर और उचित माना जाता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण यद्यपि बिना किसी बाध के अपनाया जा सकता है तथापि वह नैतिक दृष्टि से निरर्थक होगा। नैतिक दृष्टि से कुछ कामों और उनके साध्यों को दूसरों से अच्छा मान लेना पड़ता है और यदि सभी बातें बराबर श्रेयस्कर हों तो नीतिशास्त्र को खतम होना पड़ेगा। अतएव नैतिक प्रकृतिवाद का प्रागनुभवगत प्रमाण अस्पष्ट है।

> जिस तरह पशु अपनी प्रबल प्रकृति के अनुकूल काम करते हैं क्या मनुष्य भी उसी प्रकार अपनी प्रकृति, चाहे, वह प्रबल इच्छा हो या विवेक, के अनुकूल काम नहीं करते? तब हर मनुष्य को उसकी प्रबलतम प्रवृत्ति के अनुसार काम करने दिया जाय और उसके लालच, द्वेष आदि को दोष न दिया जाय क्योंकि वह अपनी प्रकृति के अनुसार ही तो करेगा......
>
> यह अनैतिक बात इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य न्याय और सचाई के नियमों की अवज्ञा कर अपनी प्रकृति के

अनुकूल उसी तरह काम करते हैं जिस तरह वे उन नियमों का पालन करते हैं जब उन्हें कोई लालच नहीं होता......प्रकृति के अनुकूल काम करने का अर्थ यदि इच्छानुसार काम करना है तो नैतिकता में प्रकृति को पथप्रदर्शक समझना अनर्गल होगा—यही नहीं वरन् प्रकृति से हट सकना भी अनर्गल होगा और प्रकृति के अनुकूल काम करने में भी कोई अर्थ नहीं रहेगा। तब क्या कोई इच्छा के विपरीत भी कुछ कर सकेगा!'[1]

सिद्धान्त अपने तार्किक आधार वाक्यों से अधिक सार्थक मालूम पड़ते हैं। नैतिक प्रकृतिवाद प्रकृति के कुछ पहलुओं पर ही आधारित है। वह सभ्य की अपेक्षा आदिम, मानवीकी अपेक्षा जैविक प्रकृति पर अधिक जोर देता है।

विकासवादी प्रणाली की सीमाएँ

नीतिशास्त्र के प्रश्नों में विकासवादी सामग्री की बहुत सीमित आवश्यकता है। उस सामग्री को अनधिकृत महत्व देना ठीक नहीं है। समाज या आदर्श के मूल और उसके विकसित रूप में बड़ा अन्तर होता है। मनुष्य एक ओर तो अपने इतिहास से कारणात्मक भाव से सम्बद्ध है और दूसरी ओर तार्किक और गत्यात्मक भाव में अपने इतिहास से स्वतंत्र है। मनुष्य के आदर्शों का यह दोहरा पहलू हर नैतिक दर्शन को स्वीकार करना पड़ता है। नीत्शे ने भी इसकी महत्ता स्वीकार की है। वह कहता है, "नैतिकता के उद्गम की खोज और उसकी आलोचना में कोई नाता नहीं है......यद्यपि यह सच है कि किसी मूल्यांकन के उद्गम का ज्ञान उसकी महिमा को कम कर देता है और दृष्टिकोण को आलोचनात्मक बना देता है।"[2] कारणों की खोज करना विज्ञान का काम है; जीवविज्ञान और मानव विज्ञान

---

१ विदाउट ऑथेन्टिक बरबार, सर्मन २

२ नीत्शे, दि विल टु पावर, खि० १

ही मनुष्य की वर्तमान अवस्था का कारण दूरस्थ उद्गमों में खोजते हैं। नीतिशास्त्र में किसी काम के कारण की महत्ता नहीं होती वरन् काम की ही होती है क्योंकि उसे किसी साध्य की प्राप्ति के लिए जान बूझकर चुना जाता है। नीतिशास्त्र में किसी प्रथा का उद्गम आवश्यक न होकर उस प्रथा का वर्तमान मूल्य ही आवश्यक होता है। वर्तमान आदर्शों के मूल की खोज और उनके जीवित रह सकने का अनुमान करना उनकी प्रकृति पर काफी प्रकाश डाल सकता है किंतु इससे उन आदर्शों का मूल्य क्या है? यह पता नहीं चल सकता। किसी आदर्श का मूल्य और उसके जीवित रह सकने की संभावना से हम उसका आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकते हैं या उसके प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल सकते हैं। किंतु अपनी निष्ठा का आलोचनात्मक मूल्यांकन सदा द्वन्द्वात्मक (dialectical) होता है। तथ्य चाहे कैसे ही किंतु एक सीमा के अन्दर उनका समर्थन किया भी जा सकता है और नहीं भी। आदर्श के लिए अनेक लोग शहीद हो चुके हैं और होते रहते हैं। किसी खोए हुए आदर्श के लिए लड़ने में दो बातें हैं: (१) वह आदर्श अधिक काल तक रहेगा या नहीं और (२) क्या उसके पालन करने वाले के लिए उसका कुछ वास्तविक मूल्य है या नहीं। पहला प्रश्न तथ्य-सम्बन्धी है और दूसरा आदर्शात्मक है। इतिहास और मानव जाति का अध्ययन चूँकि पहले प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देता है इसलिए अतिशय प्रकृतिवादी दूसरे प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक होने का अनुमान कर लेते हैं। किंतु यह गलत है; चूँकि हमें एक दिन मरना है इसलिए क्या हम जीवन का महत्व ही न मानें?

दूसरे यदि विकासवादी मूलों को मान भी लिया जाय तो वह हमें कहाँ तक ले जाता है? विकास के व्यापार में प्रगति मानी गई है; आज की विकसित जातियाँ पहली जातियों की अपेक्षा अच्छी हैं। इसके बाद डारविन के प्राकृतिक चुनाव को माना गया है; विकास के चार अन्तराश्रित साधन माने गये हैं: विभिन्नता, जीवन संघर्ष, योग्यतम का जीवित रहना और आनुवंशिकता (heredity)। [illegible] विकास को नैतिक विकास

भी माना गया है। किंतु उपर्युक्त दोनों बातों पर आक्षेप उठाया जा सकता है। क्या विकास के सभी परिणाम अच्छे होते हैं? क्या विकास व्यापार का हर सोपान अन्य सोपानों के समान ही अच्छा है? क्या दोष पूर्ण संयोजन भी जैविक पूर्णता के आवश्यक अंग हैं? इस पर बहुत कम जीव वैज्ञानिक हाँ कहेंगे और अपनी हाँ को किसी तरह भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे। यदि विकास के कुछ परिणामों को दूसरों से अच्छा मान लिया जाय तो वे परिणाम ही श्रेयस्कर हो जाते हैं और वे किसी और ढंग से भी हो सकते थे। किंतु अच्छा संयोजन संघर्ष से ही माना गया है। यह एक ऐसी मान्यता है जिसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। डारविन ने भी इसे विज्ञानीय प्रणाली की आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक काम चलाऊ रूप में ही स्वीकार किया था। किंतु क्या विज्ञानीय प्रणाली से ही सब कुछ मिल सकता है? सीप, शंख, सफेद चूहों आदि में हमें मनुष्य की तरह संयोजन नहीं मिलता। तब क्या हम मानवी संयोजनों से पशुओं के संयोजनों की व्याख्या नहीं करते? हम मानवी उद्देश्यों और अन्तर्प्रेरणाओं को तो जानते हैं किंतु पशुओं की अन्तर्प्रेरणाओं का अनुमान मात्र ही कर सकते हैं। चूँकि हम जानवरों के आन्तरिक जीवन को नहीं जानते और नहीं जान सकते इसलिए हमें उनमें उद्देश्य आदि का आरोप नहीं करना चाहिए। ठीक है, किंतु इससे हमें जानवरों के आचरण के नमूने पर मानवी आचार के बारे में आदर्शात्मक निष्कर्ष न निकालने की चेतावनी मिलती है। हम मनुष्य के आचार के पीछे चेतन उद्देश्यों को जानते हैं और नैतिक खोज इस ज्ञात क्षेत्र में ही होनी चाहिए।

स्पेन्सर के जीवन की लम्बाई और चौड़ाई (पूर्णता) के भेद पर क्या कहा जाय? जिस तरह मिल ने उपयोगितावादी मापदंड में गुणात्मक भेद से कठिनता पैदा कर दी थी उसी तरह स्पेन्सर ने भी चौड़ाई की धारणा से अपने सिद्धान्त में दुरूहता उत्पन्न कर दी है। चूँकि जीवन को नापा जा सकता है अतएव स्पेन्सर ने सुख के मापदण्ड की जगह जीवन

का मापदण्ड रक्खा था। आयु और लोगों की संख्या से जीवन को नापा जा सकता है? किंतु जीवन की पूर्णता को कैसे नापा जा सकता है? व्यक्ति के अपने वातावरण के संयोजन की मात्रा से। किंतु व्यक्तियों में ज्यों-ज्यों संयोजन की विभिन्नता और जटिलता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उनका वातावरण भी परिवर्तित होता जाता है। आदिम शत्रुओं के विरोध में संयोजन करने पर मनुष्य ने नये अस्त्रों का उपयोग सीखा और इस तरह युद्ध कला को विकसित कर अपने परिवेश में नई जटिलताएँ पैदा कर लीं जिससे नए तरह के संयोजन आवश्यक हो गए। जो व्यक्ति शूरता के काल या भाप के युग में अपने परिवेश से आदर्श रूप से संयोजित रहा होगा वह इस बिजली के युग के परिवेश में ठीक तरह से संयोजित नहीं हो सकता। इसी तरह हम यह कैसे कह सकते हैं कि हमारा जीवन उस युग के लोगों के जीवन से अधिक पूर्ण है? जीवन की लम्बाई के अलावा जीवन की पूर्णता प्रगति और नैतिक कामों की महत्वपूर्ण कसौटी है। किंतु यह ऐसी कसौटी नहीं है जिस पर विज्ञानीय कार्यविधि का उपयोजन किया जा सके।

नीत्शे के आदर्श की सीमाएँ

अब तक की गई आलोचना में नीत्शे के आदर्श को नहीं छुआ गया है क्योंकि वह तार्किक प्रमाण पर आधारित नहीं है। नीत्शे मूल्य को स्वीकार करता है और मूल्य को स्वीकार करना उसके अनुसार एक सृजनात्मक काम है। नीत्शे की रचनाओं में दोष ढूँढ़ना व्यर्थ है। रूपक और अनुप्रासमयी भाषा से उसकी बहुत सी बातें असंगत जान पड़ती हैं। उसकी रचनाओं में जीवन के प्रति एक काव्यात्मक अन्तर्दृष्टि मिलती है, कोई तार्किक विवेचन नहीं। अतएव हमें यह पूछना चाहिए कि क्या नीत्शे की जीवन की धारणा सही है और क्या वह सम्पूर्ण मानवी स्वभाव के साथ न्याय करती है?

नहीं करती। उसकी मर्यादा ही उसे आकर्षक बना देती है, क्योंकि यह जीवन के एक गुप्त पहलू का चित्रण करती है। इस सीमित अन्त-

दृष्टि का बड़ा महत्त्व है। यह हमें इस बात के खतरे से सचेत करती है कि हमारी नैतिकता कहीं हमारी तुच्छ अभिरुचियों का आवरण न बन जाय। हमें इस बात की चेतावनी मिलती है कि हमारी पीढ़ी के महान् व्यक्ति सार्वजनिक मापदण्डों के अनुसार चलने की हमारी आदत से नष्ट हो रहे हैं। हमें यह बताया जाता है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त निर्दयता पूर्ण होता है और हम जो प्रतिभावान नहीं हैं उसके प्रति आमर्ष रख सकते हैं। किंतु हमारी एक पक्षता को संतुलित करने के मूल्य के अलावा मानवेतर मानव (superman) की धारणा सही नहीं है क्योंकि वह मनुष्य की अन्तर्प्रेरणाओं के एक वर्ग के विकास को ही महत्त्व देती है और दूसरों को हेय और तिरस्कृत समझती है। प्रभुत्व प्राप्ति की तृष्णा के साथ-साथ मनुष्य में सौहार्द, न्याय प्रेम और आत्मसमर्पण की इच्छाएँ भी होती हैं। मनोविज्ञानीय तथ्य के रूप में इन प्रवृत्तियों की उपस्थिति से इनकार नहीं किया जा सकता। हमारे पास उनको कम प्रकृत मानने की कौन सी कसौटी है? अगले अध्याय में हम नीत्शे द्वारा प्रशंसा की गई प्रवृत्तियों की विपरीत प्रवृत्तियों से जन्य कुछ नैतिक आदर्शों का विवेचन करेंगे।

५

कर्तव्य की भावना

जिस नैतिक स्थिति में कर्तव्य को प्रधानता नहीं होगी वहाँ नैतिक सिद्धान्तों में कुछ न कुछ कमी जरूर होगी जैसा कि हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं। यदि प्रवृत्तियों, पसन्दों आदि से अलग कर्तव्य की सत्यता न मानी जाय तो नैतिक समस्या का लोप हो जाता है और केवल यही तथ्य रह जाता है कि अमुक समय किस चीज को पसन्द किया जाता है। इस दुविधा से कोई छुटकारा नहीं है। या तो हम हर समय अपनी इच्छा-वश ही काम करते हैं (और यदि यही अन्तिम निर्णय हो तो सारा नैतिक विवेक निरर्थक और 'आग्रह' शब्द धोखा देने वाला है) या हम कुछ कामों को किसी सिद्धान्त (चाहे वह दोषपूर्ण और अस्पष्ट ही क्यों न हो) के आग्रह के अनुसार करते हैं।

मनुष्य में कर्तव्य, उत्तरदायित्व, उचित को देख सकने और सम्मानित काम करने की भावना होती है चाहे मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक उसकी कैसी ही व्याख्या क्यों न करें। कर्तव्य के स्वभाव की ओर पहले अध्याय के तीसरे खण्ड में इशारा किया गया था। अगले अध्याय में वर्णित नैतिक दर्शन में कर्तव्य की प्रमुखता मानी गई है और कर्तव्य को सुखवाद और प्रकृतिवाद की भाँति गौण नहीं माना गया है।

१ कर्तव्य और सदसद्विवेक (Duty and Conscience)

जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं जब क्षणिक प्रलोभन की तीव्रता कर्तव्य को भुला देती है। कर्तव्य और प्रलोभनों का सम्बन्ध अस्थिर है। कर्तव्य की भावना के स्वर में आदेश रहता है। क्षणिक प्रलोभन हमें कर्तव्य पराङ्मुख बना सकता है किंतु सुस्थिर होने पर हमें पश्चाताप

होता है कि हमने अपने कर्तव्य को भुला दिया था। कर्तव्य में यह भावना निहित होती है जिसे हम अपना आदर्श समझते हैं और उसके अनुरूप होने की कामना करते हैं। कर्तव्य भावना में इच्छाओं से अधिक आवेश और मर्मस्पर्शिता होती है किन्तु फिर भी हम इन्द्रिय प्रलोभनों के प्रभाव में कर्तव्य को भूल जाते हैं।

तब कर्तव्य की स्वतंत्र सत्ता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है? क्या इस बात का आत्मगत प्रदर्शन किया जा सकता है कि नैतिक आग्रह या कर्तव्य और इच्छाओं या प्रवृत्तियों में मूलभूत भेद है? हाँ, किया जा सकता है, किन्तु दो शर्तों के साथ। मूलभूत भेद समस्याओं से सापेक्ष होता है और केवल नीतिशास्त्र में ही कर्तव्य और इच्छा के मूलभूत भेद को सिद्ध करने की जरूरत है। दूसरे, तर्क द्वन्द्वात्मक होगा। द्वन्द्वात्मक प्रणाली में ही तथ्य की जगह उनके अर्थों को अच्छी तरह समझा जा सकता है। द्वन्द्वात्मक प्रणाली में स्वीकृत अर्थ से ही प्रारम्भ किया जाता है और उस अर्थ का विश्लेषण करके उसमें निहित अन्य अर्थों को देखा जाता है।

सुखवाद, उपयोगितावाद और प्रकृतिवाद की ऊपर की गई आलोचनाओं में अनुभव की व्याख्या के लिए कर्तव्य की धारणा का प्रमाण दिया हुआ है। पहले सुखवाद को लीजिए। सुखवाद को एकरूपता देने पर या तो वह नैतिक सिद्धान्त नहीं रहता या फिर उसमें कर्तव्य निहित रहता है। यदि सुखवादी सूत्र "सदा ऐसा काम करो जिससे ज्यादा सुख और कम से कम दुख मिले" की व्याख्या यों की जाय कि "सदा इस तरह से काम करो कि उसके करते समय अधिक सुख और कम से कम दुख मिले" तो इससे सुखवाद नीतिशास्त्र का सिद्धान्त नहीं रह जाता क्योंकि जो अनिवार्य है उसमें नैतिक आग्रह या कर्तव्य नहीं हो सकता।

दूसरी ओर यदि सुखवादी सूत्र की व्याख्या कुछ-कुछ एपीक्यूरस के ढंग पर की जाय और उसका अर्थ "इस तरह काम करो कि भविष्य के लिए अधिक सुख और कम से कम दुख मिले" लगाया जाय तो स्पष्ट

है कि यहाँ क्षणिक प्रवृत्ति के विरोध में एक आदर्श को सामने रक्खा जा रहा है। वर्तमान सुख हमें एक दिशा की ओर खींच रहा है किंतु भविष्य के सुख को सुरक्षित बनाने के लिए वर्तमान इच्छा पर नियंत्रण करना हमारा कर्तव्य है। इस सूत्र की सार्थकता का अर्थ यह है कि हमारा वर्तमान 'अहम्' हमारे भविष्य के 'अहम्' के प्रति कर्तव्य को स्वीकार करता है। इसको कोई भी नाम दिया जा सकता है। किंतु द्वन्दात्मक सिद्धान्त फिर भी लागू होता है और पहले की दुविधा का निर्माण विश्लेषण के एक नए स्तर पर किया जा सकता है। मान लीजिए सुखवादियों का तर्क यह हो कि भविष्य के दुख-सुख की मानसिक अनुभूति हमारे वरण को सचालित करती है क्योंकि वरण करते समय वह अनुभूति स्वयं कुछ सुखमय और कुछ दुखमय होती है। तब कोई नैतिक समस्या नहीं होगी क्योंकि हम आवश्यक रूप से उसी काम का वरण करेंगे जिसका मानसिक प्रभाव हमारे लिए वर्तमान में ज्यादा सुखकर और कम दुखकर होगा। वरण की संभावना और नैतिक समस्या तभी हो सकती है जब कि हमारी वर्तमान अनुभूतियाँ—भविष्य के सुख-दुख का विचार करने में वर्तमान सुख-दुख—निरपेक्ष न हों। यदि हम अपनी अनुभूतियों के विरुद्ध किसी ऐसे हित को जो प्राप्य तो हो किंतु अवश्यम्भावी न हो अपने सामने नहीं रख सकते तो वरण और नैतिक समस्या नहीं हो सकती। भविष्य के हित का विचार वर्तमान इच्छाओं से मुक्तकर नहीं होता किंतु उससे हमें भविष्य में अधिक सुख मिलने की आशा होती है और हम उसका वरण करना अपना कर्तव्य समझते हैं। इस प्रकार विशुद्ध स्वहितवादी नैतिकता में भी भविष्य के लिए कोई न कोई कर्तव्य माना जाता है।

उपयोगितावाद में कर्तव्य की स्वतंत्र धारणा को मानना और भी आवश्यक है। बेन्थम और मिल दोनों ने यह माना है कि किसी व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ स्वार्थपूर्ण हो सकती हैं जब कि उपयोगितावाद का आदर्श परार्थ है। उनके अनुसार मनुष्यों को इस तरह शिक्षित करना चाहिए जिससे वे स्वार्थपूर्ण काम न कर सकें और समाज का सुधार ऐसा होना

[illegible] समाज के अधिकतम सुख के लिए काम क[illegible] [illegible] को इस काम को करने का सुख उसी अनुपात में मिले। [illegible] सामंजस्य का सुझाव है किंतु यह मिल और बेन्थम द्वारा [illegible] [illegible] समाधान नहीं करती। यह [illegible] करती है कि [illegible] और [illegible] समाज में व्यक्ति को उसके कर्म [illegible] सुख या दुख उसी अनुपात में मिलेगा जिस अनुपात में [illegible] ऊपर प्रभाव डालेगा। किंतु विकसित समाजों [illegible] नहीं है। बेन्थम और मिल के कथनानुसार तब हमें समाज का सुधार करना चाहिए। इस प्रकार समाज का सुधार करना हर व्यक्ति का कर्तव्य है चाहे उसको इस परोपकार में उतना सुख न मिले जितना कि स्वार्थपूर्ण काम में। अतएव उपयोगितावादी किसी काल में सुख के अतिरिक्त कर्तव्य भावना को भी मान्यता देता है।

स्पेन्सर भी कर्तव्य को स्वतंत्र धारणा को मानता है क्योंकि उसके बिना जातियों का विकास नैतिक प्रश्नों में उपयुक्त नहीं हो सकता। स्पेन्सर के अनुसार विकास-व्यापार श्रेयस्कर है इसलिए उसको आगे बढ़ाना हमारा कर्तव्य है। स्पेन्सरीय दर्शन में कर्तव्य को प्रमुख और स्वतंत्र धारणा माना गया है क्योंकि यदि गहराई से देखा जाय तो स्पेन्सर सुखवादी नहीं है। वह जाति के जैविक स्वास्थ्य को ही श्रेयस्कर मानता है और इसलिए उसको आगे बढ़ाना हरेक का कर्तव्य है।

कर्तव्य क्या है?

कर्तव्य को तार्किक दृष्टि से प्रवृत्ति से स्वतंत्र मानने का यह अर्थ नहीं है कि उनका भेद हर मामले में स्पष्ट होता है। कर्तव्य का इच्छाओं और प्रवृत्तियों से अस्थिर सम्बन्ध होता है। किंतु मानवी अनुभव की जटिलता में बहुत सी मूलभूत रूप से आवश्यक धारणाएँ मिल जाती हैं जिनकी रूपरेखा स्पष्ट नहीं होती। किंतु उस अस्पष्टता से उनका अर्थ दुरूह नहीं होता। कर्तव्य में बहुत सी इच्छाएँ और विकार हो सकते हैं किंतु उन

कर्तव्य के ऊपर कोई आँच नहीं आती। यहाँ पर यह प्रश्न नहीं है कि कर्तव्य हर स्थिति में स्वयंसिद्ध होता है या नहीं वरन् कर्तव्य का सामान्य अर्थ क्या है।

जी० ई० मूर की परिभाषा के अनुसार कर्तव्य "वह काम है जिससे संभव वैकल्पिक कामों की अपेक्षा संसार का अधिक हित होता है।"[1] यह परिभाषा हित के पूर्वज्ञान की अपेक्षा रखती है। मूर के अनुसार ठीक ठीक परिभाषा के असम्भव होने पर भी हित के अर्थ को समझा जा सकता है। मूर ने कर्तव्य में संभव वैकल्पिक काम माने हैं : कर्तव्य वे संभव काम हैं जिन्हें व्यक्ति यदि चाहे तो कर सकता है। आँधी को रोकने से संसार का बहुत हित हो सकता है किंतु चूँकि आँधी को रोक सकना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है इसलिए आँधी को रोकना मनुष्य का कर्तव्य भी नहीं है। कर्तव्य के मामले में यह नहीं पूछा जाता कि किसी काम का कुछ अच्छा परिणाम होगा या नहीं किंतु यह पूछा जाता है कि उस काम से संसार का अत्यधिक संभव हित या "अन्य कामों की अपेक्षा उस काम का कुल परिणाम अच्छा होगा" कि नहीं। कोई काम कर्तव्य तब बनता है जब (१) उसको करना हमारे हाथ की बात हो, (२) अन्य कामों की अपेक्षा उसमें ज्यादा हित हो और (३) उस काम का हित हमारे लिए ही अच्छा न होकर उससे प्रभावित होने वाले सभी लोगों के लिए अच्छा हो।

सदसद्विवेक (Conscience) क्या है ?

कर्तव्य और सदसद्विवेक में विषयापेक्ष (objective) और विषयिसापेक्ष (subjective) अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। हमें किसी स्थिति में जो कुछ करना चाहिये वह कर्तव्य है; सदसद्विवेक उस कर्तव्य में नैतिक भेद पता लगा सकने की क्षमता है। सदसद्विवेक नैतिक भेद का ज्ञान

[1] प्रिंसिपिया एथिका, पृ० १४८ और १८०-१८१

चला सकने की क्षमता है। सद्सद्विवेक अनुभूति और चेष्टा से अलग जानने का एक ढङ्ग है चाहे उसमें अनुभूति और चेष्टा कितनी ही क्यों न हो। सद्सद्विवेक उचित और अनुचित के भेद को अधिक या कम स्पष्टता से जानने का अधिकरण (faculty) है। अतएव उसे नैतिक अन्तर्दृष्टि कहा जा सकता है क्योंकि वह विश्लेषण का परिणाम न होकर एक तत्कालिक मानसिक प्रक्रिया है।

सद्सद्विवेक कभी कभी धोखे में भी डाल देता है। आत्मसंयम और गम्भीर मनन से सद्सद्विवेक को विकसित किया जाता है; उपेक्षा करने से वह नष्ट हो जाता है। कर्तव्य और सद्सद्विवेक, विषय (object) और विषयि (subject) की संवादिता नैतिक अन्तर्दृष्टि की किसी प्रक्रिया में अपूर्ण हो सकती है। स्थूल सद्सद्विवेक किसी नैतिक स्थिति और उसके कर्तव्यों को अस्पष्ट तरह से समझेगा जैसे परिक्षीण समझ गणित की समस्या को नहीं समझ सकती। बौद्धिक, ऐन्द्रिक, आन्तरिक हर प्रकार के बोध में द्वैत सम्बन्ध होता है। एक ओर तो चिंतन करने वाला, भेद करने वाला, जानने वाला, याद रखने वाला विषयि (subject) होता है और दूसरी ओर चिंतन किया गया, भेद किया गया, जाना गया, याद रक्खा गया विषय (object) होता है। विषयि और विषय में अपृथकता है। वास्तविक सत्ता में वे अन्योन्याश्रित होते हैं और हर स्थिति में एक दूसरे के पूरक होते हैं। किंतु यद्यपि विषयि और विषय अपृथक हैं तथापि उनकी स्वतन्त्र विभिन्नता की क्षमता के कारण उनमें भेद किया जा सकता है। देखने की क्रिया में उनकी विभिन्नता स्पष्ट है। यदि आँखें नींद से भरी हों तो सब कुछ धुँधला दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार एक स्थूल सद्सद्विवेक कर्तव्यों को नहीं देख सकता, स्वार्थरत विवेक कर्तव्य पर पुरुषार्थों का आवरण डाल सकता है और अस्वस्थ विवेक बाह्य सत्ता न रखने वाले काल्पनिक कर्तव्यों को गढ़ सकता है। अतएव अपनी आंतरिक क्रियाओं का बाह्य स्थितियों से उचित समन्वय कर के ही सद्सद्विवेक को विकसित किया जा सकता है।

सद्सद्विवेक भेद ही नहीं करता वरन् आदेश भी देता है। मनुष्य को उस आदेश के अनुसार काम करना पड़ता है। सद्सद्विवेक के आदेशात्मक होने के कारण उसकी व्याख्या धार्मिक तौर से की जाती रही है और उसे दैवी संदेश समझा जाता रहा है।

फ्रायड के मनोविश्लेषण में सद्सद्विवेक की व्याख्या और ही तरह की जाती है। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में फ्रायड ने सद्सद्विवेक को मानवी मस्तिष्क में बचपन के मानसिक मनोमालिन्य के कारण दबी शक्तियों का ढेर कहा था। ये दबी हुई शक्तियाँ मनुष्य के हर सद्सद्विवेक के अनुसार किए गए काम के पीछे होती हैं। उनसे अवसर विशेष पर विवेक की सबलता और दुर्बलता की व्याख्या तो की जा सकती है किंतु ये सद्सद्विवेक के नैतिक अधिकार की व्याख्या नहीं कर सकतीं। उनको कर्त्तव्य और विवेक के वाद विवाद में घसीटना भ्रामक हो सकता है। दर्शन के विद्यार्थी को तत्त्व और व्याख्या में धोखा नहीं खाना चाहिए। विशप बटलर का कहना है कि "हर चीज़ वही है जो वह है और वह दूसरी चीज़ नहीं है।" कर्त्तव्य कर्त्तव्य है और सद्सद्विवेक सद्सद्विवेक, चाहे मानवी प्रक्रियाओं के प्रसंग में उनका सम्बन्ध कैसा ही क्यों न हो। हर अध्ययन क्षेत्र अपनी विशेष समस्याओं के उपयुक्त ही समानता और भेद देखता है। मनोवैज्ञानिक अपनी समस्याओं की उपयुक्तता के अनुसार सद्सद्विवेक के कामों का वर्गीकरण कर लेता है किंतु नैतिक निश्चयों या नैतिक मूल्यों के सिद्धान्त निर्माण में अन्तर्प्रेरणाओं का वर्गीकरण और मनोवैज्ञानिक द्वारा उसकी व्याख्या उतनी आवश्यक नहीं है जितना आवश्यक यह है कि हम उस अन्तर्प्रेरणा का अनुभव किस तरह करते हैं और उससे किस तरह संचालित होते हैं। दूसरे के प्रति सच्चा रहना और उसे धोखा देना दोनों ही अन्तर्प्रेरणाएं हैं किंतु नैतिक दृष्टि से उनका भेद निरपेक्ष है।

मनोविश्लेषण की व्याख्या के अनुसार यदि सद्सद्विवेक अपने दोषों पर आवरण डालना और उनकी क्षतिपूर्ति करना और बचपन से दबी

यदि हमें निर्देश करने वाले भावनों की विरोधी आत्मगत अन्तर्प्रेरणाएँ हो हैं तो हम किसके अनुसार काम क्यों करते हैं और हमें क्यों करना चाहिए ! और तब हमारे पास सदसद्विवेक को शिक्षित और उन्नत करने की कौन सी कसौटी है ! क्षतिपूर्ति की सभी अन्तर्प्रेरणाओं का नैतिक समर्थन नहीं किया जा सकता: अपने साथियों के आदेशों और प्रवृत्तियों की आलोचनात्मक परीक्षा जरूरी है; आत्मविद्रोह आत्मसंयम की कोई कसौटी नहीं है। मनोविश्लेषण प्रणाली नैतिक प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती। कुछ लोग यह मानते हैं कि नैतिक प्रश्नों का कोई उत्तर हो ही नहीं सकता; उनके दृष्टिकोण का यदि तार्किक विस्तार किया जाए तो वह नैतिक तटस्थता की ओर ले जाता है। अन्य लोग इस भयंकर सत्यवादी परिणाम से डर कर अपना सदसद्विवेक किसी व्यक्ति या संस्था को समर्पित कर देते हैं। जो लोग इस प्रश्न को गम्भीरता से लेते हैं और नैतिक अधिकार का आधार ढूँढ़ते हैं वे तीन वर्गों में आते हैं: अन्तर्साक्ष्यवादी (intuitionist) जो सद्सद्विवेक की व्याख्या मनुष्य में उचित और अनुचित को प्रत्यक्षतः जान सकने वाली अन्तरस्थ "नैतिक भावना" से करते हैं; बुद्धिवादी (rationalists) जो सद्सद्विवेक को वहीं तक ठीक मानते हैं जहाँ तक वह बुद्धि के अनुरूप होता है; और धार्मिक नैतिकवादी जो सद्सद्विवेक का मूल और प्रमाण एक उच्च शक्ति में मानते हैं।

२. नैतिक अन्तर्साक्ष्यवाद (Ethical Intuitionism)

अन्तर्साक्ष्यवाद के अनुसार मनुष्य मूलभूत वास्तविकता को प्रत्यक्षतः जान सकता है और सत्य और असत्य में भेद कर सकता है। जिस प्रकार आँख संतरे को लाल देखती है और तिमिर रोगियों के संतरे को ... सकने से भी संतरे के लाल होने का बाध नहीं होता ... किसी काम को प्रशंसनीय और दोषपूर्ण देख लेता ... होते रहने पर भी उसका बाध नहीं होता। नित्यप्रति

के अनुभव से स्पष्ट है कि लोगों का अधिकतर आचार अन्तर्नाद से संचालित होता है: कोई आदमी हमें ईमानदार 'लगता' है तो कोई बेईमान; कभी कभी उपर्युक्त तार्किक कारणों के अभाव में भी हम अपने कर्तव्य को 'देख' लेते हैं। हमारे अन्दर स्थिति का निश्चय कर लेने की क्षमता है, बाद में हम उसमें हेर फेर कर सकते हैं किंतु हेर फेर करना भी नया निश्चय करना है। इसमें बुद्धि की प्रक्रिया भी हो सकती है किंतु यदि उसे सीमित और नियंत्रित नहीं किया जायगा तो वह विरोधाभासों की ओर ले जायगी। नैतिक मामलों में उचित और अनुचित में भेद कर सकने की नैसर्गिक क्षमता होनी चाहिए।

उहात्मक भावना (The Illative Sense)

कार्डिनल न्यूमन (१८०१-१८९०) ने (अपनी पुस्तक 'ए ग्रामर आव् एसेन्ट' में) इस अन्तर्नाद को उहात्मक भावना कहा है जो किसी जटिल स्थिति की सम्पूर्णता को स्वभावतः समझ लेने का तरीका है। न्यूमन इस उहात्मक भावना पर नैतिक समस्याओं के प्रसंग में विचार न कर धार्मिक प्रसंग में ही करता है तो भी उसका प्रतिपादन इतना अच्छा है कि उसे अन्तर्नादवाद के सम्प्रदायों का परिचय देने के लिए उद्धृत किया जा सकता है।

न्यूमन के अनुसार सारे ज्ञान में अनुज्ञा (assent) का एक अबौद्धिक (non-rational) तत्व होता है। तार्किक और अनुभवगत प्रमाण्य काफी नहीं होता; हमें उनसे तभी आश्वासन मिलता है जब हम उनसे आश्वासन लेने की इच्छा रखते हों। सैद्धान्तिक दृष्टि से हर प्रतिज्ञा (proposition) में उपपत्ति (probability) ही होती है। किंतु साधारणतया विश्वास का प्रमाण के ऊपर आधिक्य होता है। हम यह विश्वास क्यों करते हैं, न्यूमन पूछता है, कि ग्रेट ब्रिटेन एक द्वीप है! यहाँ पर यह प्रश्न नहीं है कि आकाश में जाकर या समुद्र के चारों ओर जहाज पर ग्रेटब्रिटेन को द्वीप सिद्ध किया जा सकता है किंतु इसको द्वीप मानने का क्या आधार है? यदि हम विचार करना बन्द कर दें तो उसके

...यार निम्नलिखित होंगे : हमें बचपन में पढ़ाया गया कि ग्रेट ब्रिटेन एक ...प है और उसे नक्शे में भी द्वीप की तरह ही दिखाया जाता था; उसके ...प होने पर किसी ने कभी कोई सन्देह नहीं किया था वरन् सब लोग उसका द्वीप होना स्वीकार कर लेते थे। किंतु इन बातों में उपस्थता ही हो सकती है, निश्चितता नहीं। यदि कोई हमसे यह कहे कि भारत ग्रेट ब्रिटेन से भूमि की एक पट्टी से जुड़ा हुआ है जो हमसे गुप्त रखने के कारण बताई नहीं जाती तो हम उसकी मूर्खता पर केवल हँस भर देंगे। किंतु न्यूमन पूछता है कि "क्या कोई अपनी इस निश्चितता के सारे कारणों का प्रमाण दे सकता है?"

न्यूमन इसका समाधान यों करता है कि उन स्थितियों में जहाँ विश्वास की प्रधानता रहती है निर्णय 'तर्कातीत' (supra logical) होता है जो "हमारी बौद्धिक शक्तियों का स्वस्थ और बाल की खाल निकालने से अधिक व्यापक काम है।" वह "बाल की खाल निकालने' के विरोध में "व्यक्ति की बुद्धि में निहित एक जीवित अधिकरण ... प्रक्रिया है" किंतु फिर भी "वह तार्किकता का पूरक है।" ... निरवयव (simple) और एकतामय होता है और उससे सत्य प्रत्यक्ष साक्षात् होता है। यह 'ऊहा' (Illative Sense ... हर मनुष्य में होती है किंतु उसको न्यूटन, नैपोलियन आदि जैसे महान् व्यक्तियों में ही देखा जा सकता है। जब वह नैतिक मामलों में सक्रिय होती है तो उसे सदसद्विवेक कहा जाता है। बुद्धि का पूरक होते हुए भी वह उचितानुचित को समझने का बुद्धि से परे साधन है।

"नैतिक भावना" का सम्प्रदाय (The "Moral Sense" School)

उपर्युक्त सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने ही अन्तर्मानसवाद का उपयोग नीतिशास्त्र में किया था। उन लोगों में शैफ्टसबरी का तीसरा अर्ल (१६७१-१७१३) ही प्रमुख है।

मस्तिष्क, जो अन्य मस्तियों का दर्शक है, अपनी आँख और कान के बिना नहीं रह सकता; अपने आँख-कान से वह

चीजों में भेद करता है और अपने सामने आने वाली हर भावना और विचार को तोलता है।[1]

मस्तिष्क जिस तरह से बाह्य जगत की वस्तुओं को स्पष्ट देखता है उसी तरह वह मानवी स्वभाव के अच्छे और बुरे, मानवी प्रेम में कटु और नम्र, मानवी आचार में पुण्य और पाप में भेद करता है। शैफ्टसबरी का विश्वास था कि मस्तिष्क सामाजिक मामलों में भी "सार्वजनिक या जातीय हित और अहित में तत्काल भेद कर लेता है।" जब मानवी इच्छाओं और प्रवृत्तियों पर आधारित मानवी आचार मस्तिष्क के सामने विभिन्न दृष्टियों में आता है तो मस्तिष्क धोखा भी खा जाता है किंतु पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण में भी हृदय निश्चय करता रहता है—वह तटस्थ नहीं हो सकता। अतएव प्रत्येक नैतिक निर्णय में जोखिम भरा रहता है क्योंकि हर उचित और सही काम के वरण करने में "हृदय को एक नया उत्तरदायित्व लेना पड़ता है।" यदि वह इसमें लगातार असफल होता है तो वह भ्रष्ट है। उसे बुद्धि से सचालित और उन्नत किया जा सकता है और धर्म (Virtue) का आरोप वस्तुतः बौद्धिक प्राणी में ही किया जा सकता है। किंतु बुद्धि उचितानुचित में भेद करने की प्रवृत्ति को सुधार ही सकती है, उसका सृजन नहीं कर सकती।

इंग्लैंड में शैफ्टसबरी का सबसे प्रमुख अनुयायी जोजेफ बटलर (१६९२-१७५२) था।

> हर मनुष्य में सदसद्विवेक का एक श्रेष्ठ सिद्धान्त है जो उसके हृदय के आन्तरिक सिद्धान्तों और उसके बाह्य कामों में भेद करता है, जो अपने ऊपर और उन कामों पर निर्णय देता है, जो कुछ कामों को अच्छा, न्यायसंगत और उचित बताता है और कुछ को बुरा और अनुचित; जो किसी की सम्मति या

---

[1] ऐन इन्क्वायरी कंसर्निंग वर्च्यू ऑर मेरिट, पु० १, भाग २, खण्ड ३

३. कामों, शब्दों या अन्य प्रतिज्ञाओं से एक सत्य प्रतिज्ञ या चीज़ों की अनुरूपता से इनकार किया जा सकता है......

४. सत्य प्रतिज्ञा में बाधक बनने वाला या चीज़ों की अनुरूपता को अस्वीकार करने वाला कोई काम उचित नहीं हो सकता।

वोलैस्टन की उचित और अनुचित की परिभाषा का सिद्धान्त और आधार उसकी तीसरी मान्यता में ही ज्वलन्त रूप से मिलता है। वोलैस्टन व्याख्या करता है :

यह निश्चित है कि बहुत से कामों और संकेतों में अर्थ होता है। रोने, हँसने आदि को हर मनुष्य समझता है; ये एक प्रका की व्यापक भाषाएँ हैं...मनुष्य के आचारीय जीवन में ऐसे बहु से काम हैं जिनका प्रकृति में बड़ा महत्व है और उनके महत्व को कोई तटस्थ निर्णायक भी देख सकता है; उनमें कु ऐसी बातें भी निहित होती हैं जिन्हें बड़ी आसानी से समझा सकता है मानो वे शब्दों में व्यक्त की गई हों। अतएव काम जो युद्ध बनाते हैं यदि यह न हो तो उनमें सत्य ... हो जाता है।

शब्दों की भाँति मनुष्य के कामों में भी सार्थकता मानना सिद्धान्त को एक आवश्यक देन है। वोलैस्टन का एक उदाहरण ल "यदि सैनिकों का एक समूह किसी दूसरे समूह को आते देखकर गोली चला दे तो इसका अर्थ यही होगा कि दूसरा समूह शत्रुओं और यदि वह समूह शत्रुओं का न हो तो सैनिक भाषा में उस चलाना क्या अनुचित नहीं कहा जायगा ?" यदि गोली गलती से हो जाय तो भी वह अनुचित कहा जायगा; अनुचित अनुचित ... कोई भी इरादा या अभिप्राय क्यों न रहा हो। दो ... सम्पन्नता कर्ता के ज्ञान या अज्ञान पर निर्भर न ... सार्थक है और उनका अर्थ समझा और बता

है और "जिस वस्तु में अर्थ होता है वही सत्य या असत्य हो सकती है।" इससे यह नतीजा निकलता है कि "कोई मनुष्य नैतिक हित या अहित (या उचित और अनुचित) को शब्दों की तरह कामों से भी प्रकट कर सकता है।"

किंतु सच्चे और झूठे नैतिक निर्णय में भेद कर सकने की हमारे पास कौन सी कसौटी है? वोलैस्टन विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों द्वारा प्रस्तुत की गई कसौटियों पर विचार करता है। प्रकृति का अनुसरण किया जा सकता है यदि उसका अर्थ "वस्तुओं के स्वभाव के अनुसार (अर्थात् उनको यथातथ मानकर) काम करना हो।" किंतु अक्सर प्रकृति के अनुसरण का दूसरा ही अर्थ लगाया जाता है और लोग अपनी ही प्रकृति का अनुसरण करने लगते हैं और चूँकि उनके स्वभाव में पशुता का अंश भी होता है इसलिए "वे एक ऐसे पथप्रदर्शक को चुनते हैं जो उन्हें भ्रष्ट कर सकता है क्योंकि पशुता का अंश बौद्धिक अंश पर व्यापक हो सकता है।" तो क्या बुद्धि को कसौटी माना जाय? उचित तर्क आवश्यक है यदि उससे हमारे बौद्धिक अधिकरणों का सही प्रयोग होता है तो। किंतु अक्सर तर्क को बड़े बड़े अधिकार दे दिए जाते हैं जिससे हरेक अपने ही तर्क को उचित समझता है। इसके अलावा नैतिक सत्य चिंतन से ही उपलब्ध न होकर तथ्यात्मक बातों से भी उपलब्ध हो जाते हैं। 'हमें चीज़ों को उनके अपने स्वरूप में स्वीकार करना चाहिए चाहे उनका ज्ञान हमें किसी तरह भी क्यों न हो।" बुद्धिवादी तर्क के अतिरिक्त अन्य साधनों से मिलने वाले सत्यों की अवहेलना कर सकता है। तब क्या कसौटी को मनुष्य जाति द्वारा अनुभव किए गए जन्मजात नैतिक प्रत्ययों (Ideas) में मानना चाहिए? जो लोग अपनी समझ में जन्मजात सामान्य सिद्धान्तों से अच्छे बुरे का भेद करते हैं "वे कच्ची नैतिक नींव रखते हैं। जन्मजात सिद्धान्तों की सत्ता में सन्देह किया जा सकता है और चूँकि मनुष्यों की भावनाएँ स्थाई नहीं हैं अतएव इतने महत्त्वपूर्ण भेद के लिए उन पर विश्वास करना ठीक नहीं है।"

[illegible] कसौटी नहीं हो सकता । सुख क्षणभंगुर और अनिश्चित
[illegible] मनुष्य को आत्मप्रधान भी बना सकता है
और [illegible] कर सकता है । नैतिकता के ये हमी
[illegible] करने पर दृढ़ साधन नहीं होते । "मनुष्यों के कामों की
[illegible] में सहमति होना ही" अच्छे और बुरे की एकमात्र युक्ति-
[illegible] व्यावहारिक और स्वीकार योग्य कसौटी है ।

[illegible] की कसौटी की सत्य बात किसी काम की उचितानुचित
ता की मात्रा को परख तर्क या प्रथा जैसी सैद्धान्तिक कसौटियों में न करके
[illegible] काम की विशेषता से ही करता है । यदि यह पूछा जाय कि
[illegible] को अबुद्धिमूलक अन्तर्बोध (जैसा रैश्डल मानता था)
[illegible] (intuition) से (जैसा कि बाद में काट ने माना) जाना जाता
है तो [illegible] का उत्तर यह होगा कि हर स्थिति का एक ही उत्तर नहीं
हो सकता और फिर यह प्रश्न भी आवश्यक न होकर गौण ही है ।
नीतिशास्त्र का प्रमुख प्रश्न काम का गुण है, उस गुण का पता कैसे
लगाया जाता है; यह नहीं । जो लोग अपने तर्क का अधिक प्रयोग करते
हैं उन्हें नैतिक हित बुद्धि की उपज लगेगा । कुछ लोगों में वरणीय काम
के परिणाम आदि को तत्काल जान लेने की अत्यन्त विकसित अन्तर्दृष्टि
होती है । नैतिक अन्तर्दृष्टि का मूल दैवी है या जैविक (biological)
यह वर्तमान खोज के बाहर की बात है यद्यपि वोलैस्टन चर्च का सदस्य
होने से नैतिक अन्तर्दृष्टि का मूल दैवी मानता था । वह हमारी नैतिक
अन्तर्दृष्टि की प्रामाणिकता पर जोर देता है, उसके मूल पर नहीं ।

नैतिक कामों के ठीक अन्दाज़ के लिए "देश, काल, आकांक्षित
साध्यों और परिणामों पर विचार करना चाहिए ।" नैतिक दृष्टि से निर्णय
करने के लिए किसी काम पर उसके समुचित प्रसंग में विचार करना
चाहिए । और चूँकि कामों को "स्थिति की सत्यता" की संगति से परख
जाता है इसलिए समुचित प्रसंग में वे सभी बातें आ जाती हैं "जि
सत्य या व्यवहार से अस्वीकृत किया जा सकता है ।" यदि कोई व्य

घोड़ा चुराता है तो उसका काम ही उसे यह बताता है कि उसने उचित नहीं किया क्योंकि घोड़ा उसका नहीं था और उसे दिया भी नहीं गया था। यदि स्थिति को केवल सुख और दुख से ही परखा जाय तो हो सकता है कि घोड़ा चुराने वाले को अधिक सुख मिला हो और घोड़े के स्वामी को बहुत से घोड़े होने के कारण अधिक दुख न हुआ हो। इन परिस्थितियों में सुखवादी आधार पर चोरी को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता जब तक कि आगे चलकर समाज पर उसका बुरा असर न दिखाया जाय। छोटी मोटी चोरियों में मनुष्य को समाज की क्षति और दुख से अधिक सुख मिलता है। सुख और दुख के संतुलन में उपयुक्तता ही मानी जा सकती है किंतु उचितानुचित के नैतिक निर्णय में निश्चितता होनी चाहिए। चूँकि नैतिक निर्णय निरपेक्ष और तत्कालिक हो सकता है इसलिए यह तर्क से सर्वथा अलग है। घोड़े की चोरी करना अनुचित माना जाता है और इसकी युक्ति स्थिति के स्वभाव में ही मिल सकती है, परिणामों (जैसे सुख) या कारणों (जैसे उद्देश्यों आदि) में नहीं। घोड़े के चुराने में सवार, घोड़े और स्वामी के सम्बन्ध में एक ऐसा दावा किया जाता है जो सत्य नहीं है। अतएव काम अनुचित है।

तब क्या योर्सेटन किसी काम के नैतिक निर्णय में उसके परिणामों को लेने से इनकार करता है? पूरी तरह से नहीं। कृत्रिम निदानीकरण के अलावा किसी स्थिति को उसके परिणामों से अलग करके देख सकना सम्भव नहीं है। स्थिति को प्रसंगोचित होना चाहिए। काम जिन परिणामों के बारे में कुछ निश्चय करता है वे ही प्रसंगोचित होते हैं। घोड़े को चुराने वाला बाद में धनी बनकर बहुत से लाभदायक काम कर सकता है। किंतु यदि इस परिणाम को पहले ही से नहीं देखा जा सकता तो यह काम का परिणाम होकर भी संयोग मात्र ही होगा। चूँकि काम से उसका निश्चय नहीं किया जा सकेगा इसलिए यह नैतिक निर्णय में प्रसंगोचित नहीं होगा। मान लीजिए कि एक भिखारी अपने और अपने परिवार का पेट पालने के लिए रोटी चुराता है। ऐसी हालत में परिणाम काम के

प्रसंगानुकूल होगा क्योंकि वह काम का एक आवश्यक अंग होगा। किसी चीज़ को हथिया लेने का नाम ही चोरी नहीं है। जिन कामों के बारे में नैतिक निर्णय किया जाता है वे बड़े जटिल होते हैं। तब उस काम की विशद और पूर्ण व्याख्या करनी पड़ती है। भूखे व्यक्ति के लिए रोटी का अधिकार सम्पत्ति-अधिकार से अधिक महत्व का है। वह जो कुछ करता है वह उसके काम की माँग है। तब क्या चोरी करना नैतिक है? नहीं, क्योंकि रोटी चुराने में और भी प्रसंग हैं। रोटी चुराने में रोटी के अधिकार का प्रसंग गलत होने से रोटी चुराना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।

किंतु तब काम की सम्पूर्णता का नैतिक निर्णय कैसे किया जा सकता है? भूखे आदमी के लिए रोटी चुराना उचित है अथवा अनुचित! इसका उत्तर वोलैस्टन की नवीं मान्यता में निहित है: "(निर्णय और वरण करने योग्य) हर काम और सत्य में हस्तक्षेप करने वाले सारे अतिक्रम (अर्थात् किसी सच्ची प्रतिज्ञा के सत्य से इनकार करना या किसी वस्तु को वैसा न मानना जैसी कि वह हो) नैतिक दृष्टि से किसी न किसी अर्थ में पाप हैं।" 'किसी न किसी अर्थ में' इस वाक्य पर ध्यान देना चाहिए। किसी चीज़ की चोरी चूँकि वह गलत समर्थन करती है इसलिए उस अर्थ में अनुचित है। यदि चोरी को किसी बड़े काम का भाग समझा जाय तो वह सारा काम "किसी न किसी अर्थ में पापमय होगा।" स्थिति को पूरी तरह से समझना उस पर नैतिक समर्थन या असमर्थन करके उसे हटा देना नहीं है वरन् स्पष्ट रूप से यह देखना है कि समर्थन या असमर्थन कहाँ और किस हद तक किया जा सकता है। ऐसा काम की नैतिक अच्छाई और बुराई के अनुपात का सही अन्दाज़ लगाकर किया जाता है। काम की नैतिक अच्छाई और बुराई हमारे इस निर्णय पर निर्भर होती है कि वह काम किसी सच्ची प्रतिज्ञा (proposition) का बाध कहाँ तक करता है या नहीं करता।

क्या नैतिक भावना विश्वसनीय है?

व्यक्ति और समाज के सुखी जीवन के लिए अविकल अन्तर्दृष्टि

बहुत आवश्यक है। अन्तर्दृष्टि को चाहे बौद्धिक विवेक का निर्णय, चाहे परिपक्व मनोनैतिक प्रवृत्ति, चाहे किसी श्रेष्ठ शक्ति की प्रेरणा आदि कोई भी नाम क्यों न दिया जाय किंतु मानवी जीवन में उसकी बड़ी आवश्यकता है और उसके बिना मनुष्य के जीवन में मनुष्यता और निश्चयात्मकता नहीं रह सकती। नैतिक निश्चय करने के पूर्व ही यदि उसके न्यायोचित होने का पक्का प्रमाण माँगा जाय तो संभव है कि कोई काम नैतिक न रहे। हर नैतिक निश्चय में एक असंरक्षित विश्वास रहता है, हर नैतिक निश्चय में "*नैतिक जोखिम*" और "*प्रमाण के ऊपर विश्वास का आधिक्य*" रहता है।

दूसरी ओर नैतिक चिंतन को यदि विषयसापेक्ष (objective) होना है तो किसी व्यक्ति का क्षणस्थाई विश्वास नैतिक आग्रह का अन्तिम शब्द नहीं माना जा सकता। गाढ़े समय किए गए नैतिक निश्चय में किसी व्यक्ति का विश्वास माना जा सकता है किंतु उस क्षणिक निश्चय को सिद्धान्त या मत बना देना नैतिकता के विकास में रोड़ा अटका देना है। नैतिक अन्तर्दृष्टि को परिष्कृत, शिक्षित और संयमित किया जा सकता है; *किंतु ऐसा करने की कसौटी क्या है?* प्रश्न उठाना उत्तर देने से ज्यादा आसान है, किंतु अगले अध्यायों में इस प्रश्न के विभिन्न उत्तरों पर विचार किया जायगा।

६

नैतिक बुद्धिपरतावाद

एक अर्थ में अन्तर्साक्ष्यवाद (intuitionism) नैतिक कर्तव्य पर अंतिम शब्द कहता है, किंतु दूसरे अर्थ में वह अपर्याप्त है। परम्परागत नियमों का पालन करने के अलावा सच्चे नैतिक कर्तव्य को पूरी तरह मनन करके जानना चाहिये; कर्तव्य का यह प्राग्नुभव ज्ञान ही नैतिक जीवन के विकास और स्थायित्व का पक्का आधार हो सकता है। किन्तु यह कोई नहीं कहेगा कि कर्तव्य का सारा प्राग्नुभव ज्ञान समान रूप से हितकर है। वैसा मानना नैतिक तटस्थतावाद का समर्थन करना होगा। माना कि हर व्यक्ति में अच्छे और बुरे को परख सकने की नैतिक भावना होती है किंतु सभी की नैतिक भावनाएँ एक सी नहीं होतीं। जब सदसद्विवेक अस्पष्ट हो तब हम निर्णय कैसे करें? जब अन्तरस्थ नैतिक भावनाओं में असहमति हो तो हम उनमें से किसको प्रामाणिक मानें? बुद्धिपरतावाद के अनुसार सदसद्विवेक प्रामाणिक तभी होता है जब वह बुद्धिमूलक स्वर से बोलता है, उसके प्रामाणिक आदेशों में (१) निरपेक्ष आत्म-संगति और (२) आदत और प्रवृत्तियां आदि अनुभवगत बातों से पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।

इस अध्याय में स्टोइकों और कांट के बुद्धिपरतावाद के दो रूपों का विवेचन किया गया है। प्राचीन और अर्वाचीन बौद्धिक स्वभाव के भेद के अतिरिक्त स्टोइकों का बुद्धिपरतावाद उनके विश्व के स्वभाव विषयक कुछ विश्वासों पर आधारित है और कांट का बुद्धिपरतावाद विश्व-विषयक धारणाओं से स्वतन्त्र है।

१ स्टोइकवाद (Stoicism)

सुकरात की मृत्यु के बाद ही एथेन्स के ऐन्टिस्थनीज़ नामक दार्शनिक

ने साइनोसार्गीज़ (Cynosarges) नाम के जिम्नेजियम में अपने सम्प्रदाय की स्थापना की जिससे वह और उसके अनुयायी सिनिक (Cynic) कहे जाने लगे। ऐन्टिस्थनीज अपने को सुकरात का अनुयायी कहता था किंतु दोनों की शिक्षाओं में ऊपरी समानता होते हुए भी गम्भीर भेद था। ऐन्टिस्थनीज़ पूर्ण विरागी था। इच्छाओं की पूर्ति न कर उनका दमन करना ही ऐन्टिस्थनीज़ के अनुसार अच्छा जीवन था। उसका कहना था कि *"मैं सुख पाने की अपेक्षा पागल हो जाना अच्छा समझता हूँ।"* दर्शन से उसे मनमवार्तालाप कर सकने की क्षमता मिली थी और बुद्धिमान व्यक्ति का सन्तोष मनन में ही हो सकता है, सुख में नहीं।

गुरु तो गुरु ही रहा किंतु उसके चेले डायोजिनीज़ ने शक्कर होने की चेष्टा तक कर डाली। "प्रकृति के अनुसार रहो" यही उसका मुख्य सिद्धान्त था और उसके प्रयोगानुसार इस सिद्धान्त का अर्थ परम्पराओं को तोड़ देना था। कहा जाता है कि उसे परिस्थितियों से सयोजन कर सकने की शिक्षा एक चूहे से मिली थी जो लेटने के लिये इधर उधर दौड़ कर कोई सुरक्षित स्थान ढूँढ रहा था और उसे न तो अँधेरे का डर था और न जीवन की विलासिता की परवाह। किंवदन्तियों के अनुसार डायोजिनीज़ खुले में एक टब में सोता था, अपना खाना एक थैले में रखता था और समय पड़ने पर भीख माँगने से भी न लजाता था। उसका भीख माँगना भी विचित्र था। एक आदमी को आनाकानी करते देख उसने कहा था, "प्रिय मित्र मैं भीख खाने के लिए माँग रहा हूँ, कफ़न के लिए नहीं।" एक बार वह मूर्ति से भीख माँग रहा था जिससे उसे खाली हाथ लौटने का अभ्यास हो सके। जब सिकन्दर महान् गद्दी पर बैठा तो डायोजिनीज़ की ख्याति दूर दूर तक फैल चुकी थी और वह लगभग सत्तर वर्ष का था। एक दिन जब डायोजिनीज टब में लेटा धूप खा रहा था सिकन्दर लावलश्कर के साथ उससे मिलने आया। "मैं सिकन्दर महान् हूँ", उसने कहा। "और मैं" डायोजिनीज ने शांत भाव से उत्तर दिया, "मैं डायोजि-

अच्छे या बुरे ?" "अच्छा है।" "तो अच्छी चीज में कौन
डायोजनीज ने उत्तर दिया। इस उत्तर से प्रभावित होक
कहा, "तुम मुझसे जो चीज मांगोगे वह मैं तुम्हें दूंगा।"
कहा "तो कृपया जरा धूप छोड़ दो।"

इन बातों से प्रकट होने वाली स्वतन्त्र चिन्ता और
प्रति उदासीनता ही स्टोइक सम्प्रदाय के विशेष गुण थे,
कुछ दशकों के बाद की गई थी। किंतु सिनिक लोग ज
का निरर्थक प्रदर्शन करने में लग्न रहते थे वहाँ स्टोइक
र्शन नहीं करते थे। उन्होंने सिनिकों के परम्परा के वि
भावात्मक नियम बना दिया और उस नियम का आधा
लित करने वाले नियमों के ज्ञान को बनाया। संसार
लिए बुद्धिपरक था और मानवी आचार भी उसी
आजकल यद्यपि रोमन सम्राट मार्कस आउरेलियस औ
टस ही स्टोइकवाद के प्रतिपादक माने जाते हैं किंतु
जन्मदाता साइप्रस द्वीप का जीनो नामक व्यक्ति था।
ई० पूर्व एथेन्स आया था और उसने व्याख्यान देने
(यूनानी भाषा में स्टोआ) किराए पर ले ली थी
अनुयायियों को 'स्टोआ के लोग' या 'स्टोइक' क

बुद्धिपरतावाद की तार्किक

स्टोइक दर्शन के नीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों में
ज्ञान विषयक धारणाओं का भी समावेश है।
धारणा का पहला प्रश्न यह है कि मनुष्य सत्य
सुकरात के समय के सोफिस्टों के दार्शनिक सम्प्र
सापेक्षता और भ्रामकता के आधार पर सत्य को
अविश्वास प्रकट किया था क्योंकि सत्य इन्द्रि
सोफिस्टों के उत्तर में इन्द्रिय-प्रत्य

संभव है यदि हम उसे अनुभव में न ढूँढ़ कर मूलभूत रूपों (Forms) और सम्बन्धों (Relations) में देखें। इसके विपरीत स्टोइक यह मानते थे कि सत्य को जाना जा सकता है किंतु उसका ज्ञान प्रामाणिक तभी होता है जब वह 'अनुभव' पर आधारित हो। प्रत्यक्ष करने के समय मनस पर बाह्य वस्तुओं का जो तत्कालिक प्रतिबिम्ब पड़ता है वही अनुभव होता है। अनुभव हमें मानने पर विवश कर देता है। अनुभव आत्मा की वह अवस्था है जहाँ विषयि (Subject) के साथ विषय (Object) का ज्ञान भी होता है। किंतु जैसा कि भ्रम आदि से स्पष्ट है यह ज्ञान गलत भी होता है। किंतु बुद्धिमान व्यक्ति जिस अनुभव का अर्थ अस्पष्ट हो उसे स्वीकार न कर गलती से बच सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि बुद्धिमान व्यक्ति गलती नहीं करता क्योंकि कभी-कभी उसे स्थिति का अपर्याप्त ज्ञान होने पर भी काम करने को बाध्य होना पड़ता है, किंतु इस हालत में उसको दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि वह परिस्थिति से लाचार था। इसको एक कहानी से बताया गया है। राजा टालमी ने ज़ीनो के एक शिष्य को दावत में एक मोम का अनार खाने को दिया। जब उसने मोम का अनार अपने मुँह में रखा तो टालमी ने हँसते हुए उसे गलत अनुभव को स्वीकार कर लेने के लिए दोष दिया। किंतु ज़ीनो के शिष्य ने उत्तर दिया कि उसने अनार की सत्यता को स्वीकार न कर उसके सत्य होने की संभावना को ही स्वीकार किया था। उसने स्टोइकों के आचारीय नियम के अनुसार परिस्थिति वश ही अनार खाया था किंतु इसमें उसकी मानसिक स्वीकृति नहीं थी।

प्रकृति में प्रयोजनात्मक सिद्धान्त (The Telic Principle in Nature)

एपीक्यूरस के परमाणुवाद के विरोध में स्टोइक विश्व को जड़ परमाणुओं का समुदाय न मानकर अनुप्राणित आंगिक (organic) एकता मानते थे। यदि हम विश्व के किसी भाग को अलग से देखें तो

वह अपूर्ण, संयोगात्मक और खण्डित लग सकता है। ये दोष विश्व की विशेषताएँ न होकर हमारे द्वारा ग्रहण किये गए संवेदनों (Impressions) की विशेषताएँ हैं। विश्व में सार्थकता है, एक विशद और व्यापक योजना है जिसे बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है। संगीत के स्वर यहाँ वहाँ से सुनने में निरर्थक लगते हैं किंतु पूरे संगीत में संगीतकार की भावना की एकतापूर्ण अभिव्यक्ति होती है। इसी तरह हर स्थिति सम्पूर्ण विश्व के प्रसङ्ग में देखने पर ही बुद्धिमूलक लग सकती है। हमें हरेक संवेदन पर इसी दृष्टि से विचार कर उसे विश्व के बुद्धिमूलक सिद्धान्त की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति समझना चाहिए। स्टोइकों की व्याख्या प्रयोजनवादी और एकतावादी होती है।

विश्व की बुद्धिमूलक व्याख्या करने पर स्टोइक विश्व को अच्छा और मंगलमय भी मानते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति के लिए बुद्धिमूलकता से बढ़कर और कौन बात हो सकती है? जो कुछ बुद्धिमूलक है वह मंगलकारी है और चूँकि विश्वपूर्ण रूप से बुद्धिमूलक है इसलिए वह पूर्णरूप से मंगलमय है और पाप की कोई वास्तविकता नहीं है। पाप की अवास्तविकता बहुतों के लिए परेशान करने वाला विरोधाभास है और ये स्टोइकों की इस बात को नहीं मानते। ये पूछते हैं कि जब हम अपने चारों ओर असंख्य मनुष्यों को दुखी, रोगग्रस्त, भूखा और मरणशील देखते हैं तो पाप की वास्तविकता में कैसे सन्देह किया जा सकता है? स्टोइकों का उत्तर है कि ये बातें पाप तब लगती हैं जब हम गलत रूप से उनके सीमित संवेदनों को अपनी स्वीकृति दे देते हैं। यदि हमारा पैर चिंतन की क्षमता रखता तो वह कीचड़ में जाना कभी पसन्द नहीं करता किंतु मनुष्य के लिए "कभी कभी पैर को कीचड़ में ले जाना या पूरे शरीर के हित के लिए समय पड़ने पर उसे कटवा भी डालना ठीक है। नहीं तो वह सच्चे अर्थ में पैर नहीं है"—क्योंकि तब उसमें पैरपन नहीं रहता जो पूरे शरीर का एक भाग बने रहने में ही होता है। इसी प्रकार अपने को संसार से अलग करके देखने वाला व्यक्ति आयु अवधि, धन और स्वास्थ्य को

की शक्ति को देवता तक बन्दी नहीं बना सकते। हमारा गला काटा जा सकता है किंतु हम यह कब कहते हैं कि हमारा ही गला ऐसा अनोखा है जिसे काटा नहीं जा सकता। दार्शनिकों को इन्हीं बातों का अध्ययन करना चाहिए, और उन्हें नित्य लिखकर उनका अभ्यास करना चाहिए।[1]

परिस्थितियों के प्रति किसी विशेष प्रवृत्ति का वरण कर सकने की शक्ति ही नैतिक आदर्श को संभव और अनिवार्य बनाती है। स्टोइकों का नैतिक आदर्श उनकी प्रकृति की धारणा पर आधारित है। प्रकृति बुद्धिमूलक है और बुद्धिमूलक होने से मंगलमय है। अतएव मनुष्यों को प्रकृति के अनुसार रहना चाहिए अर्थात् बुद्धि के अनुसार काम करना चाहिए। इसका अर्थ यथातथ कर्तव्यों के रूप में क्या है? स्टोइकों के अनुसार रोग, मृत्यु आदि सारी परिस्थितियाँ सार्वभौम पूर्णता का अंग होने से मंगलमय हैं अतएव उन्हें निष्काम भाव से स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि विश्व के सभी भाग बुद्धिमूलक हैं तथापि मनुष्य एक विशिष्ट अर्थ में बुद्धिमूलक है क्योंकि उसमें अन्य प्राणियों के विपरीत अपने लिए बुद्धि का सक्रिय प्रयोग कर सकने की शक्ति है। अतएव बुद्धि ही मनुष्य को संचालित करनेवाला सिद्धान्त और उसकी आत्मा की स्वस्थता है। बुद्धि की शुद्ध क्रिया में अड़चन डाल देने के कारण मनोभाव पाप हैं और उन्हें निर्दयता से निकाल फेंकना चाहिए। दया करना भी पाप है, उसका स्थान सौम्य उदारता को लेना चाहिए। अपनी सौम्यता को बनाए रखने के लिए स्टोइक को अपने कर्तव्यों का पालन इच्छारहित भाव से करना चाहिए। अपने साथियों की सहायता करने के लिए उसे सब कुछ करना चाहिए किंतु असफल होने पर उसे शोच नहीं करना चाहिए। उसके लिए हर परिस्थिति में ज्यादा से ज्यादा बुद्धिमूलक ढंग से व्यवहार करना ही मुख्य बात है: 'यही उसका कर्त्तव्य है और यदि उसने अपने कर्तव्य

---

1 डिस्कोर्सेज़ आव् एपिक्टीटस, पु० 1, परि० 1

आवश्यकता के अनुसार ही काम नहीं करता ? अतएव स्टोइक लोग प्रकृति की घटनाओं के समान ही सौम्य भाव से दूसरों के व्यवहार को भी देखते थे; क्योंकि मनुष्य के काम भी एक बुद्धिमूलक विश्व की प्रकृति की घटनाएँ ही हैं।

किंतु यदि ऐसा है तो यह पूछा जा सकता है कि स्टोइकों के जगत में स्वतंत्रता का क्या स्थान है ? मनुष्य जिस तरह भी काम करे लेकिन उसका काम प्रकृति की अनिवार्य और अवश्यम्भावी अभिव्यक्ति ही होता है। तो क्या इससे यह नतीजा निकलता है कि मनःप्रसाद और भोगविलास दोनों की खोज या लालसा प्रकृति के ही आवश्यक परिणाम हैं ? स्टोइक इसका स्वीकारात्मक जवाब देंगे। किंतु यदि हम प्रकृति की अनिवार्यतावश ही काम करते हैं तो फिर कर्तव्य का क्या अर्थ रह जाता है ? वरण की शक्ति के बिना किसी काम को करने या न करने के कर्तव्य का अर्थ ही क्या हो सकता है ? इसके उत्तर में स्टोइक बाह्य अनिवार्यता और प्रकृति की आन्तरिक अनिवार्यता में भेद करते हैं। स्वतंत्रता केवल बाह्य अनिवार्यता की ही विरोधी है किंतु प्रकृति की आन्तरिक अनिवार्यता और स्वतंत्रता दोनों में तादात्म्य है और उनका एक ही अर्थ है। किंतु इस उत्तर से अभी अभी वर्णित तार्किक आपत्ति का समाधान नहीं होता। हम जिस तरह से काम करने जा रहे हैं यदि हममें उसके प्रतिकूल काम कर सकने की शक्ति नहीं है तो उस काम को हमारा कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। इस समस्या पर १० वें अध्याय में विस्तार के साथ विचार किया जायगा।

२. कांट का रूपात्मवाद (The Formalism of Kant)

स्टोइकों की जगत विषयक धारणाओं और संकल्पवाद (Determinism) का वैकल्पिक नैतिक संभावनों से समन्वय करने से मुक्त बुद्धिपर- ,का एक अन्य रूप इमैनुएल कांट (१७२४-१८०४) द्वारा ...त किया गया था। कांट ने अपनी धारणा को "फंडामेंटल मिटि-

विभिन्न होते हैं। दूसरे हमारी प्रवृत्तियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं और एक साथ ही हमें विरोधी कामों की ओर प्रवृत्त करती हैं। किंतु दो विरोधी कामों में से दोनों उचित नहीं हो सकते। अतएव इससे यह नतीजा निकलता है कि उचित और इच्छित कामों में मूलभूत भेद है। उचित कर्म का करना मनुष्य का निरपेक्ष कर्तव्य है और "कर्तव्य को मनुष्य के स्वभाव या उसकी सामाजिक परिस्थिति में नहीं ढूँढ़ना चाहिए; कर्तव्य शुद्ध बुद्धि की प्रागनुभव धारणा में ही निहित होता है।" यदि झूठ बोलना और दगा देना अनुचित है तो वह हर परिस्थिति में अनुचित है। सच बोलना और वचन को निभाना यदि उचित है तो वह सदा हमारा कर्तव्य है। सच बोलने का कर्तव्य और झूठ बोलने का अनौचित्य जैसा मनुष्यों के लिए है वैसा ही सारे बौद्धिक प्राणियों के लिए भी है—चाहे वे मनुष्य से भिन्न ही क्यों न हों—देवताओं तक के लिए। "झूठ बोलना नैतिक दृष्टि से अनुचित है" यह बात ७+५ = १२ की तरह ही प्रागनु
भव है और बौद्धिक रूप से समझने वाले के लिए स्वयंसिद्ध है। इ
दोनों बातों का सत्य अनुभव में नहीं मिलता; वे दोनों सार्वभौम सिद्धा
हैं और अनुभव को (विभिन्न प्रकार से) उन्हीं के अनुसार होना पड़ता

गणित की बातों की प्रागनुभव प्रकृति को साबित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किंतु नैतिक बातें भी गणित की बातों की अनिवार्य और सार्वभौम होती हैं यह जरा अस्पष्ट है। अब ह
परीक्षा करनी है कि कांट अपनी बात को कैसे साबित करता है।

नैतिक मूल्य का स्थान (The Locus of Moral Wor

नैतिक अच्छे और बुरे को कहाँ पाया जाता है? नैतिक निर्ण
पर लागू होते हैं? किसी मनुष्य के काम के अच्छे या बुरे परि
लिए क्या हमें उसकी प्रशंसा करनी चाहिए या उसे दोष देना च
नहीं, किसी काम का परिणाम उस काम से बाह्य होता है और वह
और कारणात्मक दृष्टि से स्वतंत्र होता है। परिणाम में परिस्थिति वश भी
सी बातें आ जाती हैं; कर्ता उनके लिए पूरा उत्तरदायी नहीं होता

... निर्देश रूप में स्वीकार किया जाता है, उसमें अगर मगर की गुंजाइश नहीं होती। ऐसा आदेश कहाँ मिल सकता है? कल्पनात्मक आदेश जगत की प्रकृति से प्राप्त होते हैं। "यदि जलने से बचना चाहते हो तो आग से दूर रहो।" आग और जलने में कारणात्मक सम्बन्ध है ... निरपेक्ष आदेश जगत की प्रकृति से नहीं मिल सकते, उन्हें कर्ता के प्रकृति में ही पाया जा सकता है।

कर्ता किसी भी काम को करने में अपना संकल्प (will) अभिव्यक्त करता है अतएव काम के नैतिक मूल्य का निर्धारण कर्ता के संकल्प की विशेषता से होना चाहिए। साहस, चतुरता, धन, शक्ति, सम्मान, स्वास्थ्य और गुणों को बुरे संकल्प द्वारा बुरे साध्यों की ओर लगाया जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि साहस, सम्मान और गुण आदि अपने आप में अच्छे या हितकारी नहीं है। आत्मनियंत्रण, शान्त भाव से विचार करना आदि संकल्प के प्रत्यक्ष गुण भी अपने आप में हितमय नहीं है। उनका मूल्य उनको प्रेरित करने वाले शुभ-संकल्प में होता है। यदि उनके पीछे शुभ-संकल्प न हो तो उन्हें बुरे साध्यों की ओर लगाया जा सकता है जैसा कि बदमाश आदमी की शराफत से स... है। अतएव शुभसंकल्प (good will) के अतिरिक्त और कुछ ... श्रेयस्कर या मंगलमय नहीं है।

बौद्धिक संकल्प (The Rational Will)

किन्तु शुभ-संकल्प को कैसे जाना जा सकता है? कांट का भा... उत्तर पाने के पहले संकल्प (will) और अन्तर्प्रेरणा (impulse ... भेद करना चाहिए। हम यह कैसे जान सकते हैं कि हम अन्तर्प्रेरणा के प्रवाह में न पड़कर वस्तुतः संकल्प या वरण कर रहे हैं? वरण करने के समय हरेक को अपने संकल्प की परीक्षा करनी चाहिए। अन्तर्प्रेरणाओं में द्वन्द होने पर ही संकल्प का काम पड़ता है। किन्तु अधिक ध्यान देने से ... कि कुछ न कुछ बौद्धिक नियंत्रण भी रहता है जो

ॉन करता है और उन्हें एक बौद्धिक योजना के
। के इन दो—अन्तर्प्रेरणात्मक और बौद्धिक—
त है ? कांट का उत्तर है—बौद्धिक। जहाँ तक
उन्नति और सुख का सवाल है वहाँ तक उनकी प्राप्ति
क अन्तर्प्रेरणाओं से ही होती है। अपने उद्देश्यों
उन उद्देश्यों से सुसंयोजित साधनों को ही चुनती है; अतएव इस व्यावहारिक दृष्टिकोण से बुद्धि बेकार है। बुद्धि हमें शारीरिक सन्तोष और उपयोगिता के अलावा अन्य उद्देश्य के लिए दी गई होगी। चूँकि बुद्धि अन्तर्प्रेरणाओं और इच्छाओं की तृप्ति के लिए संकल्प का निर्देशन नहीं कर सकती इसलिये उसका वास्तविक कार्य बुद्धि के सिद्धांतों द्वारा ही संकल्प का निर्देशन करना या बौद्धिक संकल्प को उत्पन्न करना होना चाहिये। और चूँकि किसी वस्तु का मूलभूत रूप से श्रेयस्कर होना उसकी कार्यपूर्ति में ही होता है इसलिए संकल्प का श्रेयस्कर होना उसके बौद्धिक होने या बौद्धिक रूप से काम करने में होना चाहिये। अतएव केवल बौद्धिक संकल्प ही मूलभूत रूप से श्रेयस्कर होता है।

बौद्धिक रूप से संकल्प करना आत्मबाध के बिना या पूर्ण एकरूपता के साथ संकल्प करना है। तार्किक एकरूपता के नियम के अनुसार किसी वस्तु का एक समय में ही कोई विशेषता रख सकना और न रख सकना दोनों सम्भव नहीं है। इस नियम के अनुसार कोई काम एक ही समय उचित और अनुचित दोनों ही नहीं हो सकता। वह हमारी सुविधा के समय उचित और असुविधा के समय अनुचित नहीं हो सकता। यदि हमारा उद्देश्य बौद्धिक होने से नैतिक है तो वह किसी अवसर विशेष पर हमारे लिए अपवाद नहीं हो सकता। जिस बात को हम नापसन्द करते हैं उसी को बौद्धिक दृष्टि से अर्थात् नैतिक दृष्टि से स्वयं भी नहीं कर सकते। अपने किसी काम को नियम का अपवाद समझना असंगत और [illegible] नियमों और मापदण्डों को स्वयं
और नियमों से अपने को अपवाद

ई है कि आत्महत्या करना कर्तव्य से विमुख होना तो न
ात की खोज करनी चाहिए कि उसके काम करने के सिद्धा
लए सार्वभौम नियम बनाया जा सकता है या नहीं। न
ता—कम से कम बाध के बिना तो नहीं। क्योंकि उस
में यह है : जब जीवन को बनाए रखने में तृप्ति की अ
मिलें तो आत्महत्या या जीवन को नष्ट कर लेना ए
जा सकता है। यह सिद्धान्त स्पष्टतः आत्म-प्रेम के उद्देश
कांट टीका करता है :

तब यह पूछा जाता है कि आत्मप्रेम पर आधारित यह
ा प्रकृति का सार्वभौम नियम बन सकता है या नहीं।
की व्यवस्था में यदि वही अनुभूति जिसका विशेष स्वभा
को उन्नत बनाना है जीवन को नष्ट करने का नियम बन
ो उसका बाध हो जाता है, अतएव प्रकृति की व्यवस्था में
सत्ता नहीं हो सकती और यह सिद्धान्त भी प्रकृति का
म नियम नहीं बन सकता और इसलिए यह कर्तव्य के
द्धान्त से पूर्णतया असंगत पड़ता है।

रण में मान लीजिए कि एक आदमी परिस्थितिवश रुपया
ौर उसको लौटा नहीं सकता है। उसे रुपया इसी शर्त
सकता है कि वह उसे एक निश्चित समय में लौटा दे।
के प्रति संगत रहते हुए वादा कर सकता है? अब कसौटी
जिए। उसे पूछने दीजिए, "यदि मेरा सिद्धान्त सार्वभौम
तो कैसा होगा?" वह तुरन्त देख लेगा कि उसके काम
त सकने, फिर सार्वभौम नियम नहीं बन सकता और
ा है।

ान लीजिए कि उसका सिद्धान्त सार्वभौम नियम है और
ड़ने पर हर आदमी हर तरह के वादे कर लेता है और
ूरा नहीं करता तो वादा करना ही असंभव हो जाता

जाय तो हम दूसरों के साध्यों को भी अपना ही समझने लगते हैं और मानवता को स्वयं एक निरपेक्ष साध्य समझते हैं।'[1]

इस व्याख्या के अनुसार कांट का नियम ईसाई धर्म के इस सिद्धान्त की बौद्धिक अभिव्यक्ति बन जाता है कि "दूसरों के साथ वैसा ही करो जैसा तुम अपने साथ करवाना चाहते हो" (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्)। तब यह आचार की परीक्षा करने का परमावश्यक सिद्धान्त बन जाता है। निर्बुद्धि उसी अन्तर्प्रेरणा की तृप्ति का समर्थन एक व्यक्ति में कर सकती है और दूसरे में नहीं। किंतु संतुलित बुद्धि का व्यक्ति अपने काम और दूसरों के काम को केवल एक ही नियम के अनुसार परखेगा।

आलोचनात्मक विचार

बाध-नियम (Law of Contradiction) को मानवी कार्यों पर लागू करना क्या अस्पष्ट नहीं है? बाध-नियम की सत्यता केवल सैद्धान्तिक है। उसे लागू करने पर कुछ विशेषताओं का वर्णन करना पड़ता है। "मानव जाति ईमानदार और बेईमान दोनों नहीं हो सकती" यह कथन बाध-नियम के अनुकूल होते हुए भी बिल्कुल ग़लत है। इसकी ग़लती का कारण यह है कि विषय-वस्तु में जिस बात को स्वीकार किया जा रहा है उसकी प्रमुख विशेषता बतानी चाहिए जो यहाँ नहीं बताई जा सकती। इसी तरह से यह कथन कि "चोरी एक साथ ही उचित और अनुचित दोनों नहीं हो सकती" भी ग़लत है। यह विश्वास करना कि चोरी कुछ परिस्थितियों में न्यायोचित और अन्य परिस्थितियों में न्यायोचित नहीं है संभव है। इस भेद में कोई प्रागनुभव (a priori) तार्किक आपत्ति नहीं है। 'चोरी' शब्द का जैसा व्यवहार किया जाता है, वह भाषा और सामाजिक प्रथा का संयोग मात्र ही है। बिना आज्ञा के तीन पैसे का टिकट ले लेना चोरी कहा जा सकता है और उसे डाका

---

[1] थोर्नर फ्राइट, दैन इंट्रोडक्टरी स्टडी आव् एथिक्स।

डालने की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। कुछ लोग शायद पहली चोरी को सार्वभौम हो सकने की अनुमति दे देंगे या वे इस बात पर जिद करेंगे कि व्यर्थ चोरी करने और ज़रूरत पड़ने पर चोरी करने में भेद करना चाहिए। किंतु कांट इन भेदों को नहीं मानेगा क्योंकि उनसे नियम का सार्वभौम होना नष्ट हो जाता है। सार्वभौम होना शब्दों की परिभाषा और धारणाओं के प्रयोग के ढंग की अपेक्षा रखता है। क्या जायदाद का वारिस बनना भी एक तरह की चोरी है? सामाजिक दार्शनिक कहेंगे कि है किंतु कांट का सिद्धान्त समाजवाद का प्रतिपादन करता प्रतीत नहीं होता। समाजवादी दृष्टिकोण से कांट की आलोचना में यह कहा जा सकता है कि उसने चोरी न करने की पर्याप्त रूप से सार्वभौम व्याख्या नहीं की है।

आचार का पहला नियम विभिन्न स्थितियों में अनेक ढंगों से लागू हो सकता है। कांट आत्महत्या को असगत मानता है किंतु आत्महत्या करने वाला प्रत्युत्तर में यह कह सकता है कि उसकी दृष्टि में सब को आत्महत्या कर लेना चाहिए। क्या उसके इस दृष्टिकोण को नैतिक संगति के आधार पर तिरस्कृत किया जा सकता है? चोर और हत्यारा अपनी नीति को सार्वभौम बन सकने की इच्छा कर सकता है और इसके लिए वह लड़ने को भी उद्यत हो सकता है। क्या कांट के सिद्धान्त में इसका तिरस्कार करने की गुंजाइश है?

अन्त में कुछ स्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जहाँ आचार के पहले नियम का उपयोजन बिना बाध के नहीं हो सकता। मान लीजिए कि कोई आदमी अपनी नौकरी को सुरक्षित रखने के लिए, जिससे उसके परिवार को भूखों न मरना पड़े, किसी कुटिल व्यापार को करता है। आचार का पहला नियम यदि ईमानदारी को सार्वभौम नियम मानता है तो क्या वह परिवार का पालन पोषण करने के कर्तव्य को सार्वभौम नियम नहीं मानेगा? हमारे अपूर्ण समाज में इन दोनों कर्तव्यों में अक्सर विरोध रहता है और उनसे एक ऐसा नैतिक धर्मसंकट पैदा हो जाता है जिससे

बचा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में क्या वैकल्पिक वरण नैति
पाप नहीं है? नैतिक दृष्टि से कौन सा मार्ग कम पापमय है औ
वरण करना चाहिए? क्या कांट का पहला आचारीय नियम
अनुपूरित होकर भी ऐसी स्थिति में निश्चय कर सकने के
स्पष्ट आधार प्रस्तुत करता है?

इन दोषों और अपर्याप्तताओं के होते हुए भी कांट का सिद्
शास्त्र को एक महत्वपूर्ण देन है। उसने वास्तविक नैतिकता की
शर्तों को प्रतिष्ठित किया है चाहे उसकी भाषा सर्वमान्य न हो
आवश्यक भेद न हो। प्रामाणिक नैतिक नियम वही है
हर स्थिति और हर हालत में समान रूप से अनुबद्ध करे। य
उसके रूप का सम्बन्ध है। जहाँ तक उसके विषय का सम्बन्ध
हर व्यक्ति के प्रति निरपेक्ष सम्मान निहित है। इन दो
को साथ लेने और उसकी समीचीन व्याख्या करने से उपर्युक्त
शंकाओं का समाधान हो जाता है। चोर और हत्यारा यदि
को सार्वभौम बन जाने देना चाहता है तो वह तार्किक दृष्टि
हो सकता है किंतु वह संगति तथ्यहीन है; वह मानवी रू
संगति नहीं है क्योंकि उसमें दूसरों के प्रति कोई सम्मान नि
दूसरी ओर अनेक अवसरों पर नियम के अपवाद भी हो जा
स्थितियाँ ऐसी होती हैं जहाँ हित की रक्षा के लिए च
झूठ बोलना जायज़ होता है। कांट आत्मभ्रम और बु
जाने के ख़तरों के कारण ऐसे अपवादों को स्वीकार नहीं कर
के दोनों नियमों की स्वतंत्र व्याख्या करने से अपवादीय प
अपवादीय नैतिकता को मान्यता देना नैतिक दृष्टि से सं
हमारे झूठ बोलने से किसी के सम्मान या जीवन की रक्षा
झूठ बोलना हमारा कर्तव्य हो सकता है किंतु हमारा कर्तव्
स्वपक्ष पर आधारित है इसकी जाँच कांट के दोनों निय
सकती है। उसी स्थिति में पड़कर दूसरा व्यक्ति हमसे भी झू

प इसके लिए तैयार हैं ? यदि हम ईमानदारी से इस चुनौती को स्वी
ार करते हैं तो हम दूसरों का सम्मान करते हैं क्योंकि हम जिस बात को
पना अधिकार समझते हैं उसे दूसरों का भी उतना ही अधिकार सम
ते हैं और दूसरों के साथ जो व्यवहार करते हैं उसे अपने साथ होने
ने में नहीं हिचकते। किंतु इन अपवादों को जहाँ तक हो सके कम ही
वीकार करना चाहिए। नैतिक नियम का हर अपवाद उस नियम के
ति सम्मान को ही नहीं वरन् नैतिक कर्तव्य को भी कम कर देता है।
नैतिक नियमों में अपवाद मनचाहा उतने नहीं हैं जितने कि हम अपने
लिए बहाना बनाकर निकाल लेते हैं। सामान्य रूप में बात का दुरुपयोग
वाद नैतिक मामलों में खतरा और सदा निंदनीय है।

७

मानवतावाद

अब हम नीति शास्त्र के कई सिद्धान्तों की परीक्षा कर चुके हैं। उनमें जो भेद थे वे उनके एकांगी होने के कारण थे। हर सिद्धान्त एक विशेष बात को लेकर ही चलता था और उसी बात पर जोर देकर मनुष्य की असीम विभिन्नता की व्याख्या नहीं कर पाता था। इसीलिए कुछ लोग नीतिशास्त्र को शब्दजाल मात्र ही मानते हैं जिसका जीवनयापन की कला से कोई सम्बन्ध नहीं है और जिससे किसी काम का निश्चय नहीं किया जा सकता।

किंतु नीतिशास्त्र के हर गम्भीर सिद्धान्त में कुछ न कुछ सत्य तो रहता ही है। नीतिशास्त्र का लेखक नैतिक सत्य की प्रकृति को अपनी जिस अन्तर्दृष्टि से देखता है उसका वर्णन तो करता ही है। किंतु बहुधा यह होता है कि अपनी अन्तर्दृष्टि के सीमित होने या तार्किक रूप से किसी [illegible] सिद्धान्त को पाने की लालसा के कारण लेखक अपनी अन्तर्दृष्टि की एक ही विशेषता को ज्यादा प्रधानता देता है। किंतु सत्य का एक अंश ही देख पाने के कारण किसी दार्शनिक की अवहेलना या उपेक्षा नहीं की जा सकती। सत्य को पूर्णरूप से कौन देख सका है? हम किसी धर्म या जीवन विधि के सिद्धान्तों को न मानते हुए भी उस धर्म या जीवन विधि की प्रशंसा कर सकते हैं।

नीतिशास्त्र की प्रत्येक सुन्दर व्यवस्था की अन्तर्दृष्टियों को स्वीकार कर क्या ऐसा समन्वय कर सकना कहाँ तक सम्भव है जिससे जीवन की विभिन्न नैतिक समस्याओं और निश्चयों पर एकरूपता से विचार किया जा सके? फिर धार्मिक [illegible] में क्या नैतिक तत्वों को धर्म से अलग करके नैतिक आचार का सही निर्देशक बनाया जा सकता है? ये ऐसे

प्रश्न एक ही प्रश्न में संक्षिप्त किए जा सकते हैं : क्या मानवतावादी नीतिशास्त्र संभव है ? मानवतावादी नैतिक दर्शन में निम्नलिखित दो विशेषताएँ होती हैं। पहले तो वह मनुष्य की सारी अप्रकट सभावनाओं और उसके सम्पूर्ण स्वभाव के प्रति न्याय करता है। सुख का उपभोग, जिसे सुखवाद में प्रधानता दी जाती है, निस्सन्देह अपनी तरह का एक हित है किंतु आत्म-नियन्त्रण, उदारता, सम्मान का प्रेम और न्यायप्रियता भी हित हैं जिन्हें सुखवादी सुखों को पाने और दुखों को दूर करने के साधन मात्र ही समझता है। दूसरे मानवतावाद का केन्द्र मनुष्य का स्वभाव है और वह मनुष्य को प्रकृति, समाज या ईश्वर के अंश की अभिव्यक्ति मात्र नहीं समझता। इसका यह अर्थ नहीं है कि मानवतावादी विश्व-विषयक कोई विश्वास नहीं रखता वरन् वह अपने नीतिशास्त्र का आधार मनुष्य की क्षमताओं को ही बनाता है किसी आधिदैविक विश्वास को नहीं।

१ प्लेटो

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) के नीतिशास्त्र का ठीक-ठीक वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। यहाँ उसे मानवतावाद के अन्तर्गत लिया गया है किंतु उसमें रहस्यवाद और आधिदैविकवाद भी है। प्लेटो दर्शन को सत्य का चंचल प्रतिबिम्ब मानता था जिसे विभिन्न प्रकार की खोजों और वाद विवादों से ही विकसित किया जा सकता था। उसका लिखित शब्दों में विश्वास नहीं था क्योंकि लिखित शब्द जड़ होता है और उसका अर्थ करीब-करीब नष्ट सा हो जाता है।

> फीडरस तुम जानते हो लिखित शब्द लिखित चित्र के समान होता है। चित्र लिखित प्राणी सजीव से तो अवश्य लगते हैं किंतु यदि तुम उनसे कोई प्रश्न पूछो तो वे चुप रहते हैं। लिखित शब्दों में भी यही बात है; वे तुमसे बोलते हुए से जान

पड़ते हैं किंतु यदि तुम उनसे उनका अभिप्राय पूछो तो वे अपनी एक बार कही बात को सदा दोहराते रहेंगे।[1]

लिखित शब्द में अपने अविश्वास होने के कारण ही शायद प्लेटो ने अपनी रचनाओं को संवाद रूप में लिखा है जिससे सत्य की चंचल विशेपता की अभिव्यक्ति हो सके। संवाद में लेखक किसी बात को निश्चय पूर्वक स्वीकार न कर उसे पाठक पर ही छोड़ देता है। प्लेटो की भावात्मक शिक्षाएँ मौखिक ही थीं जो आज अपने भग्न रूप में ही सुरक्षित हैं।

जैसा कि दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है सुकरात ने नीतिशास्त्र में द्वन्दात्मक प्रणाली (Dialectical method) की नींव डाली थी। किंतु प्लेटो के संवादों और जीनोफोन की 'मेमोरेबिलिया' नामक पुस्तक में सुरक्षित सुकरात के इधर-उधर बिखरे संवादों से यह प्रमाण नहीं मिलता कि सुकरात ने अपनी आलोचनाओं और खोजों को कोई व्यवस्थित रूप देने की चेष्टा की थी। प्लेटो के संवादों में यह पता चलना जरा टेढ़ी खीर है कि उनमें प्लेटो और सुकरात का दृष्टिकोण कितना है। अतएव इस अध्याय में वर्णन की जाने वाली प्लेटो की शिक्षाओं में यह सन्देह किया जा सकता है कि वे प्लेटो की ही शिक्षाएँ हैं या सुकरात की। चूँकि यूनानी विचार धारा में सन्देहवाद की लहर आ चुकी थी इसलिए प्लेटो को बिखरी नैतिक धारणाओं को व्यवस्थित करने की अधिक आवश्यकता जान पड़ी। सोफिस्ट (Sophists) लोगों की यह शिक्षा, कि नैतिक भेद अभ्युपगम (conventional) मात्र ही हैं, जोर पकड़ रही थी। प्लेटो ने उनका विरोध करने के लिए उन्हीं की युक्तियों के ढङ्ग को अपनाया। अपने संवादों में साहित्यिकता का पुट देते हुए उसने सुकरात और सोफिस्टों द्वारा व्यवहृत द्वन्दात्मक प्रणाली को ही ग्रहण किया है। उसने अपने संवादों का प्रमुख वक्ता 'सुकरात को बनाया है जो

---

1 प्लेटो, फीडरस २७५

उस समय की प्रचलित विभिन्न सामान्य और अस्पष्ट सम्मतियों की द्वन्द्वात्मक परीक्षा करके उनके प्रचारकों का विरोध करता है। संवादों में इधर उधर बिखरी सामग्री से एक व्यवस्थित सिद्धान्त उपलब्ध हो जाता है जिसके नैतिक पहलू पर हम विचार करने जा रहे हैं।

श्रेयस् की एकता (The Unity of the Good)

सुकरात का एक प्रमुख सिद्धांत यह है कि मनुष्य की विभिन्न खूबियाँ और उसके गुण श्रेयस (good) के एक रूप के ही विभिन्न पहलू हैं। विभिन्न जानवरों की भाँति पवित्रता, न्याय, सौम्यता और साहस को श्रेयस् के विभिन्न खण्ड मानना नैतिक स्थिति को विद्रूप कर देना है। सुकरात उन लोगों की युक्तियों में छिद्रान्वेषण करने से कभी नहीं चूकता था जो यूथाइफ्रो की भाँति गुणों का वर्गीकरण करते थे। उसकी निषेधात्मक आलोचना से मानवी श्रेयस की उचित परिभाषा करने की नैतिक समस्या आगे के लिये स्पष्ट हो गई।

क्या विषय सापेक्ष (objective) श्रेयस् और औचित्य नाम की कोई वस्तु है? प्लेटो के संवाद गॉर्जियाज में (जिसका वर्णन तीसरे और चौथे अध्याय में हो चुका है) कैलीक्लीज श्रेयस्कर उस वस्तु को कहता है जो प्रसन्न करे और औचित्य उस शक्ति को मानता है जिसे दूसरों पर लादा जा सके। प्लेटो का दर्शन इसके विपरीत श्रेयस् के अर्थ को लोगों की सम्मति से स्वतंत्र मानता है और यह अर्थ विश्व की सबसे अधिक वास्तविक चीज से निर्धारित होता है। किंतु विश्व की सबसे अधिक वास्तविक चीज क्या है? प्लेटो का उत्तर है कि इन्द्रिय-अनुभव की वस्तुएँ नहीं हैं, क्योंकि वे सदा अपना स्वभाव बदलती रहती हैं और एक ही समय में जितनी व्याख्याएँ हो सकती हैं उनके उतने ही रूप हो जाते हैं। खुजली में खुजलाना कष्ट कर और सुखदायक दोनों ही होता है। बुखार में वही पानी गर्म लगता है जो अच्छे भले में ठंडा लगता है। हेरेक्लाइटस का कहना था कि "तुम दो बार उसी नदी में नहीं नहा

सकते क्योंकि नया पानी प्रतिक्षण आता और बहता रहता है।" संसार की "हर चीज़ प्रवाहशील है, ध्रुव कुछ भी नहीं है।" यह सिद्धांत सोफिस्टों के हाथ में तार्किक और नैतिक सापेक्षवाद बन गया; कुछ भी स्थिर नहीं है, मूल्य और अर्थ भी नहीं। मानवी सम्मति ही सत्य की कसौटी है और मानवी सम्मति बदलती रहती है। इसके उत्तर में प्लेटो का यह कहना है कि अनुभव के परिवर्तनशील सब पहलू और बाध रखने वाली वस्तुएँ प्रतिभासिक मात्र हैं; वे सत्ता का निम्न रूप हैं और उनके अध्ययन से सत्य नहीं मिल सकता। एकरूपता सत्य का प्रधान गुण होना चाहिए। अतएव दार्शनिक को प्रतिभास से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए; उसको परिवर्तन के पीछे वस्तुओं के तात्विक रूप और मूलभूत स्वभाव को देखना चाहिये। इस प्रणाली से ही वास्तविकता को जाना और श्रेयस् के स्वाभाव को समझा जा सकता है।

मूलभूत धर्म (The Cardinal Virtues)

प्लेटो के नैतिक दर्शन की दृष्टि से हमें उचित और अनुचित के स्वभाव पर विचार करना चाहिए। 'रिपब्लिक' के पहले अध्याय में थ्रैसीमैकस ने यह स्वीकार किया था कि न्यायप्रिय व्यक्ति वह दुर्बल आदमी है जो अपने से अधिक शक्तिवान् लोगों को अपना शोषण करने देता है, उद्दण्ड और अन्यायी व्यक्ति ही सफल होता है इसलिये वही बुद्धिमान और सुखी होता है। सुकरात इसका प्रत्युत्तर यों देता है : क्या तुम्हें यकीन है कि अन्याय का मार्ग ही बुद्धिमानी का मार्ग है? ज़रा सोचो कि बुद्धिमत्ता अन्य क्षेत्रों में कैसे निश्चित की जाती है। सच्चे संगीतज्ञ और सच्चे वैद्य के पास अपना एक मापदण्ड होता है जिसके अनुसार खरा उतरना ही उसका उद्देश्य रहता है। झूठा और बनावटी संगीतज्ञ संगीत की परवाह न कर अन्य संगीतज्ञों से बाज़ी मार ले जाने की चिंता ही करता है; झूठा वैद्य रोगी के भविष्य के सुख और स्वास्थ्य की परवाह न कर उसे जैसे तैसे तुरन्त ठीक करके अपनी धाक जमाना चाहता है। क्या न्यायप्रिय व्यक्ति सच्चे संगीतज्ञ की भाँति ही नहीं है? क्योंकि उसका

उद्देश्य भी एक मापदंड के अनुसार होता है जबकि अधर्मी और अन्यायी व्यक्ति बेलगाम होकर काम करता है।

धर्म और न्याय प्रिय व्यक्ति का निर्देशन करने वाला मापदंड क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने में सुकरात थ्रेसीमेकस के इस दावे का भी कि अधर्मी व्यक्ति धर्मप्रिय व्यक्ति से अधिक सुखी होता है, खण्डन करता है। धर्म या औचित्य मनुष्य की आत्मा में रहने वाली वस्तु है, संगीतज्ञ या वैद्य होने की विशेषता नहीं है। किसी चीज की श्रेयस्करता जानने के लिए हमें उस वस्तु का स्वभाव जानना चाहिए। आँख का अच्छा होना स्पष्ट देखने में ही है, क्योंकि आँख का काम देखना ही है। इसी प्रकार मानवी आत्मा के नैसर्गिक कार्यों की परीक्षा से ही उसकी अच्छाई जानी जा सकती है। आत्मा का नैसर्गिक कार्य क्या है? पहली नज़र में लगता है कि आत्मा के अनेक कार्य हैं और उन्हें तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है। पहले तो साधारण इच्छाओं और द्वेषों की श्रेणी होती है। दूसरी श्रेणी में क्रोध, आकांक्षा मोह आदि हमारी सक्रिय अनुभूतियाँ और अन्तर्प्रेरणाएँ होती हैं। और अन्त में हमारे अन्दर विवेक और वरण कर सकने की शक्ति होती है जिसे मेधा (reason) कहा जाता है। पहली दोनों श्रेणियों का शासन और नियंत्रण मेधा को ही करना चाहिए। पहली श्रेणी के धर्म (virtues) सौम्यता और आत्मनियंत्रण हैं; दूसरी का साहस और तीसरी का चिंतन की शक्ति। न्याय इन तीनों से व्यापक तो है किंतु उसे उनसे अलग नहीं किया जा सकता। न्याय आत्मा का अपनी सारी पूर्णता के साथ कार्य करने में ही है, किसी एक पहलू में नहीं। न्यायपूर्ण आत्मा सुनियमित आत्मा होती है और उसमें बुद्धि, साहस और सौम्यता का परस्पर उचित सम्बन्ध होता है। चूँकि आत्मा ही मनुष्य का स्वभाव है इसलिए मनुष्य का मुख्य इष्ट अपनी आत्मा को सुनियमित बनाना ही है। और उसी में उसका सच्चा सुख है; क्योंकि अपने मुख्य इष्ट को पाने के अलावा अधिक सुख और किस बात में हो सकता है?

रूपों की धारणा (The Theory of Forms)

मानवी धर्मों (virtues) का अब तक किया गया विवेचन अलग से देखने पर विषयिसापेक्ष (subjective) मात्र ही लग सकता है। किन्तु प्लेटो धर्म को दो अर्थों में विषयसापेक्ष मानता है। धर्म में सामाजिक विषयसापेक्षता होती है। धर्मप्रिय व्यक्ति न्याय पर आधारित समाज में ही हो सकता है। प्लेटो ने 'रिपब्लिक' के चौथे अध्याय में सामाजिक आवश्यकताओं और कार्यों से चारों मूलभूत धर्मों (Cardinal virtues) की संवादिता दिखाकर उनका स्वतंत्र मूल्य प्रमाणित किया है। कार्यों को उचित ढंग से तभी किया जा सकता है जब उनके करने वालों में उनके करने योग्य धर्म हों।

धर्म एक दूसरी तरह से भी विषयसापेक्ष है। धर्म से हमारा अभिप्राय मानवी आचार से सम्बन्ध रखने वाला श्रेयस् है। श्रेयस् (Good) मनुष्य की धारणा मात्र ही नहीं है। मनुष्य की श्रेयस् की धारणाएँ श्रेयस् के रूप पर विचार करना ही है। सब लोग उसी को जानना चाहते हैं और जब गलती नहीं करते तो श्रेयस् की धारणा के अनुसार ही काम करते हैं। श्रेयस् के 'रूप' को स्पष्टतया देख लेने पर सब कुछ छोड़कर केवल उसी को पाने की चेष्टा की जाती है। शारीरिक अपूर्णताओं से हम उस 'रूप' को धुँधला देखते हैं। हम किसी गुफा में बन्द लोगों के समान हैं जो दीवारों पर बाहर प्रकाश में चलने वाली वास्तविक वस्तुओं का प्रतिबिम्ब मात्र ही देखते हैं। प्रतिबिम्ब वास्तविक वस्तुओं के सदृश ही लगते हैं किन्तु जागरूक आत्मा उनके इस सादृश्य से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह वास्तविक वस्तुओं और प्रकाश को पाने की चेष्टा करती है। हम साधारण अनुभव में जिन चीज़ों को देखते हैं और जिन इच्छाओं की अनुभूति करते हैं वे दीवार पर प्रतिबिम्ब की भाँति ही हैं। प्रतिबिम्बों में हमें इस बात का संकेत मिल जाता है कि उनसे परे भी कोई सत्य है और हमें उस सत्य को पाने का प्रयास करना चाहिए।

उस सत्य को पाना अनेकों की शक्ति के बाहर है? नहीं, यदि वे

अपना भ्रम छोड़ दें, क्योंकि श्रेयस् के रूप (Form of Good) की धारणा ईश्वर की धारणा पर है। यदि हम सत्य वस्तुओं के सम्पर्क में बढ़ नहीं आते तो हम श्रेयस् के रूप को जान सकते हैं।

२ अरस्तू

स्पष्ट है कि प्लेटो पूरा मानवतावादी नहीं है। उसकी नैतिकता जहाँ तक मनुष्य के स्वभाव में निहित अनेक पहलुओं के महत्व को स्वीकार करती है वहाँ तक वह भावात्मक रूप से मानवतावाद का पोषण करती है; किन्तु जैसा कि अभी दिखाया गया है उसका एक तात्विक (transcendental) पक्ष भी है। मानवतावादी श्रेयस्कर आदर्शों की अनुभूति मानवेतर सत्ता की सत्ता से नहीं मानता।

इस बात में सुकरात (४६९-३९९ ई० पूर्व) और अरस्तू (३८४-३२२ ई० पूर्व) दोनों ही प्लेटो से अधिक मानवतावादी हैं। चीन के कन्फ्यूशियस (५५१-४७८ ई० पूर्व) को छोड़कर सुकरात और अरस्तू पाश्चात्य जगत में मानवतावादी नीतिशास्त्र के सर्वप्रथम प्रतिपादक हैं। ये यूनानी नैतिकता के दायाधिकारी होने के नाते ही परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं किन्तु ये प्लेटो के द्वारा भी सम्बन्धित हैं जो सुकरात का अनुयायी और अरस्तू का अध्यापक था। किन्तु उन दोनों की अभिरुचियों और शिक्षा देने के ढंग में ज़मीन आसमान का अन्तर था। सुकरात व्याख्यान या लम्बी बातचीत करना पसन्द नहीं करता था; वह दूसरे अध्याय में वर्णित प्रश्न-उत्तर का ढंग ही पसन्द करता था। वृद्धावस्था में जब प्लेटो उससे परिचित हुआ था तो उसकी रुचि विज्ञान से हटकर मानवी प्रश्नों की ओर लग गई थी। उसने लिखा कुछ नहीं था।

अरस्तू की शिक्षाएँ व्याख्यान के रूप में दी गई थीं। अरस्तू ने अपने समय की शिक्षा के हर विषय पर व्याख्यान दिए थे। तर्कशास्त्र, तत्त्वमीमांसा, भौतिक विज्ञान (जिसमें जीवशास्त्र भी था), मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, भाषण कला, नाटकीय काव्य आदि

कुछ विषय थे जिन पर अरस्तू शिक्षा दिया करता था। अरस्तू की शिक्षाओं का अधिकांश उसके शिष्यों का लिखा जान पड़ता है। नीतिशास्त्र पर उसके व्याख्यानों का संग्रह उसके दामाद नाइकोमैकस ने किया था जिससे अरस्तू के नीतिशास्त्र को नाइकोमैकसीय (Nicomachean) नीतिशास्त्र कहा जाता है।

मनुष्य का परम हित

अरस्तू नीतिशास्त्र को उस विशाल अध्ययन की एक शाखा समझता है जिसे राजनीति कहा जाता है। उसके अनुसार मनुष्य एक 'राजनीतिक' प्राणी है क्योंकि वह अपने स्वभाव की क्षमताओं की पूर्ति एक व्यवस्थित समाज का अंग होने पर ही अच्छी तरह कर सकता है। "चीजों के प्राकृतिक क्रम में राज्य व्यक्ति और परिवार से उसी तरह पहले आता है जिस तरह सम्पूर्ण खण्ड से पहले आता है।" मनुष्य को इस दृष्टि से देखने पर उसका परम हित क्या है जिसके लिए वह सदा कोशिश करेगा? परम हित की सत्ता को होना चाहिए। इसका सबूत निम्नलिखित युक्ति से मिलता है: "प्रत्येक कला, खोज, काम और वस्तु का उद्देश्य कोई न कोई विशेष हित होना है; चिकित्साशास्त्र का उद्देश्य स्वास्थ्य को ठीक रखना है, सैनिक शिक्षा का उद्देश्य विजय पाना है, पारिवारिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य धन पाना है।" मनुष्य के इन विभिन्न साध्यों की परीक्षा करने पर उनमें श्रेणी-भेद मिलता है। "लगाम बनाना और घुड़सवारी की अन्य चीजों को तैयार करना घुड़सवारी की कला के अन्तर्गत है और घुड़सवारी की कला सैनिक-शास्त्र के अन्तर्गत है।" यही अन्य बातों के साथ भी है। प्रमुख-कलाओं के साध्य उनके अन्तर्गत कलाओं के साध्यों से अधिक अपेक्षित हैं क्योंकि अन्तर्गत कलाओं के साध्यों की खोज प्रमुख कलाओं के साध्यों के लिए ही की जाती है। किंतु प्रमुख-कलाओं के साध्य स्वयं क्या हैं? क्या वे भी किन्हीं अन्य साध्यों के अन्तर्गत हैं? हाँ, उचित रूप से निर्मित व्यक्ति के लिए हैं। युद्ध में सैनिक शास्त्री सैनिक-शास्त्र को स्वयं साध्य समझ सकता है; इसी तरह, कंजूस धन को समझ

सकता है। किंतु मनुष्य ही सैनिक या कंजूस होने के नाते ऐसे असंतुलित मूल्यांकन करता है; मानवतावादी सिद्धान्त[1] के अनुसार मनुष्य को वरण और पसन्द मनुष्य के नाते ही करना चाहिए। निर्विशेष रूप से मनुष्य का प्रधान साध्य क्या है? वह साध्य अरस्तू के अनुसार मनःप्रसाद (eudaimonia) है।

किसी प्राचीन विचारक को समझने के लिए उसके शब्दों का स्पष्ट अर्थ जानना चाहिए। जिस यूनानी शब्द का अनुवाद यहाँ मनःप्रसाद किया गया है उसका अर्थ सुख न होकर वरण और निवारण के अच्छे आन्तरिक सिद्धान्त है। मनःप्रसाद का अर्थ है कि मनुष्य अपनी आत्मा को स्वस्थ करके शारीरिक और सामाजिक स्थिति का उपभोग पूर्णता के साथ कर सके।

मानवी कर्मों का साध्य मनःप्रसाद है इसे सब मानते हैं किंतु अधिकतर लोग मनःप्रसाद को सुख में समझते हैं। सुख मनःप्रसाद की एक आवश्यक शर्त है किंतु वह मनःप्रसाद को स्थाई बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। जो लोग सुख को ही सब कुछ समझते हैं "वे जानवरों के योग्य गुलामी को पसन्द करते हैं।" चूँकि सुख की इच्छा प्रबल होती है इसलिए उनका दृष्टिकोण अधिकतर लोग स्वीकार कर लेते हैं। किंतु मनुष्यों का एक छोटा समुदाय ऐसा भी होता है जिसमें कर्म की प्रधानता रहती है। उस समुदाय के लोग मनःप्रसाद को सम्मान और सफलता में मानकर अपने यश को बढ़ाने में ही लगे रहते हैं। अरस्तू ऐसे लोगों

---

[1] अरस्तू ने किसी ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं किया है जिसका शाब्दिक अनुवाद मानवतावाद हो। जिन सिद्धान्तों को यहाँ मानवतावाद कहा गया है वे उसके लिए इतने स्पष्ट थे कि उसने उन्हें कोई नाम नहीं दिया। 'मनुष्य मनुष्य के नाते' या 'मनुष्य निर्विशेष रूप से' आदि अरस्तू और सुकरात द्वारा प्रयुक्त वाक्य मानवतावाद पर जोर देकर उसका समर्थन करते हैं।

को सुखों के दास बने रहने वाले लोगों से ज्यादा प्रशंसनीय समझता है। समानतन्त्र (commonwealth) की रक्षा और संचालन के लिए ऐसे आदमियों का होना जरूरी है। किंतु राजनैतिक सफलता को जीवन का साध्य समझने में दो कमियाँ हैं। राजनैतिक सफलता किसी एक व्यक्ति के प्रयास पर निर्भर न होकर अन्य व्यक्तियों के नियमानुसार काम करने पर भी निर्भर होती है। अच्छे आदमियों में सम्मान प्राप्ति की इच्छा का उद्देश्य अपनी ही योग्यता के प्रति विश्वास रखना होता है और ये अच्छे लोगों का सम्मान पाने के ही इच्छुक होते हैं क्योंकि वे अपने उन्हीं गुणों का सम्मान चाहते हैं जिन्हें अच्छे आदमी श्रेयस्कर समझते हैं। जो लोग अपने कामों के आधार पर विचार कर सकने की क्षमता रखते हैं उनके लिए नैतिक श्रेय का धर्म (virtue) सम्मान से अधिक मूलभूत है। धर्म, जिसके बारे में अभी विचार किया जायगा, अच्छे जीवन की सुख से अधिक आवश्यक शर्त है किंतु यह भी अपेक्षित मापदंड को पूरा नहीं करता क्योंकि "उसे नींद में हो पाया जा सकता है......दूसरे एक धार्मिक आदमी दरिद्र भी हो सकता है और दरिद्रता को कोई भी अच्छा जीवन नहीं कहेगा।" जीवन का एक रूप रुपया बनाना भी हो सकता है किंतु रुपया बनाना हमारा साध्य नहीं है "क्योंकि रुपया तो किसी और बात का केवल साधन मात्र ही है।" सुख और सफलता को जीवन का उद्देश्य बनाने में कमियाँ हैं अतएव जीवन का एक तीसरा रूप रह जाता है जो "मनन" (theoretikos) है। 'मनन' से अरस्तू का तात्पर्य 'जीवन को दृढ़ता और सम्पूर्णता के साथ देखना' है। मननशील जीवन की विशेषताओं पर आगे विचार किया जायगा।

खोज का मानवतावादी आधार

(The Humanistic Ground of Inquiry)

प्लेटो के शाश्वत रूपों (Eternal Forms) के सिद्धान्त की आलोचना में अरस्तू के मानवतावाद का निषेधात्मक पक्ष प्रकट होता है

श्रेयस् (goodness) को अनुभवातीत (transcendent) और जगत के पदार्थों से विलक्षण मानने में अरस्तू को कई कठिनाइयाँ मिलती हैं : श्रेयस उतना निरवयव (simple) नहीं है जितना कि प्लेटो की युक्ति से प्रकट होता है; (२) विशिष्ट श्रेयसों से अलग श्रेयस् के एक शाश्वत रूप की सत्ता मानने से विशिष्ट पदार्थों के श्रेयस की व्याख्या नहीं होती वरन् एक नया तथ्य सामने आता है जिसको अपनी व्याख्या की जरूरत खुद होती है; (३) रूपों की शाश्वतता नैतिक समस्या पर कोई असर नहीं डालती क्योंकि "सफेद सदा सफेद ही रहेगा चाहे वह बहुत दिनों रहे या एक ही दिन, इसी प्रकार आदर्श श्रेयस (Ideal Good) शाश्वत होने के नाते अधिक श्रेयस् नहीं हो जायगा;" और (४) सबसे आवश्यक बात यहाँ यह है कि श्रेयस् का शाश्वत रूप अनुभवातीत होने से "व्यावहारिक और मनुष्य द्वारा प्राप्य नहीं है जबकि जिस श्रेयस् को नैतिकता में खोजा जाता है उसे मानवी पहुँच के अन्दर होना चाहिए।" फिर अनुभवातीत धारणाओं में श्रेयस को खोजने से क्या लाभ ! मनुष्य का श्रेयस् हमारी आँखों के सामने मनुष्य के स्वभाव में ही मिलता है। जिस प्रकार किसी चीज की श्रेष्ठता उसकी स्वाभाविक योग्यता में होती है उसी प्रकार मनुष्य का श्रेय उसकी स्वाभाविक क्षमताओं के अध्ययन से ही जाना जा सकता है।

मनुष्य की स्वाभिवक क्षमता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर अरस्तू की प्राकृतिक पदार्थों की तार्किक व्यवस्था की धारणा पर निर्भर है। पदार्थों का प्राकृतिक वर्गीकरण किया जा सकता है। सारे भौतिक पदार्थ या तो जड़ होते हैं या चेतन। अरस्तू प्राकृतिक पदार्थों के इस वर्गीकरण को मुख्य समझता है। चेतन पदार्थ पशुओं और पशुओं से इतर प्राणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। इसी प्रकार पशुओं में भी कई श्रेणी विभाग किये जा सकते हैं। मनुष्यों का विभाग उनके कामों के अनुसार किया जा सकता है। कामों के अनुसार वर्गीकरण करना अरस्तू के दर्शन की मुख्य बात है; अरस्तू का प्राकृतिक दर्शन, तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र उसी की

शृंखला से प्रथित है। अतएव उसके संभव निगमनों को देखने के लिये हमें उसके उपयोजना की परीक्षा करनी चाहिये।

वर्गीकरण में किसी उपजाति को उससे बड़ी जाति के अन्तर्गत रक्खा जाता है। मनुष्य को पशु और पशु को प्राणियों की जाति में रक्खा जाता है। जाति का अर्थ उपजाति के अर्थ से ज्यादा बड़ा होता है। उपजाति की विशेषता उसके भेद (differentia) से बताई जाती है। किसी वर्ग की परिभाषा में उसकी जाति तथा भेद दोनों बताने पड़ते हैं, जैसे मनुष्य पशु होने के साथ साथ चिंतन की क्षमता भी रखता है। अरस्तू की मानवी श्रेय की परिभाषा में यह विशिष्ट भेद ही मूल आधार है। मनुष्य में मनुष्य होने के नाते चिंतन की क्षमता होती है; पशु होने के नाते संवेदन और अन्तर्प्रेरणा होती है; चेतन पदार्थ होने के नाते चेतन पदार्थ के गुण होते हैं। नीतिशास्त्र में इन सबकी क्या महत्ता है?

अरस्तू का नीतिशास्त्र उसके प्राकृतिक दर्शन और तर्कशास्त्र से समन्वित है। जब वह हरेक उपजाति के भेद को गुण न मानकर क्षमता या कार्यशक्ति—किसी विशेष ढङ्ग से काम करने की प्रवृत्ति—मानता है तो वह तर्कशास्त्र से प्राकृतिक दर्शन की ओर आता है। पदार्थ का श्रेयस्कर होना किस बात में है? इस प्रश्न को उठाकर वह प्राकृतिक दर्शन से नीतिशास्त्र पर आता है। अरस्तू उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह देता है: पदार्थ की स्वाभाविक कार्यवृत्ति का पता लगा लेने से उस पदार्थ का 'धर्म' या श्रेयस्कर होना उसके ठीक तरह से काम कर सकने में होगा। पेड़, मकड़ी और मनुष्य के धर्म का निश्चय उनकी स्वाभाविक क्षमताओं के आधार पर अलग अलग करना चाहिये। इसी प्रकार मनुष्य का सामान्य धर्म उसके कलाकौशल में निपुण होने से अलग है। किसी आदमी को इसलिये श्रेष्ठ नहीं माना जाता क्योंकि वह अच्छा गवैया है या चतुर माली है। मनुष्य का उचित धर्म उन क्षमताओं को पूरा करने में है जो उसे मनुष्य होने के नाते मिली हैं और जो उसे अन्य प्राणियों की उपजातियों से अलग करती हैं। चूँकि मनुष्य में चिंतन कर सकने की योग्यता

है इसलिये उसकी श्रेष्ठता उसकी इस योग्यता के विकास से माननी चाहिये।

चिंतन शक्ति का प्रयोग दो तरह से किया जा सकता है। मनुष्य की 'आत्मा' या जीव के तीन भाग हैं : बौद्धिक, संवेदनात्मक (appetitive) और वानस्पतिक (vegetative)। वानस्पतिक भाग पर बौद्धिक नियंत्रण नहीं हो सकता किंतु संवेदनात्मक पर हो सकता है। अतएव बुद्धि में विश्व का मनन करने की शक्ति के अलावा मनोभावों पर नियंत्रण कर सकने की शक्ति भी है। अतएव आत्मा के दो धर्म हैं, एक तो बौद्धिक और दूसरा नैतिक। दार्शनिक मनन बौद्धिक धर्म है और इच्छाओं पर अंकुश लगाना नैतिक। किंतु कोई व्यक्ति अपनी कार्यशक्ति को कभी कभी प्रकट कर देने से ही 'धार्मिक' नहीं बन जाता। 'धार्मिक' व्यक्ति वही है जिसमें उचित चिंतन या उचित काम करने की आदत पड़ गई है; दूसरे शब्दों में 'धार्मिक' व्यक्ति वही है जिसमें उचित काम और उचित चिंतन उसका टिकाऊ चरित्र बन गया है।

मध्यम मार्ग का सिद्धान्त (The Doctrine of Mean)

नैतिक धर्म तभी विद्यमान होता है जब बुद्धि मनोवेगों का ठीक ढंग से नियंत्रण करती है। किंतु वह ठीक ढंग क्या है? अरस्तू का उत्तर है :

> जिन धर्मों पर हम वाद विवाद कर रहे थे (अर्थात् नैतिक धर्म) वे अभाव या आधिक्य से नष्ट हो जाते हैं। व्यायाम के आधिक्य और कमी दोनों से स्वास्थ्य खराब हो जाता है; वह ज्यादा या कम खाने से भी बिगड़ जाता है किंतु उचित खाने से अच्छा रहता है और विकसित होता है। यही बात साहस, सौम्यता और अन्य धर्मों के साथ भी है : जो व्यक्ति हर चीज से डरता है वह कायर है और जो एकदम निडर है वह उजड्ड है। इसी तरह जो व्यक्ति हर तरह के सुख में लिप्त रहता है वह विलासी है और जो हर तरह के सुख से भागता है उसमें अनुभूति नहीं

है। अतएव सौम्यता और साहस कमी या ज्यादती से नष्ट हो जाते हैं किंतु ठीक अनुपात में सुरक्षित रहते हैं।[१]

मध्यम मार्ग के अनुसार काम करने का अर्थ क्या है? गणित की भाँति नैतिक काम का मध्यम मार्ग कम या ज्यादा के बीच का मार्ग नहीं है। नैतिक मध्यम मार्ग परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। सैनिक में दूकानदार से अधिक साहस होना चाहिए और उसका साहस उद्दण्डता के समान लग सकता है। यह बात केवल कामों पर ही लागू न होकर अनुभूतियों पर भी लागू होती है।

उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति कम या ज्यादा डर, साहस, इच्छा, क्रोध, दया, सुख और दुख का गलत या सही अनुभव कर सकता है। किंतु उचित समय, उचित अवसर पर, उचित व्यक्ति के प्रति उचित उद्देश्य से इन सबकी अनुभूति करना ही मध्यम मार्ग और धर्म का चिह्न है।[२]

इससे स्पष्ट है कि मध्यम मार्ग का सिद्धान्त कोई साधारण सी बात नहीं है। इस सिद्धान्त का निर्णय और उपयोजन बड़ी सावधानी से करना चाहिए। मध्यम मार्ग हमसे और प्रभावित होने वाली सभी घटनाओं और व्यक्तियों से सापेक्षता रखता है और उसका निर्धारण बुद्धि द्वारा होता है जिसे केवल विवेकशील और विकसित चरित्र का व्यक्ति ही कर सकता है।

मध्यम मार्ग का सुखों और दुखों से सम्बन्ध विशेष ध्यान देने योग्य है। मनुष्य एकाध अच्छा काम कर देने से ही धार्मिक नहीं हो जाता वरन् अच्छे कामों को करने की आदत डालने से होता है और जब आदत पड़ जाती है तो उसके अनुसार काम करना सुखकर होता है इसलिए सुख और दुख को नैतिकता की कसौटी बनाया जा सकता है। क्या दृष्टान्तपूर्ण

१ नाइकोमैकियन एथिक्स, पु० २, परि० २
२ वही, पु० २, परि० ६

काम करने वाला करने के समय संकोच करता है ? यदि वह संकोच करता है तो उसमें अभी शूरतापूर्ण काम करने की आदत नहीं पड़ी है। सौम्य व्यक्ति सौम्य स्थिति में आनन्द लेता है या अपने मन में कपट रखता है ? इसकी परीक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि मानवी आचरण के नियमों के अपवाद भी होते हैं; किंतु इससे यह चेतावनी मिलती है कि नैतिकता का निर्णय एक काम से न होकर विकसित प्रवृत्ति से होता है।

आदर्श जीवन

नैतिक धर्म की परीक्षा करने के बाद अब हमें अच्छे जीवन के प्रश्न पर ध्यान देना चाहिए क्योंकि नैतिक धर्म का विकास जीवन के हित या अच्छाई के लिए ही किया जाता है। नैतिक धर्म और स्वस्थ-जीवन में तादात्म्य नहीं है; स्वस्थ-जीवन स्वयं पूर्ण और पर्याप्त होता है। किंतु नैतिक धर्म किसी और बात की अपेक्षा रखता है क्योंकि जिस धार्मिक जीवन में सुख का अत्यन्त अभाव हो या दुख का आधिक्य हो उसे नैतिक दृष्टि से आदर्श नहीं कहा जा सकता।

तो क्या सुख स्वस्थ-जीवन की पर्याप्त कसौटी है ? नहीं, बिल्कुल नहीं। सुख एक तरह का हित अवश्य है क्योंकि लोग उसकी कामना करते हैं किंतु वह प्रधान हित नहीं है। प्रधान हित स्वस्थ-जीवन ही है और स्वस्थ जीवन आत्मा की क्रिया है जबकि सुख एक अनुभूति मात्र ही है। यदि सुख ही सब कुछ होता तो उन सेवकों का जीवन जिनके ऊपर कम उत्तरदायित्व है अपने स्वामियों से अधिक अच्छा होता। किंतु सेवक का जीवन स्वस्थ-जीवन नहीं है क्योंकि वह दूसरे के ऊपर निर्भर है। सुख स्वस्थ-जीवन का आन्तरिक सिद्धान्त नहीं है, वह स्वस्थ जीवन की मधुरता ही है।

मनुष्य का सबसे अच्छा मार्गदर्शक सुख या नैतिक धर्म न होकर मनन् या चिंतन को स्वयं साध्य बनाने का आनन्द लेना है। मनन् से अरस्तू का अभिप्राय हवाई किले बनाना नहीं है। विकसित मनुष्य में चिंतन का

निष्काम उपभोग उसकी सम्पूर्ण आत्मा की प्रामाणिक अभिव्यक्ति बन सकता है। किन्तु नैतिक धर्म तो भी एक आदर्श बना रहता है क्योंकि मनन ठीक से तभी हो सकता है जब नैतिक धर्म आदत और चरित्र उत्तम बन जाय। मनन् में सुख का अभाव नहीं होता क्योंकि जब मनन् करना आदत बन जाता है तो उससे बढ़कर सुख किसी और बात में नहीं मिल सकता। इस दृष्टि से देखने पर मननशील जीवन मानवतावादी आदर्श का एक प्रधान अंग है और यह आदर्श मनुष्य के सम्पूर्ण स्वभाव के साथ न्याय करता है।

३. संस्कृत मनुष्य का मापदंड

पाश्चात्य मानवतावादी विचारकों ने अन्य सम्प्रदाय के विचारकों की भाँति अपनी शिक्षाओं को व्यवस्थित करने में अधिक रुचि नहीं दिखा है। इसमें उन लोगों ने अक्लमन्दी ही दिखाई है क्योंकि जो दर्शन मानव स्वभाव के अनुभव की सत्यता पर आधारित है उसमें अनुभवों और अन्तर्दृष्टि का विकास होने पर लगातार परिवर्तन करने की आवश्यक्ता है। फिर भी नीचे मानवतावादी नीतिशास्त्र की कुछ विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

एपीक्यूरसीय और स्टोइक तत्व

जैसा कि देखा जा चुका है, अरस्तू ने सुख को श्रेयस्कर जीवन का एक आवश्यक अंग तो माना था किंतु उसे पर्याप्त नहीं समझा था। यह एक संतुलित दृष्टिकोण है और सुखों के विषय में इस दृष्टिकोण का प्रसिद्ध मानवतावादी और निबन्धकार मांतेन (१५३३-१५६२) ने भी समर्थन किया था। मांतेन अपने को 'पार्थिव जगत का प्राणी' घोषित करता था और 'शरीर की चिंता न करने वाले अमानुषिक मनुष्यों का तिरस्कार' करता था। सुख का महत्त्व समझना चाहिए; मांतेन उन लोगों से घृणा करता है जो सुख के उचित महत्त्व को ठीक तरह से नहीं समझते।

क्या मनुष्य दुखी प्राणी नहीं है ? उसका स्वभाव ही ऐसा

> है कि वह शुद्ध और पूर्ण सुख का उपभोग नहीं कर पाता फिर भी वह सुख का दमन करने की फिक्र में रहता है......
>
> मनुष्य अपने ज्ञान द्वारा मूर्खता में पड़कर उन सुखों को कम कर लेता है जिनका उपभोग करना उसका अधिकार है; वह अपने क्लेशों को अपनी कृत्रिम तरकीबों से सफलतापूर्वक छिपाने की कोशिश करता है।[1]

दूसरी ओर सुखों में अतिशय आसक्ति भी बुरी है। सुखों पर नियन्त्रण रखना चाहिए और उनका उपभोग उचित सीमा तक ही करना चाहिए। उदाहरणार्थ प्रणय के सुख को विवाह द्वारा पवित्र बना दिया गया है। अतएव "विवाहित सुख में नियंत्रण और गम्भीरता होनी चाहिए; वहाँ वासना को विवेकपूर्ण होना चाहिए।" सुनहला मध्यम मार्ग ही सुखों और अन्य वरणीय कामों का नियम है। जिन सुखों से असन्तोष पैदा होता है उनसे बचना चाहिए। दर्शन सुखों से विमुख होना न बताकर मध्यम मार्ग का अनुसरण करना बताता है। मन को सदा शारीरिक सुखों में आसक्त नहीं रखना चाहिए। दर्शन हमें "ज्यादा खाकर भूख को उत्तेजित करने और अभाव पैदा करने वाले सुखों से बचने की" चेतावनी देता है। सुखों के प्रति मांतेन का यह दृष्टिकोण एपीक्यूरस के संस्कृत सुखवाद के बहुत समीप आ जाता है।

मानवी स्वभाव के बारे में मानवतावादी दार्शनिक एपीक्यूरसीय और स्टोइक दोनों प्रवृत्तियों को आवश्यक समझता है। विलियम जेम्स (१८४२-१९१०) ने, जिसे मानवतावादी कहा जा सकता है, नैतिक प्रवृत्तियों के इस विरोध का वर्णन यों किया है :

> व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य के नैतिक जीवन का प्रमुख भेद विलासिता और कठोरता का भेद है। विलासिता में हम वर्तमान क्लेशों से बचते हैं किंतु कठोरता में हम उनके प्रति

---

[1] दि एसेज़, पु० ३, परि० १०

उदासीन रहते हैं, यदि हम बड़े आदर्श को प्राप्त कर सकें तो। कठोरता हर व्यक्ति में होती है किंतु कुछ लोगों में उसका जागरूक होना कठिन होता है। उसको पाशविक उद्वेगों, बड़े-बड़े डरों, प्रेमों और क्रोधों से ही जागरूक किया जा सकता है; या उसको जागरूक करने के लिए न्याय, सत्य या स्वतंत्रता जैसी श्रेष्ठ बातों का आधार लेना पड़ता है।[1]

चूँकि विलासिता और कठोरता दोनों ही मनुष्य के जीवन के अंग हैं अतएव मानवतावादी नीतिशास्त्र में एपीक्यूरसीय और स्टोइक दोनों नैतिक अन्तर्दृष्टियों को प्रतिष्ठित करना चाहिए।

स्टोइक लोग मन की स्वतंत्रता और कुलीनता को बहुत श्रेयस्कर मानते हैं; ये गुण उनके मृत्यु सम्बन्धी दृष्टिकोण में अधिक स्पष्टता से परिलक्षित होते हैं। वे मृत्यु को अवश्यम्भावी समझकर उससे डरते नहीं। वे जीवन को हर तरह की निरर्थक बात से प्रभावित हो जाने वाली एक साँस मात्र ही समझते हैं जो मनुष्य को कुछ समय के लिए कष्ट देती रहती है। एपीक्यूरसीय व्यक्ति मृत्यु का सामना साहसपूर्वक न कर तर्कपूर्वक करता है और उसको दुखमय नहीं मानता किंतु स्टोइक मृत्यु का सामना साहसपूर्वक करता है चाहे वह दुखमय ही क्यों न हो क्योंकि वह दुख को भी नीचा दिखाना चाहता है। इस स्टोइक प्रवृत्ति को मानवतावादी मांतेन ने यों अभिव्यक्त किया है :

> जिस तरह हमें भागते देखकर शत्रु और भी भयंकर हो जाता है उसी प्रकार हमें डरते और काँपते देखकर दुख को गर्व होता है। दुख अपना विरोध करने वाले से आसानी से हार जाता है। हमें डटकर उसका प्रतिरोध करना चाहिए। दुख के सामने घुटने टेक देने से हम अपने विनाश को निमंत्रण दे देते हैं। जिस तरह शरीर दृढ़ होने से आक्रमण का प्रतिरोध

---

१ दि विल टु बिलीव एंड अदर एसेज, पृ० २११ (लांगमैन्स,ग्रीन

अच्छी तरह कर सकता है उसी तरह आत्मा भी करती है।[1]

सामञ्जस्य का सिद्धान्त (The Principle of Harmony)

मानेन का कहना है कि "लक्ष्य से परे और लक्ष्य से कम निशाना साधने वाला धनुर्धारी चूक जाता है। ज्यादा चमक और गहरे अँधेरे में जाने पर आँख को तकलीफ होती है।" हमें अपना निर्देशन कैसे करना चाहिए? इस प्रश्न को उठाने वालों के लिए मानेन उपर्युक्त उत्तर देता है। हमारा मापदंड क्या होना चाहिए? इसका उत्तर मानेन अरस्तू की भाँति ही देता है: "हर स्थिति में मध्यम मार्ग का अनुसरण करो।" "स्वस्थ-जीवन के नियम हमें अपने अन्दर ढूँढने चाहिएँ।" प्रथाओं का तिरस्कार नहीं करना चाहिए क्योंकि वे गलत या मूर्खता पूर्ण होने पर भी प्राचीन युग के अर्जित ज्ञान पर अवलम्बित होती हैं। किन्तु नैतिकता प्रथाओं से एकदम स्वतंत्र न होते हुए भी उनसे श्रेष्ठ है। नैतिकता का आधार प्रथा, राजनैतिक नियम या ईश्वर की दुहाई न होकर चरित्र है। मानवतावादी चरित्र को नियमित रखने का सिद्धान्त मध्यम मार्ग या मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाने वाली सभी आवश्यकताओं और इच्छाओं के सामञ्जस्यपूर्ण विकास में पाता है। मध्यम मार्ग और सामञ्जस्य दो आदर्श न होकर एक ही हैं। प्लेटो सामञ्जस्य का आदर्श इच्छाओं और अभिरुचियों को नियमित करने वाले सिद्धान्त में मानता है। नियमित करने वाला सिद्धान्त कोई कठोर शाब्दिक नियम नहीं है। किसी स्थिति में मन का स्वस्थ सामञ्जस्य करने और आन्तरिक दृष्टिकोण के उचित होने पर ही नियमन सिद्धान्त को ठीक तरह से समझा और लागू किया जा सकता है।

क्या मानवतावाद काफी है?

परिस्थितियाँ और विचार जहाँ तक आज्ञा दें वहाँ तक जीवन के लिए सामञ्जस्य का सिद्धान्त प्रशंसनीय है। मानव आदर्श संसार में

---

1 एसेज़, पु० १, परि० १२.

८

अहम् की समस्याएँ

(The Problems of Selfhood)

हम अपने लिए चाहे किसी भी नैतिक आदर्श को अच्छा क्यों न समझें किंतु उसको व्यवहार में लाना कठिन काम है। विशेष अवसरों पर नैतिक आदर्श को व्यवहार में ले आना ही काफी नहीं है और उसे लक्ष्य भी नहीं समझना चाहिये। *अच्छा आदमी हर काम को करने के लिए अपनी* आदतों को पक्का बना लेता है। नकल या अविवेक बुरी आदतों की ओर ले जा सकता है; सोच विचार कर आदतें बनाना और उन्हीं के अनुसार चलना जरा कठिन है। पिछले अध्याय में कहा गया था कि मनुष्य अपना पुनिर्माण कर सकता है और वह जो कुछ बनना चाहता है उसके बारे में किसी हद तक निश्चय भी कर सकता है। यह बात मशीनी प्रवृत्ति रखने वाले आलोचक के लिए एक विरोधाभास है। अपने वर्त्त-मान युग में हम मशीन ही को आदर्श समझते हैं। मशीन बाहर से सचालित होती है और बिगड़ने पर बाह्य साधनों से दुरुस्त भी की जाती है। यदि मशीन के साधर्म्य से तर्क करके निष्कर्ष निकाला जाय तो मशीन को संचालित करने वाली शक्ति में उद्देश्य होता है। मशीन को ठीक करनेवाले कारीगर का भी उद्देश्य होता है। यदि मनुष्य को भी मशीन समझा जाय तो उसको ठीक करने के लिए विश्वकर्मा या ईश्वर जैसे कारीगर की अपेक्षा होगी। किंतु हम एक ओर मनुष्य की व्याख्या करने के लिए मशीन को आदर्श बनाते हैं और दूसरी ओर उस आदर्श के तार्किक परिणाम की उपेक्षा करते हैं। अतएव मनुष्य का मशीनीकरण बौद्धिक सिद्धान्त नहीं है और अहम का स्वभाव समझने के लिए उससे बचना चाहिये, नहीं तो उनसे हमारी खोज मे बाधा पड़ेगी। अतएव

इस अध्याय में पहले तो अहम् के स्वभाव पर विचार किया जायगा जिसके कारण अहम् और पदार्थों में भेद होता है और फिर धर्म और अधर्म (virtue and vices) के नैतिक प्रश्न पर विचार किया जायगा जिससे अहम् का चरित्र निर्मित होता है और किया जा सकता है।

१ अहम् क्या है ?

हम सब "मैं" "मुझे" "मेरा" आदि शब्दों को रोजाना प्रयोग में लाते हैं किंतु उनके अर्थ में बहुत सी असंगति होती है। 'यह मेरी किताब है' 'मैं प्यासा हूँ' 'मैंने भोजन स्वयं बनाया है' 'मुझे चोट लग गई' 'मैं आत्मसम्मानी हूँ' 'मुझे आत्मज्ञान है' आदि वाक्यों में मैं (अहम्) शब्द का एक ही प्रयोग नहीं मिलता। 'अहम्' (यानी मैं) विभिन्न वस्तुओं से विभिन्न तरह से सम्बन्धित होता है। हमारा "मैं" समाज में, घर पर, अपरिचित व्यक्ति से मिलने पर, धार्मिक क्षेत्र आदि में प्रतिक्षण बदलता रहता है। नैतिकता का निर्णय करने के लिए हमें "मैं" (अहम्) की संकुचित धारणा से बचना चाहिए और "मैं" को सम्पूर्णता के साथ समझने की चेष्टा करनी चाहिए। "मैं" या अहम् के स्वभाव की परिभाषा नहीं दी जा सकती किंतु फिर भी उसकी दो विशेषताओं की ओर संकेत किया जा सकता है : और वे विशेषताएँ हैं आत्मोत्सर्ग (self transcendence) और आत्मसंचालन (self direction)।

आत्मोत्सर्ग

अहम् की निश्चित सीमाएँ नहीं हैं। इस कथन से ऊपर से देखने पर विरोधाभास लग सकता है किंतु यह एक वास्तविक सत्य है। जड़ और निश्चल वस्तुओं की तो निश्चित सीमाएँ होती हैं। भौगोलिक दृष्टि से नगर और देश की निश्चित सीमाएँ हैं। किंतु मानवी संस्था और मानवी कल्पनाओं की कोई सीमा नहीं है। अहम् शरीर की भांति कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि त्वचा के बाहर मनुष्य

का व्यक्तित्व बनाती है।" दूसरे शब्दों में अहम् आत्मोत्सर्ग है। अहम् की यह प्रमुख विशेषता अनेक पहलुओं से देखी जा सकती है।

निश्चित सीमाओं के बाहर अहम् के उत्सर्ग का पहला पहलू पदार्थों के ज्ञान में मिलता है। हमें अपने शरीर का ही घनिष्ठ ज्ञान होता है। शरीर को अहम् द्वारा ज्ञेय वस्तु माना जाय या अहम् का ही एक अंश? विशेष अभिरुचियों और विशेष अवसरों के लिहाज़ से इस प्रश्न के दोनों उत्तर हो सकते हैं। कुछ शारीरिक अंग अहम् से अधिक घनिष्ठ होते हैं। मनुष्य के निर्माण में कपड़ों का भी बड़ा हाथ होता है; नए कपड़े पहनकर लोग अपने को 'नया आदमी' समझने लगते हैं। मनुष्य का अपनी मूल्यवान वस्तुओं से भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है।

> यदि किसी की पुस्तक की पांडुलिपि या कोई जीवन भर की मेहनत का काम नष्ट हो जाय तो उसे लगता है जैसे कि उसी का नाश हो गया हो। कंजूस को अपना धन चले जाने पर ऐसा ही लगता है। यह सच है कि किसी मूल्यवान वस्तु के नष्ट हो जाने पर जी का बैठ जाना इस अनुभूति के कारण ही होता है कि हमें उस वस्तु से विहीन होकर जीवन बिताना पड़ेगा किंतु फिर भी हमें यह सब होते हुए अपने व्यक्तित्व के सिकुड़ने या एक प्रकार की शून्यता का अनुभव होता है जो स्वयं एक मनोविज्ञानीय तथ्य है।[1]

किसी वस्तु के खो जाने पर हमें अपने '*व्यक्तित्व के सिकुड़ने*' का अनुभव तत्काल होता है और किसी नई चीज़ के मिल जाने पर लगता है मानों हमारे व्यक्तित्व का घाव पुर गया हो।

सामान्यतः यह दिखाया जा सकता है कि ज्ञान होने के समय अहम् का पदार्थों से आंशिक तादात्म्य स्थापित होता है। आम के पेड़ को

---

[1] विलियम जेम्स, प्रिंसिपिल्स आव् साइकॉलॉजी, जि० १, पृ० ३११।

देखकर हम यह सोचते हैं कि आम कब पकेंगे। हमें आम के पेड़ का बोध होता है और हम आमों के बारे में सोचते हैं किंतु हम आम के पेड़ के बोध और आम के बारे में सोचने की चिंता नहीं करते। हम यह नहीं पूछते कि आम के बारे में हमारे विचार कब पकेंगे क्योंकि आमों के पकने पर हमारा विचार अन्य बातों की ओर जा सकता है। तब क्या हम यह कह सकते हैं कि पेड़ एक चीज है और पेड़ के बारे में हमारा सोचना दूसरी चीज़? यदि ऐसा हो तो वे दोनों कैसे सम्बन्धित हैं? इस ज्ञान सम्बन्धी प्रश्न का साधारण उत्तर यह है कि हमारे दिमाग़ में पेड़ का मानसिक चित्र होता है जो पेड़ से समानता रखता है किंतु स्वयं पेड़ की भौतिक जगत में वाह्य सत्ता होती है। इस व्याख्या की आलोचना पर वाद विवाद करना इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर है। फिर भी कुछ कठिनाइयों को संक्षेप में देखा जा सकता है: (१) हम यह कैसे जान सकते हैं कि हमारा मानसिक चित्र पेड़ से संवादिता रखता है और इसलिए हम उन दोनों की तुलना कैसे कर सकते हैं? (२) अपने मानसिक चित्र के आधार पर हम यह कैसे जान सकते हैं कि पेड़ की वाह्य सत्ता है?, (३) क्या मानसिक चित्र सिर में रहता है? क्या हमारे सिर की विज्ञानीय परीक्षा से पेड़ के चित्र को जाना जा सकता है? नहीं। किंतु चूँकि पेड़ में प्रासरिकता (spatiality) होती है इसलिए यह पूछना उचित है कि यदि पेड़ का मानसिक चित्र सिर में नहीं होता और उन दोनों में तादात्म्य नहीं होता तो हमें पेड़ का बोध होता कैसे है? इसका एकमात्र समीचीन उत्तर यह है कि पेड़ और उसका बोध एक ही ज्ञान के दो पहलू हैं। सिद्धान्तीकरण के कारण ही पेड़ और उसके बोध को अलग-अलग समझा जाता है। इकाइयाँ, चाहे वे किसी प्रकार की क्यों न हों, सैद्धान्तिक होती हैं और उनमें वास्तविकता का किसी मात्रा तक खण्डन हो जाता है; अहम जैसी जटिल और अस्थाई इकाई के बारे में तो यह और भी सच है।

दूसरों के अहम से आंशिक तादात्म्य करने पर भी अहम का अपनी

सीमाओं के बाहर उत्सर्ग हो जाता है। विलियम जेम्स का कहना है। "व्यक्ति जितने आदमियों से परिचित होता है उसके अहम् के उतने सामाजिक पक्ष होते हैं। उनमें से किसी को भी चोट पहुँचाना उस व्यां को चोट पहुँचाना होता है।" हमारी सत्ता दूसरों के मानसिक चित्रों मे नहीं होती वरन् हम अन्य लोगों के प्रति कुछ रागात्मक प्रवृत्तियाँ रखते हैं। अनुकूल परिस्थिति में एक अहम् का दूसरे अहम् से नैसर्गि सम्बन्ध होता है और यही उदारतापूर्ण कामों का आधार है। स्वार्थपर और उदारता मे यथार्थ मेल नहीं होता किंतु यह आवश्यक नहीं है। अहम् का इतना विकास कर लिया जाता है कि उसमें अधिक से अधि लोगो की अभिरुचियों का समावेश हो सके तो उदारता आत्म अभिव्य का ही एक पहलू बन जाती है।

अन्य पदार्थों और अहम् के बोध के साथ अहम् को अपना बो भी हो सकता है। 'आत्मन् विद' (अपनी आत्मा को पहचानो) सः बड़ी नैतिक शिक्षा है। अहम् को जानने से ही स्वसंचालन उत्तरदायि के साथ किया जा सकता है।

क्या आत्मोत्सर्ग का चौथा रहस्यवादी ढंग भी है जिसमें अहम् ईश से एकाकार होकर अपना व्यक्तित्व नष्ट कर देता है? यह नैतिक क्षेत्र बात न होकर धार्मिक क्षेत्र की बात है। रहस्यवादी के लिए आत्मोत रहस्यवाद द्वारा ही संभव है।

कल्पना का काम (The Role of Imagination)

चूँकि मनुष्य कल्पना कर सकता है इसलिए उसके लिए आत्मोत संभव है। वैकल्पिक कामों का वरण कल्पना द्वारा ही किया जाता इसलिए कल्पना नैतिक चेतना या नैतिकता की एक प्रमुख शक्ति है। f भी कल्पना शक्ति सब लोगों में समान नहीं होती और इसलिए उन नैतिक श्रेय का भाव भी एक सा नहीं हो सकता। किंतु नैतिक बनने लिए कल्पना के साथ काम करना भी जरूरी है। जिस मनुष्य में कल्प नहीं होती वह अपने समाज की प्रथाओं के अनुसार चलता है। अनैि

होने से परम्परागत नैतिकता का पालन करना अच्छा है। किंतु परम्परायें बदलती रहती हैं और कभी कभी ये बुरे के लिए भी बदल जाती हैं और उस स्थिति में नैतिक मानदण्ड दृढ़ रूप से कल्पना कर सकने वालों के हाथ में ही रहता है।

मानवतावादी नीतिशास्त्र मनुष्य की, कल्पना द्वारा, दूरस्थ वस्तुओं, अन्य लोगों और मान्य आदर्शों से अपना तादात्म्य स्थापित कर सकने की योग्यता को एक स्वयंसिद्ध सत्य मानता है। इस तरह मानवतावाद बेन्थम और स्पेंसर के 'परमाणुवादी हेत्वाभास' (atomistic fallacy) को ठीक कर देता है जिसके अनुसार मानवी चेतनता को आत्मपूर्ण तथ्य माना जाता था। चेतनता आत्म-पूर्ण कभी नहीं हो सकती। चेतनता न तो मानसिक अवस्थाओं का समुदाय है और न ही किसी चीज़ का परिणाम या प्रतिक्रिया। जो लोग उसे मानसिक अवस्थाओं का समुदाय समझते हैं वे उसे निर्जीव बना देते हैं; जो लोग उसे परिणाम या प्रतिक्रिया समझते हैं वे यह भूल जाते हैं कि वह पदार्थों की उस व्यवस्था को किसी तरह जानती है जो उनकी शर्त है। किसी काम की शर्तों में अन्तर्दृष्टि रखना उस काम के निर्धारण में बड़ा महत्व रखती है चाहे उसका परिमाणन न किया जा सके। सार्थक निश्चय उसी की आधार पर किये जाते हैं।

आत्म-संचालन (Self Direction)

आत्मोत्सर्ग सामान्य दृष्टि से देखने पर अराजक (anarchical) हो सकता है और उसमें विकास के किसी विशेष मार्ग को पसन्द करने का सिद्धांत नहीं हो सकता। श्रद्धा और अनुराग भी एक तरह का आत्मोत्सर्ग है किंतु कुछ अनुराग बहुत संकीर्ण होते हैं। अराजकता की संभावनाएँ मनुष्य के आत्म विकसित व्यक्तित्व और आत्मनियंत्रित चरित्र से सीमित होती हैं। चरित्र की परिभाषा में यह कहा जा सकता है कि वह नियमित सिद्धांत के अनुसार अपनी स्वाभाविक अन्तर्प्रेरणाओं का नियंत्रण करने की एक स्थाई मनोभौतिक प्रवृत्ति है। चरित्रवान् होना एक अर्थ में

आत्मोत्सर्ग का पाँचवा ढङ्ग है : कुछ नियमित करने वाले सिद्धांत च
के घनिष्ठ और सक्रिय अंग बन जाते हैं। जो मनुष्य अपनी स्वा
अन्तर्प्रेरणाओं के प्रवाह में सदा इधर उधर बहता नहीं रहता वह अ
कामों की दिशा निर्धारित करने और नैतिक दृष्टि से उनको सार्थक ब
वाले सामञ्जस्य के किसी सिद्धांत को अवश्य मानता है या ढूँढ़ता

दूसरी ओर सामञ्जस्य के सिद्धान्त को अधिक कठोर और रूढ़
होना चाहिये। "सामञ्जस्यपूर्ण होने का अर्थ हर परिस्थिति में ए
तरह से अनुभव करना या काम करना नहीं है; सामञ्जस्यपूर्ण होने
अर्थ किसी आन्तरिक दृष्टिक्षेत्र को स्थापित कर हर परिस्थिति में
उतरना है। सामञ्जस्य का अर्थ अपरिवर्तनशील होना न होकर जग
हर परिवर्तन पर अपना दृष्टिकोण तैयार रखना है।" मानवतावाद
आदर्श हर स्थिति में "विभिन्न अन्तर्प्रेरणाओं में संतुलन बनाए रखना है

२. धर्म और अधर्म पर (On Vrices and Virtue

यदि अच्छी और बुरी आदतों के लिए क्रमशः धर्म और अ
शब्दों का प्रयोग किया जाय तो वाद विवाद आसान हो जाय
दुर्भाग्यवश धर्म और अधर्म शब्दों का अर्थ बदल गया है। अ
का अर्थ व्यभिचार करना, जुआ खेलना, शराब पीना आदि
समझा जाता है। व्यापार में बेईमानी करना, गर्म मिज़ाज का
या सुस्ती को अधर्म नहीं समझा जाता। धर्म का अर्थ 'अ
से बचना और सामाजिक समर्थन प्राप्त और परम्परागत मार्ग पर
यापन करना है। दार्शनिक वाद विवाद में धर्म और अधर्म शब्दों क
संकुचित अर्थ नहीं लिया जाता। धर्म या अधर्म का अर्थ व्यक्ति के
की किसी प्रकार की खूबी या खराबी है अर्थात् नैतिक कर्ता की अच्छ
बुरी कही जाने वाली आदतें हैं।

मूलभूत और नैमित्तिक धर्म (Intrinsic and Instrume Virtues)

जिस तरह दूसरे अध्याय में नैतिक साध्यों का मूलभूत और नैमि

में वर्गीकरण किया गया था उसी तरह का वर्गीकरण नैतिक आदर्शों का भी हो सकता है। जहाँ तक वे अपने से बाह्य अच्छे साध्यों को प्राप्त करने की ओर जाती है वहाँ तक सारी प्रवृत्तियाँ नैमित्तिक ही होती हैं। किंतु यहाँ एक विशेष बात पर ध्यान देना जरूरी है। जहाँ कुछ प्रवृत्तियों का मूल्य बाह्य लाभार्थ होता है वहाँ कुछ प्रवृत्तियों का अपना मूल्य भी होता है, वे अच्छे जीवन में सहायक नहीं होती स्वयं ही अच्छा जीवन होती है। ऐसी प्रवृत्तियाँ कौन सी हैं? इसके बारे में लोगों में मतभेद हो सकता है।

उदाहरणार्थ अपने प्रति ईमानदार होने का जितना मूलभूत मूल्य
... उतना गुणी होने का नहीं है। निस्सन्देह गुणी होने का भी कुछ ...
...त मूल्य अवश्य है, कुछ व्यक्तियों और समाजों में उसका मूल्य
... सकता है। हमारे बहुत से मूल्य सामाजिक तिरस्कार आदि जैसी ...
... बातों में भी निर्धारित होते हैं। अपने प्रति सच्चा होने का यही
...मूल्य है कि व्यक्ति अपने को गुणी समझने का भ्रम न रख...
... विकास का मार्ग प्रशस्त कर लेता है। अपने प्रति सच्चा होना अ...
...ओं के कारण ही मूल्य नहीं रखता, अपने प्रति सच्चा होना सामञ्जस्य...
...त्मा की अभिव्यक्ति है। अपने प्रति सच्चा होना सामञ्जस्य...
...क (reflective) बोध है और वही मनुष्य और जड़
... पशुओं के आचरण का मुख्य भेद है। अपनी सत्ता का
...ना ही सबसे बड़ा और आधारभूत धर्म है और चूँकि कुछ धर्मों
...त मानना ही पड़ता है अतएव अपने प्रति सच्चा होना मनुष्य
...रभूत धर्मों से श्रेष्ठ है।

... प्रति सच्चा होना एक जटिल समस्या पैदा कर देता है।
...च्चा व्यक्ति एक चलनी की ही भाँति होता है यथापि सामा-
... कुछ सचाई की ज़रूरत तो अवश्य पड़ती है। बातचीत
...ज़रूरी है क्योंकि उसके बिना कोई किसी का विश्वास
... पारस्परिक सम्बन्ध बिल्कुल टूट जायगा।

व्यक्तिगत और सामाजिक धर्म

अपने प्रति और दूसरों के प्रति सच्चा होने के भेद से अपने धर्मों और दूसरों के लिए धर्मों का एक आवश्यक भेद उत्पन्न हो जाता है। अपने प्रति सच्चा होना तो अपना धर्म है किंतु दूसरों के प्रति सच्चा होना अपना और दूसरों के लिए दोनों धर्म हो सकता है। वैयक्तिक और सामाजिक नीतिशास्त्र के बीच कोई गहरी रेखा नहीं खींची जा सकती क्योंकि व्यक्ति के विचार, मूल्य और उद्देश्य उसके समाज से अवश्य सम्बन्धित होते हैं। फिर भी स्पष्टता के लिए वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं और मूल्यों में भेद करना अनुचित नहीं है। उदारता और न्याय सामाजिक हैं क्योंकि समाज के न होने पर उनका कोई अर्थ नहीं रहेगा। किंतु कुछ ऐसी बातें भी हैं जो समाज से बिल्कुल अलग रहने वाले व्यक्ति के चरित्र के लिए अच्छी हैं।

कभी कभी अपने प्रति धर्मों को नैतिक समझने में सन्देह किया जाता है या उन्हें परोपकारवादी धर्मों से नीचा स्थान दिया जाता है। कभी कभी भावुकतावश धर्मों को सामाजिक ही समझा जाता है और व्यक्ति का कर्तव्य सदा दूसरों का या समाज का हित माना जाता है। कर्तव्य की इस भावना का खण्डन पहले और पाँचवें अध्याय के विश्लेषणों में किया जा चुका है। जब हम किसी दूसरे के प्रति अपना कर्तव्य स्वीकार करते हैं तो हम (१) उस व्यक्ति का कुछ मूल्य मानते हैं (२) जिसको पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किया गया है और (३) अपने में उसको प्राप्त करने की शक्ति समझते हैं। किसी व्यक्ति में ये तीनों बातें मानने पर ही हम उसके प्रति अपने कर्तव्य को स्वीकार करते हैं। यदि अ ब के प्रति और ब अ के प्रति अपने कर्तव्यों को स्वीकार करता है किंतु उनमें कोई भी अपने प्रति कर्तव्यों को स्वीकार नहीं करता तो अ और ब परस्पर एक दूसरे में तो मूल्य मानते हैं किंतु अपने में नहीं। वे परस्पर एक दूसरे में तो मूलभूत अच्छाई मानते हैं किंतु अपने को बाह्य दृष्टि से ही अच्छा समझते हैं। यह बात बड़ी असन्तोषजनक है

हम दूसरों में जिस अच्छाई को उन्नत करने की चेष्टा करते हैं हमारे अन्दर ही उसका अवसान होता है और सामाजिक सेवा मृगमरीचिका के पीछे दौड़ना मात्र ही बन जाता है। सेवा को ही एकमात्र लक्ष्य म वाले परहितवादियों (altruists) से कांट ज्यादा बुद्धिमान था क्यं उसने "मानवता को, चाहे वह अपने अन्दर हो या दूसरों के, साधन मानकर सदा साध्य मानने को" निरपेक्ष आदेश कहा था। अपने प्र धम अपने को हमेशा साध्य समझने वाली विकसित प्रवृत्तियाँ हैं; वे आत्मसम्मान जनित होती हैं।

आत्मसम्मान को घमण्ड नहीं समझना चाहिए। आत्मसम्मान पदार्थ है, घमण्ड छाया मात्र है। कोई व्यक्ति अपने रहन-सहन और कामों से दूसरों का आदर पा सकता है किंतु एक सीमा के बाहर जाने पर वह नैतिक हिजड़ा भी बन सकता है। आत्मसम्मान नैमित्तिक न होकर प्रधान श्रेय है। घमण्डी आदमी अपने को बढ़ा चढ़ा कर दिखाता है और इस प्रकार बनावट में फँस कर आत्म-विकास नहीं कर सकता। आत्मसम्मान व्यक्ति की क्षमता को बड़ा महत्व देता है और इसलिए धर्मों के विकास में सहायक होता है। पकड़े जाने का भय न होने पर भी हमें नीच काम क्यों नहीं करना चाहिए? क्योंकि, उत्तर है, हम हम हैं और नीच काम करके अपनी दृष्टि में गिरना नहीं चाहते। यही सामाजिक धर्मों में भी आवश्यक है। हम न्यायप्रिय क्यों होना चाहिए? परोपकार की भावना का होना ही न्यायप्रियता नहीं है क्योंकि उसका प्रयोग अपने कृपापात्रों के लिए ही सकता है। न्याय का आदर्श इसलिए मान्य है कि वह हम जो कुछ होना चाहते हैं या जिसकी प्रशंसा करते हैं उससे अधिक महान है। ठीक तरह से विकसित और प्रयुक्त होने पर आत्मसम्मान सचाई शांति और सारी धर्मगत बातों की सच्ची अनुभूति है।

तो अपने प्रति मुख्य धर्म कौन कौन हैं? इस विषय में दार्शनिकों और लेखकों का विभिन्न मत है। किंतु उन धर्मों में से अत्यन्त निष्पक्ष

विशेष है क्योंकि आत्मनियन्त्रण के बिना अन्य धर्मों का विकास नहीं किया जा सकता।

आत्म-नियन्त्रण (Self Control)

धर्मों में मुख्य न होते हुए भी आत्मनियन्त्रण धर्मगत और सुखी जीवन के लिए जरूरी है। उसके बिना चेष्टा करके अनैसर्गिक धर्मों को पाना असम्भव है। प्रत्येक धर्म अपनी विरोधी लालच पर विजय होता है। यूनानी दार्शनिकों ने निग्रह (Temperance) को प्रधान धर्म माना था और प्लेटो तो उसे अच्छे जीवन और स्थाई समाज की सर्वोत्तम तो नहीं किन्तु पहली शर्त मानता था।

आत्मनियन्त्रण की विरोधी आत्मअनुरक्ति है। आत्मअनुरक्ति की नैतिक मर्यादा बताना आसान नहीं है किंतु अत्यधिक आत्मअनुरक्ति से व्यक्तित्व क्षीण होता है। प्रयोग न किए जाने से इच्छा शक्ति और बुद्धि दुर्बल हो जाती है जिससे धीरे-धीरे उपभोग की क्षमता ही नष्ट हो जाती है। पालसन के अनुसार "निष्क्रिय उपभोग से संवेदन-शक्ति निर्जीव हो जाती है और सुख के लिए प्रबल और उत्तेजित करने वाली अनुभूतियाँ अपेक्षित हो जाती हैं जिससे आखिरकार एक थकान और सुस्ती की अवस्था आ जाती है; अंगों की शक्ति का ह्रास हो जाता है और जीवन दूभर हो जाता है।"[1] इससे स्वतन्त्रता भी नष्ट हो जाती है। सदा अपनी इच्छाओं की पूर्ति में लगे रहने से व्यक्ति उनका गुलाम हो जाता है। बेलगाम होने से इच्छाएँ बहुत अत्याचारी हो सकती हैं।

इच्छाओं के अत्याचार से लोगों ने अक्सर सांसारिक दुखों को तिलाञ्जलि देकर सन्यास ले लिया है। सन्यास वह नैतिक दर्शन और जीवनयापन की विधि है जो सुख को प्रधानरूप से बुरा मानती है। कुछ लोगों को विरागी बनने में आन्तरिक सन्तोष मिलता है। कुछ लोग अपनी वासनाओं के प्रवाह में आसानी से बह जाते हैं। संसार के कुछ,

---

[1] फ्रीडरिख पालसन, वही, पृ० ४८१-४८६

महान् विरागी असाधारण बलवती प्राकृतिक इच्छाओं और वासनाओं के रखने वाले लोग हुए हैं।

आत्मसंयम का लाभ उठाने के लिए विरक्ति को पूरी तरह स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। अरस्तू का हल अच्छा है। वह कहता है कि सभी सुखों से बचना नहीं चाहिए वरन् अच्छे काम की ऐसी आदत डालनी चाहिए कि वही सुखकर हो जाय। आदत पड़ जाने पर सुखकर हो जाती है और आत्मनियंत्रण की समस्या अच्छी आदतें डालने और उनको मजबूत बनाने की ही समस्या है। विलियम जेम्स का कहना है कि "सबसे बड़ी बात अपनी शारीरिक व्यवस्था को अपना मित्र बना लेना है" और वह अच्छी आदतें डालने और उनको बनाए रखने के चार गुर बताता है : (१) "अच्छे कामों को जल्दी से जल्दी अपनी आदतें बना लेना चाहिए और हानिकारक कामों की ओर प्रवृत्त होने से अपने को रोकना चाहिए"; (२) "जब तक नई आदत जड़ न पकड़ जाय तब तक उसमें कोई अपवाद नहीं करना चाहिए"; (३) "अवसर मिलते ही अपने निश्चय के अनुसार काम करना चाहिए और जिस आदत को डालना है उसके उकसाने वाले हर मनोवेग से लाभ उठाना चाहिए"; (४) "अभ्यास द्वारा चेष्टा को जीवित रखना चाहिए।"[1] मानवी मनोविज्ञान पर आधारित जेम्स का यह परामर्श बहुत महत्वपूर्ण है। वास्तविक महत्व निश्चयों का न होकर डाली गई आदतों का ही होता है। चौथे गुर में जेम्स विरक्ति सिद्धान्त की सीमित व्यावहारिकता को स्वीकार करता है : "रोज़ कुछ न कुछ अभ्यास करना चाहिए जिससे अवसर आने पर उसका सामना पूरी तैयारी के साथ किया जा सके।"

आत्मनियंत्रण के अभ्यास के लिए हमें कहाँ से प्रारम्भ करना चाहिए? इसका उत्तर टाल्सटॉय ने दिया है। जिस प्रकार अच्छे जीवन

---

१ दि प्रिंसिपिल्स आव् साइकोलॉजी, जि० १ पृ० १२२-१२७

की पहली शर्त आत्मनियंत्रण है उसी प्रकार आत्मनियंत्रण की पहली शर्त उपवास करना है :

> मनुष्य की अनेक इच्छाएँ होती हैं और उनका सफलतापूर्वक सामना करने के लिए नींव की इच्छाओं को पहले लेना चाहिए क्योंकि अन्य जटिल इच्छाएँ उन्हीं के ऊपर फलती फूलती हैं। शारीरिक सौंदर्य, खेलकूद, आमोद प्रमोद, गप्पबाज़ी आदि जटिल और ग्बूब खाना, आवारागर्दी, यौनिक प्रेम नींव की इच्छाएँ हैं। इनमें से पहले नींव की इच्छाओं से प्रारम्भ करना चाहिए। यह प्रारम्भ वस्तुओं के स्वभाव और मानवी ज्ञान की परम्परा से निर्धारित होता है।
>
> जो आदमी ज्यादा खाता है वह *सुस्ती से नहीं लड़ सकता* और जो आदमी आवारागर्द है वह यौनिक वासना से नहीं बच सकता। अतएव सारी नैतिक शिक्षाओं के अनुसार आत्म नियंत्रण ज्यादा खाने के विरुद्ध अर्थात् उपवास से शुरू करना चाहिए। आत्म नियंत्रण के बिना अन्य धर्म प्राप्त नहीं हो सकते; किंतु हमारे समय में अच्छे जीवन को प्राप्त करने के हर धर्म को ही नहीं भुला दिया गया है वरन् आत्मनियंत्रण तक आने की पहली बातों तक की उपेक्षा कर दी गई है। उपवास को बिलकुल छोड़ दिया गया है और उसे एक अनावश्यक अन्धविश्वास समझा जाने लगा है।[1]

यह याद रखना चाहिए कि विरागी होते हुए भी टालस्टॉय विरक्ति के दर्शन का प्रतिपादन नहीं करता। वह सुखों को बुरा न मानकर उनके अनिवार्य परिणामों को बुरा मानता है। खाने, यौनिक प्रेम और आमोद-प्रमोद आदि के मामले में विरक्ति कोई साध्य न होकर अच्छे जीवन को उन्नत करने के लिए आत्मनियंत्रण की ओर आने का पहला कदम है।

---

[1] एसेज़ एण्ड लेटर्स, पृ० ७७-७८

इस परामर्श की सब लोगों को समान जरूरत नहीं है। अपने आदर्श साध्यों को पाने के साधनों की क्षमता पर हरेक को स्वयं अपना निर्णय करना चाहिए।

धर्म और बुद्धि (Virtue and Intelligence)

सुकरात वास्तविक धर्म में बुद्धि का बड़ा स्थान और हाथ मानता था। साहस के साथ यदि विचार न हो तो साहस मूर्खतापूर्ण हो सकता है। बच्चे किसी चीज से नहीं डरते किंतु हम उन्हें साहसी नहीं कह सकते। साहस में किस चीज से डरना चाहिए और किससे नहीं डरना चाहिए इसके ज्ञान का बड़ा हाथ है। विचारपूर्वक किया गया काम ही साहसिक कहा जा सकता है। वास्तविक साहस ज्ञान का एक रूप है। साहस में भविष्य निहित रहता है किंतु हम ज्ञान की एक ही क्रिया से वर्तमान, भूत और भविष्य को जानते हैं और इसलिए उस ज्ञान के विषयों को भी एक ही होना चाहिए। इस प्रकार साहस और अन्य धर्मों में कोई तीव्र भेद नहीं है। हर धर्म ज्ञान का ही कोई पहलू है और उस ज्ञान के बाहर निरर्थक है। सुकरात सब धर्मों (virtues) की एकता पर जोर देता है। धर्मों का भेद राजनैतिक स्तर पर ही किया जाता है। जिन लोगों के पास ज्यादा बुद्धि नहीं है उन्हें अपनी इच्छाओं में ही संयम और संतुलन रखना चाहिए। ऐसा सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। अन्य धर्म ज्वलन्त रूप से दार्शनिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति में ही विद्यमान हो सकते हैं।

बुद्धि और उत्तरदायित्व

यदि बुद्धि का धर्म में बड़ा आवश्यक स्थान है तो क्या मनुष्य की नैतिकता परखते समय उसकी बुद्धि की परख नहीं होती? क्या उसे काम के परिणाम के ज्ञान का उत्तरदायी मानना चाहिए? क्या अनभिज्ञता नैतिक दोष है? अनभिज्ञता को बहुत से लोग दो दशाओं में नैतिक दोष मानेंगे। जब अनभिज्ञता का कारण लापरवाही होता है जिससे चेष्टा और ध्यान पूर्वक बचा जा सकता है या मूल नैतिक सिद्धान्त से ही अनभिज्ञ होना नैतिक दोष है।

बहुधा अनभिज्ञता को एक बहाना बना लिया जाता है। अनभिज्ञता पर आपत्ति न करना निन्दनीय है। डब्ल्यू० के० क्लिफोर्ड ऐसी अनभिज्ञता को पाप कहता है : "अपर्याप्त प्रमाण के आधार पर किसी चीज में विश्वास कर लेना हर समय, हर जगह, हर एक के लिए अनुचित है।" वह कहता है कि "ऐसे विश्वासों से बचना, जो हमारे ऊपर हावी होकर इधर-उधर भी फैल सकते हैं, हमारा कर्तव्य है।"[1] किंतु इस कथन में जरा अतिशयोक्ति है क्योंकि हर महत्वपूर्ण मामले में पर्याप्त प्रमाण नहीं मिल सकता। विश्वासों को रोका जा सकता है किंतु कामों को नहीं। अधिक से अधिक पर्याप्त प्रमाण का होना एक अच्छा नियम है किंतु उसमें और बातें भी आ जाती हैं। क्लिफोर्ड उस व्यक्ति की भर्त्सना करता है जो अपर्याप्त प्रमाण के आधार पर अपने जहाज को सुरक्षित समझ कर समुद्र में भेज देता है। किंतु यहाँ अपर्याप्त प्रमाण के अतिरिक्त उस व्यक्ति की नीति भी बहुत बुरी है जिससे अन्य लोगों के जान माल का खतरा पैदा हो जाता है। यहाँ भी शायद अरस्तू का कहना ही ठीक है कि अनभिज्ञतावश किए गए कामों के पीछे 'उद्देश्य तो नहीं रहता' किंतु उन्हें 'अनिच्छापूर्वक किया गया' नहीं कहा जा सकता और जब तक बाद में "दुख या पश्चाताप न हो" तब तक वे अनिन्दनीय भी नहीं होते।"[2] जहाज के डूब जाने पर यदि उसके मालिक को बीमे द्वारा क्षतिपूर्ति से अधिक रुपया मिल जाय तो एक तटस्थ दर्शक की दृष्टि में जहाज के मालिक का काम लापरवाही से किया गया और इसलिए उद्देश्यहीन हो सकता है किंतु पूर्णतया उसकी 'इच्छा के विरुद्ध नहीं हो सकता।'

अरस्तू 'सार्व की अनभिज्ञता' अर्थात् नैतिक सिद्धान्त की अनभिज्ञता को अक्षम्य मानता है। दवा के धोखे में किसी को जहर दे देना

१ लेक्चर्स एण्ड एसेज, जि० २, पृ० १८४-१८६
२ नाइकोमैकियन एथिक्स, ३, १, १३

नाओं से स्वच्छन्द होकर समाज पर शासन करेगा और उसका श्रेष्ठ गुण उसकी बुद्धि ही होगा। उसकी सिद्धि के लिए हजारों 'गुलामों' की बलि भी महत्व नहीं रखती। प्रोफेसर राइट की व्याख्या अधिक मानवीय है। उसमें बुद्धि के अनुसरण द्वारा 'अपने को जानने' से सभी लोगों के उन्नत होने की आशा है।

संभव है कि नीत्शे की निर्दयता बुद्धि को परम हित मानने का ही तार्किक परिणाम हो। यदि नैतिकता को बुद्धि से आरोपित न किया जाय तो अधिक बुद्धिमान व्यक्ति के अधिक नैतिक होने का कोई अनुभव-निरपेक्ष प्रमाण नहीं मिल सकता। यदि उसकी प्रवृत्ति मानवतावादी है तो उसकी बुद्धि का विकास प्रोफेसर राइट द्वारा प्रतिपादित मानवी नैतिकता की ओर ही होगा। किंतु बुद्धि का सम्पर्क युद्ध, निर्दयता और स्वार्थ से भी हो सकता है। बुद्धि और अच्छी प्रवृत्तियों में आवश्यक सम्बन्ध समझ बैठना मनोविज्ञानीय तथ्यों का अति साधारणीकरण मात्र ही है। अपेक्षा तो किसी होशियारी से किए गए भेद की है। बुद्धि प्रशंसनीय है चाहे उसे बुरे कार्यों में ही क्यों न लगाया जाय, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि दुष्ट बुद्धिमान व्यक्ति भी प्रशंसनीय है। बुद्धि का नैतिकता से आंगिक (organic) सम्बन्ध है किंतु वह तादात्म्य (identity) नहीं है। यद्यपि बुद्धि को नैतिकता से बिल्कुल अलग नहीं किया जा सकता किंतु फिर भी उनमें मात्रा का अन्तर होता है। स्पष्ट चिंतन के लिए उन्हें दो अलग अलग बातें मानना चाहिए।

इस मामले में प्लेटो का हल अधिक सन्तोषजनक है। यथार्थवादी होने के नाते वह असफल या दुखमय परिणामों से बचने के लिए बुद्धि का शिक्षा द्वारा विकास करने की आवश्यकता को समझता था। बुद्धि की भाँति प्रवृत्तियों और मनोभावों की शिक्षा भी जरूरी है। 'रिपब्लिक' के प्रारम्भिक भाग आधारभूत शिक्षा के प्रश्न से भरे पड़े हैं। उचित शिक्षा के लिए बच्चों को *शैशव से ही उचित संगीत, कहानियाँ और शारीरिक* सामञ्जस्य सिखाना चाहिए। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से उन पर प्रश्न

उठाए जा सकते हैं; किंतु उनकी नींव में जो सिद्धान्त है वह ठीक है। यदि मनुष्य की बुद्धि को सामाजिक और वैयक्तिक दृष्टि से अच्छे साध्यों की ओर प्रवृत्त करना है तो उसका प्रारम्भिक अवस्थाओं से ही उचित मार्ग निर्देशन करना चाहिए। बुद्धि अच्छे जीवन में आवश्यक होते हुए भी अच्छे जीवन का सारा सार नहीं है।

६

सामाजिक न्याय की समस्या

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य अपने जीवन निर्वाह के लिए ही नहीं वरन् अपने विचारों, मूल्यों और उद्देश्यों के लिए भी अन्य लोगों और संस्थाओं पर, जिनसे वह सम्बन्धित होता है, निर्भर रहता है इसलिए वैयक्तिक और सामाजिक नीतिशास्त्र में कोई गहरा विच्छेद नहीं हो सकता। अन्य लोगों के प्रति अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करके आत्म सुधार या आत्मविकास का कोई आदर्श फलीभूत नहीं हो सकता। इसी प्रकार पहले अपने उद्देश्यों को सुधारने की ओर ध्यान न देकर समाज की उन्नति की बात करना निरर्थक भावुकता मात्र है। अपने निजी जीवन और सामाजिक क्षेत्र दोनों में मूल्यों की सिद्धि करना एक ही नैतिक बात के दो पहलू हैं। फिर भी कुछ मूल्य प्रधानतः सामाजिक ही होते हैं और उनमें से न्याय अपनी तटस्थता के कारण सबसे प्रमुख है।

१. न्याय का अर्थ

पहले अध्याय में नैतिक विवेक के कामों का विश्लेषण किया गय था। उस विश्लेषण के अनुसार सच्चा नैतिक विवेक नैतिक प्रश्न के दोनं पक्षों की ओर से दी गई युक्तियों से कुछ और भी होता है। वह युक्ति देने की निपुणता न होकर प्रस्तावित वरण से पैदा होने वाली स्थिति ं कल्पनात्मक अन्तर्दृष्टि रखना है। अपने वर्तमान अहम् का भविष्य क किसी स्थिति में प्रक्षेपण करना अपने अहम् की वास्तविक सीमाओं ं बाहर जाना है; इस प्रक्षेपण द्वारा हम अपने वर्तमान अहम् का भवि अहम् से आदर्शात्मक तादात्म्य जोड़ते हैं और उसे वरणीय और अच्छ समझते हैं।

नैतिक अन्तर्दृष्टि को अपने भविष्य की ओर ही न लगाकर दूसरों के भविष्य की ओर भी लगाया जा सकता है। दूसरों के भविष्य के मामले में हमारी कल्पना का विषय वह अहम् नहीं होता हम जिसको पाने या वरण करने की आशा करते हैं; दूसरों के भविष्य से हमारा तादात्म्य वास्तविक न होकर एकांगी और आदर्श रूप में ही हो सकता है। फिर भी दोनों चेष्टाएँ मनोविज्ञानीय दृष्टि से समान हैं : दोनों में कल्पना द्वारा 'यहाँ' और 'अभी' से बाहर जाया जाता है। रेनोवीर ने नैतिक विवेक के सामाजिक पक्ष की निम्नलिखित व्याख्या दी है :

समान या बराबर होने के कारण कर्ता अपने पारस्परिक वादों पर विश्वास करेंगे; उनका यह विभक्त तादात्म्य और एक व्यक्ति के स्थान पर दूसरे का होना बौद्धिक दृष्टि से सदा संभव है और इससे उनमें दुपक्षी सम्बन्ध हो जाता है जो व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए अन्तर्परिवर्तनीय है। तदनुसार जब कोई व्यक्ति नैतिक कर्तव्य की अनुभूति करता है तो उसका कर्तव्य उसी के प्रति नहीं होता...और वह उसी की वैयक्तिक नैतिक स्थिति तक ही समाप्त नहीं हो जाता वरन् उसका कर्तव्य दूसरों के प्रति भी होता है जो तब तक बना रहता है जब तक उनमें परिवर्तन नहीं हो जाता क्योंकि दूसरे व्यक्ति के बदल जाने पर ही उनके प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं रहता। इस पारस्परिकता में नैतिक सम्बन्ध और स्थायित्व है। नैतिक दृष्टिकोण से दो व्यक्ति एक ही होते हैं किंतु इसमें विशेषता इतनी ही होती है कि उस एक व्यक्ति के दो पक्ष होते हैं।'[1]

भावनाओं में बह जाने वाला आदमी अपनी उन्हीं भावनाओं का समर्थन कर सकता है जिनका वह अन्य लोगों में तिरस्कार करता है या वह प्रतिद्वन्द्वी भावनाओं और अन्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं से विमुख होकर

1 ल साइन्स दि ल मोरेल, जि० १, पृ० ९९

और उनकी परवाह न कर अपनी भावनाओं को ज्यादा मूल्य दे सकता है। कभी कभी हमें ऐसे लोग भी मिलते हैं जो दूसरों में उन भावनाओं को प्रेरित करते हैं जो उनके लिए स्वयं हानिकारक होती हैं। ये दोनों प्रवृत्तियाँ सामाजिक नैतिकता के लिए अच्छी नहीं हैं क्योंकि वे दोनों निहित प्रतियोगी मूल्यों पर ध्यान नहीं देतीं। बौद्धिक व्यक्ति के लिए अपनी और दूसरों की भावनाओं का एक सा मूल्य होता है जब तक कि उनमें अहम् के भेद के अलावा मूल्यांकन में अन्तर डालनेवाला और कोई भेद न हो। बौद्धिक दृष्टि से व्यक्तियों का एक सा मूल्य है और उनके मूल्यों का सार्थक भेद उनकी विशेषताओं के कारण ही हो सकता है। सार्थक भेद वैशेषिक होते हैं, सर्वनामक नहीं।

न्यायप्रिय व्यक्ति तादात्म्य के आधार पर ही प्रतियोगी मूल्यों की परख और निश्चय करता है। न्याय का चाहे कुछ भी अर्थ न हो लेकिन उसमें विषय सापेक्षता अवश्य रहती है। न्याय निस्स्वार्थता से और कुछ भी है क्योंकि निस्स्वार्थ व्यक्ति भावुक और अबौद्धिक भी हो सकता है। न्याय की कृतज्ञता, सच्चाई और उदारता इन तीन कम पूर्ण विषयसापेक्ष सामाजिक धर्मों से तुलना करके उसके अर्थ को और भी स्पष्ट किया जा सकता है।

तीन अपूर्ण धर्म (virtues)

कुछ दार्शनिक वितरणशील न्याय (distributive Justice) के आदि की व्याख्या कृतज्ञता की भावना में पाते हैं। न्याय के विकास की संभावना निम्नलिखित सिद्धान्तों की क्रमिक स्वीकृति में मानी गई है:[१] (१) "यदि कोई हमारे साथ अच्छा काम करे तो हमें उसका बदला चुकाना चाहिये" (यह साधारण कृतज्ञता का सिद्धांत है); (२) "हरेक व्यक्ति को अपने प्रति किये गये अच्छे काम का अच्छा बदला देना चाहिये (इसे सहानुभूति पर आधारित कृतज्ञता कहा जा सकता है); (३) "किसी के

---

१ हेनरी सिजविक द्वारा, (मेथड्स आव् एथिक्स ३, ५)

अच्छे काम का किसी न किसी तरह अच्छा बदला चुकाना ही चाहिये (यह कृतज्ञता का ह्रासक रूप है); (४) "हरेक को उसकी योग्यता के अनुसार मिलना चाहिये" (यह न्याय का अत्यधिक शोधित रूप है)। इन बातों से न्याय के आदि पर चाहे कैसा ही प्रकाश क्यों न पड़ता हो किंतु इनसे न्याय के विकसित रूप और कृतज्ञता के अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

विलियम गॉडविन ने न्याय और कृतज्ञता के भेद को और भी स्पष्ट किया है। आग लगे हुए मकान में से हमारा कर्तव्य देश सेवक बचाना है या अपनी माँ को ? यदि ऐसे अवसर पर विवेक और वरण समय मिल सके तो कृतज्ञता और प्रेम की माँग तो अपनी माँ को बचा की ही होगी। किंतु गॉडविन के अनुसार न्याय की माँग देश सेवक बचाना है क्योंकि उससे देश का अधिक हित हो सकने की संभावना है क्या अपने हितैषी के प्रति कृतज्ञ होना न्याय-संगत नहीं है ? गॉडविन का उत्तर है, नहीं है। न्याय की माँग बौद्धिक वरण करने की है; और बौद्धिक दृष्टि से हितैषी की योग्यता समान है चाहे उसने हमारा हित किया हो या किसी दूसरे का। "मैं और कोई दूसरा आदमी अपने अपने हितैषी को पसन्द करने में उचित नहीं हो सकते क्योंकि कोई आदमी एक समय ही अपने पड़ोसी से अच्छा या बुरा नहीं हो सकता। मेरा नहीं वरन् एक मनुष्य का हित करने के नाते मेरा हितैषी प्रशंसा का पात्र है।"[1] इसी प्रकार गॉडविन कृतज्ञता का तिरस्कार भी करता है क्योंकि "कृतज्ञता एक ऐसी भावना है जिससे हम किसी मनुष्य की उपादेयता या मूल्य के अतिरिक्त भी उसको अन्य कारणों से पसन्द कर सकते हैं। जो बात हमारे लिए अच्छी है वह दूसरों के लिए अच्छी नहीं हो सकती और इसलिए वह अपने आप में अच्छी नहीं हो सकती।"

---

[1] विलियम गॉडविन, ऐन एन्क्वायरी कंसर्निंग पोलिटिकल जस्टिस, पु० २, परि० २

यह दृष्टिकोण स्टोइकों के दृष्टिकोण से मिलता है जो अपने समीपवर्ती लोगों के प्रति किसी विशेष कर्तव्य को नहीं मानते थे। न्याय की परिभाषा कैसे ही क्यों न दी जाय पर अधिकांश लोग उपर्युक्त स्थिति में कृतज्ञता को प्रधानता देंगे। बेन्थम ने न्याय को इस सामान्य दृष्टिकोण से समन्वित करने की चेष्टा की है। चूँकि हम अपरिचितों की अपेक्षा अपने समीपवर्ती लोगों की आवश्यकताओं को अधिक समझ सकते हैं इसलिए हमें उनका ध्यान पहले रखना चाहिए चाहे वे उसके पात्र हों या न हों, क्योंकि हम इसी तरह जगत में सुख की वृद्धि कर सकते हैं। बेन्थम की युक्ति से यही पता चलता है कि न्याय की पूर्ति उससे कम कठोर भावनाओं से की जानी चाहिए जिनका परिणाम तत्कालिक होता है। किंतु फिर भी अनेक स्थितियों में न्याय और कृतज्ञता का समन्वय करना कठिन है और उनमें से गॉडविन का उदाहरण भी एक ऐसी ही स्थिति है।

भक्ति (loyalty) कृतज्ञता से अधिक अवैयक्तिक है इसलिए न्याय को उसके अन्तर्गत करने की माँग की जाती है। भक्ति में प्रतियोगी बातें न होने से उसकी बौद्धिक परीक्षा की आवश्यकता नहीं होती इसलिए उसे न्याय की अपेक्षा आसानी से समझा जा सकता है और उसकी प्रशंसा की जा सकती है। दूसरे एक सीमित क्षेत्र में भक्ति एक प्रकार के न्याय का आधार हो सकती है। डाकुओं के गिरोह में भी भक्ति होती है और इसलिए उस गिरोह में न्याय को कठोरता से लागू किया जा सकता है। इसी प्रकार देशभक्ति भी एक श्रेष्ठ धर्म है। नैतिकता का पूर्ण अभाव होने हुए भी देशभक्त बना जा सकता है। किंतु फिर भी भक्ति के नैतिक महत्व की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। रॉयस ने अपनी पुस्तक "फिलॉसफी आव् लॉयल्टी" में यह सिद्ध किया है कि सामाजिक आदर्शों के प्रति अधिक से अधिक भक्ति होने पर ही न्याय की सिद्धि हो सकती है। रॉयस के अनुसार न्याय सारी मानव जाति के प्रति भक्ति रखना है।

न्याय और उदारता में भेद को देखना चाहिए। उदार होना मनुष्य की एक मूल्यवान प्रवृत्ति है। उदारता के बिना न्याय या तो निरर्थक या

संकुचित ही रह जाता है। न्याय और उदारता में कोई असंगति नहीं है। हम कुछ लोगों को उनकी भौतिक दशा सुधारने के लिए उचित भाग दे सकते हैं किन्तु कुछ लोगों को उसके अतिरिक्त अपना वैयक्तिक प्रेम और बढ़ावा भी दे सकते हैं। भावुकतावश उदारता को न्याय का पूरक न मानकर उसे न्याय ही समझ बैठना खतरे से खाली नहीं है। उदारता को न्याय समझने से आदमी स्वार्थवश होकर भी उदार बन सकता है।

उदारता, भक्ति, कृतज्ञता और प्रेम से अलग न्याय क्या है? इस प्रश्न का एक उत्तर तो यह है कि न्यायप्रिय व्यक्ति "तटस्थ होता है और वह जिन-जिन अधिकारों को सही मानता है उन्हें सन्तुष्ट करने की समान चेष्टा करता है और अपने व्यक्तिगत पक्षपातों से प्रभावित नहीं होता।"[1] न्याय पर आधारित समाज वह है जिसमें किसी विषयसापेक्ष सिद्धान्त के आधार पर सबको हिस्सा मिलता है और उनके अधिकारों को सन्तुष्ट किया जाता है। यह परिभाषा बहुत विशद् है और इसमें विषयसापेक्ष सिद्धान्त के बारे में मतभेद उठ सकता है। न्याय की अधिक उपयुक्त परिभाषा के लिए हमें उपयोगितावाद पर एक दूसरी दृष्टि से प्रकाश डालना पड़ेगा।

२. उपयोगितावादी मत

उपयोगितावादियों के सामाजिक नीतिशास्त्र का विषयसापेक्ष सिद्धान्त "अधिक से अधिक लोगों का अत्यधिक सुख" है। इस सिद्धान्त की तार्किक कठिनाइयों तथा अन्य बातों पर तीसरे अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में उपयोगितावाद के सामाजिक पक्ष पर विचार किया जायगा।

मानवतावादी सिद्धान्त

मिल का कहना है कि "ईसा के सुनहले नियम में उपयोगितावादी नीतिशास्त्र का अंकुर निहित है। दूसरों के साथ वही करना जो हम अपने

1 सिजविक, वही पृ० २६८

साथ करवाना चाहते हैं, अपने पड़ोसी से अपनी ही भाँति प्रेम करना, इसमें *उपयोगितावादी नैतिकता का आदर्श पूर्णतः विद्यमान है।*" मिल का यह कथन बहुत बड़ी सीमा तक झूठा है। ईसा सुखवादी नहीं थे और उनका उद्देश्य भी 'उपयोगिता' नहीं था। ईसा के लिए नैतिकता उपयोगितावादियों की भाँति इच्छाओं और परिणामों में न होकर हृदय की शुद्धता में होती थी। हाँ, उपयोगितावाद का मानवतावादी पहलू ईसा की शिक्षाओं से ऊपरी समानता रखता है।

जेरमी बेन्थम (१७४८-१८३२) विधान का विद्यार्थी और शासन प्रणाली का सुधारक था। आवश्यक वैधानिक सुधारों की नींव के लिए ही उसने अपनी नैतिक धारणा को प्रतिपादित किया था। औद्योगिक क्रांति के आने से तत्कालिक मजदूरों की भयानक दुर्दशा हो रही थी और *तत्कालीन विधान को सुधारने के लिए किसी व्यापक सिद्धान्त की आव*श्यकता थी। कोई सिद्धान्त व्यापक तभी हो सकता है जब वह सब लोगों पर लागू हो और बेन्थम ने ऐसे सिद्धान्त को सुखवाद में ही पाया। सिद्धान्त का महत्व तभी है जब उसे विषयसापेक्ष ढंग से निर्धारित किया जा सके और बेन्थम ने यह विषयसापेक्षता "अत्यधिक लोगों के अत्यधिक सुख" में पाई।

किंतु राजनैतिक अधिकार रखने वाले लोग "अत्यधिक लोगों के अत्यधिक सुख" के आदर्श से संचालित नहीं होते थे :

> शासन की हर संस्था और कानूनों का उद्देश्य प्रजा का अत्यधिक सुख न होकर शासन करने वालों का अत्यधिक सुख होता है। *शासन सार्वजनिक अभिरुचि का ध्यान न रख कुछ* लोगों की अभिरुचियों का ही ध्यान रखता है। उन कुछ लोगों का उद्देश्य जबर्दस्ती दूसरों के अधिकारों को छीनना या कुचलना ही होता है।[1]

---

[1] बेन्थम, दि थियरी आव् लेजिस्लेशन (हार्कोर्ट प्रेस)

शासन की यह [illegible] पूर्ण रूप से ठीक की जा सकती है! [illegible], [illegible] तथा और [illegible] विचारकों ने शासन की [illegible] करने का [illegible] में [illegible] उनकी आलोचना ही करता है। [illegible] का [illegible] जनता का पक्ष लेता है उसने [illegible] सिद्धान्तों की [illegible] नहीं की जा सकती। किसी [illegible] विधान का लेना आवश्यक [illegible] है। बेन्थम वैधानिक व्यवस्था में वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा सुधार करना चाहता था। वैज्ञानिक प्रणाली की दो विशेषताएँ होनी चाहिएँ: एक तो उसे मानवी स्वभाव के सामान्य नियमों पर आधारित होना चाहिए और दूसरे उसे कल्पित बातों पर आधारित सिद्धान्तों से मुक्त होना चाहिए।

मानवी स्वभाव के सामान्य नियमों को बेन्थम सुखवादी मनोविज्ञान के आत्म-रक्षण सिद्धान्त में पाता है जिस पर तीसरे अध्याय में विचार किया जा चुका है। वह मानवी आचरण के सारे पहलुओं, उचित-अनुचित, न्याय अन्याय आदि के सारे मापदंडों को इसी कसौटी पर कसता था और उसका विश्वास था कि वह कम से कम राजनीति और विधान पर लागू होने वाली नैतिकता की धारणा को कल्पनाओं के उस ग्रहण से मुक्त कर लेगा जो उनको सदा से भ्रमित किए थीं।

कल्पनाओं पर आक्रमण (The Attack on Fictions)

बेन्थम कानून, दर्शन, धर्म और चिंतन के अन्य क्षेत्रों में बहुत सी 'कल्पित' बातों की सत्ता को मानता था। गति, प्रभुता, कर्तव्य, अधिकार, अच्छाई, ईमानदारी, सौंदर्य और मन की शक्तियाँ आदि ये सब 'कल्पित' बातें ही हैं। ये सारे शब्द पाँचों इन्द्रियों से ग्रहण हो सकने वाली किसी चीज को नहीं बताते। भाषा के नियमों से बँधकर हम उन्हें संज्ञा की भाँति समझने लगते हैं जबकि वे किसी चीज की संज्ञाएँ नहीं होते। विधान और राजनीति में इन शब्दों का प्रचुर प्रयोग होता है, अतएव बेंथम ने इन शब्दों का अर्थ समझ सकने के लिए पहले एक तार्किक प्रणाली का आविष्कार किया। उस प्रणाली के [illegible]

(proposition) को ऐसा होना चाहिए जिसका विषय कोई काल्पत बात न हो

कर्तव्य और अधिकार (Obligations and Rights)

नैतिक क्षेत्र में सबसे कल्पित बात 'कर्तव्य' है। 'कर्तव्य' शब्द जिस वास्तविकता की ओर संकेत करता है उसे दुख और सुख की अनुभूति में ढूँढ़ना चाहिए। "किसी काम को एक निश्चित ढंग से न करने पर यदि कर्त्ता दुख का अनुभव करे तो उस काम को करना उस व्यक्ति का कर्तव्य है।" हर कर्तव्य के पीछे सुखवादी अनुशास्ति रहती है अर्थात् उसको न करने से दुख होता है। वैधानिक और नैतिक कर्तव्यों में केवल अनुशास्ति (sanction) का ही अन्तर होता है। वैधानिक कर्तव्य वह है जिसमें शारीरिक, राजनैतिक या आर्थिक दुख सहना पड़ता है और मानसिक पीड़ा होना या अपनी और दूसरों की दृष्टि मे गिर जाना नैतिक कर्तव्य के चिन्ह हैं।

'कर्तव्य' की भाँति 'अधिकारों' की धारणा भी कल्पना मात्र ही है। जो अनुशास्ति एक व्यक्ति में दूसरे के प्रति कर्तव्य स्थापित करती है वही उस दूसरे व्यक्ति में अधिकारों को स्थापित करती है। अधिकार क्या है? मनुष्यों के अधिकार पाने, छिन जाने या छोड़ देने की बात कही जाती है मानो अधिकार मुट्ठी में ले सकने वाली कोई चीज़ हो। यह अलंकारिक भाषा है और अधिकार शब्द का तब तक कोई निश्चित अर्थ नहीं हो सकता जब तक कि उसके साथ 'राजनीतिक' विशेषण को न लगाया जाय। राजनीतिक अधिकार रखने का अर्थ "किसी यथातथ बात को या शासक-वर्ग की उन प्रवृत्तियों को स्वीकार करना है व्यक्ति को जिनका लाभ उठाने का अधिकार है।" किंतु "प्राकृतिक अधिकारों" में ऐसी कोई यथातथ बात नहीं होती। "प्राकृतिक अधिकार से किसी व्यक्ति की दशा सुधर नहीं सकती चाहे उसको वह अधिकार प्राप्त हो या न हो।" जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का अमुक भूमि के टुकड़े पर प्राकृतिक अधिकार है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि "हमारी राय में अमुक व्यक्ति का

(proposition) को ऐसा होना चाहिए जिसका विषय कोई काल्पत बात न हो

कर्तव्य और अधिकार (Obligations and Rights)

नैतिक क्षेत्र में सबसे कल्पित बात 'कर्तव्य' है। 'कर्तव्य' शब्द जिस वास्तविकता की ओर संकेत करता है उसे दुख और सुख की अनुभूति में ढूँढ़ना चाहिए। "किसी काम को एक निश्चित ढंग से न करने पर यदि कर्त्ता दुख का अनुभव करे तो उस काम को करना उस व्यक्ति का कर्तव्य है।" हर कर्तव्य के पीछे सुखवादी अनुज्ञति रहती है अर्थात् उसको न करने से दुख होता है। वैधानिक और नैतिक कर्तव्यों में केवल अनुज्ञति (sanction) का ही अन्तर होता है। वैधानिक कर्तव्य वह है जिसमें *शारीरिक, राजनैतिक या आर्थिक दुख सहना* पड़ता है और मानसिक पीड़ा होना या अपनी और दूसरों की दृष्टि में गिर जाना नैतिक कर्तव्य के चिन्ह हैं।

'कर्तव्य' की भाँति 'अधिकारों' की धारणा भी कल्पना मात्र ही है। जो अनुज्ञति एक व्यक्ति में दूसरे के प्रति कर्तव्य स्थापित करती है वही उस दूसरे व्यक्ति में अधिकारों को स्थापित करती है। अधिकार क्या है? मनुष्यों के अधिकार पाने, छिन जाने या छोड़ देने की बात कही जाती है मानों अधिकार मुट्ठी में ले सकने वाली कोई चीज़ हो। यह अलकारिक भाषा है और अधिकार शब्द का तब तक कोई निश्चित अर्थ नहीं हो सकता जब तक कि उसके साथ 'राजनीतिक' विशेषण को न लगाया जाय। राजनीतिक अधिकार रखने का अर्थ "किसी यथातथ्य बात को या शासक-वर्ग की उन प्रवृत्तियों को स्वीकार करना है व्यक्ति को जिनका लाभ उठाने का अधिकार है।" किंतु "प्राकृतिक अधिकारों" में ऐसी कोई यथातथ बात नहीं होती। "प्राकृतिक अधिकार से किसी व्यक्ति की दशा सुधर नहीं सकती चाहे उसको वह अधिकार प्राप्त हो या न हो।" जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का अमुक भूमि के टुकड़े पर प्राकृतिक अधिकार है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि "हमारी राय में अमुक व्यक्ति का

सुख को समानता से वितरित करने पर समाज के कुल सुख की मात्रा घट जायगी। यह विवाद ग्रस्त विषय है किंतु यहाँ भी बैंथम के सिद्धान्त को लागू किया जा सकता है। यदि सुख को समानता से वितरित करने पर समाज के कुल सुख की मात्रा घट जाना सत्य हो तो हमें *अत्यधिक समानता और अत्यधिक योग इन दोनों में से किसका वरण करना चाहिए*? बैंथम ने इस प्रश्न का कभी स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। "गणना करते समय हरेक व्यक्ति को एक समझना चाहिए, एक से अधिक नहीं", बैंथम के इस कथन को 'अत्यधिक सुख' का विशेषण और समानता के सिद्धान्त की मान्यता समझा जाता है। किंतु इस कथन से बैंथम का तात्पर्य यह था कि सुखवादी परिगणन विधि का प्रयोग करते समय व्यक्ति के सुख की जाँच में प्रतिष्ठा, बड़प्पन, ओहदा आदि को स्थान नहीं मिलना चाहिए। *व्यवहार में बैंथम समानता, विशेषकर आर्थिक समानता लाने को बहुत व्यग्र था; समान वितरण अत्यधिक सुख को लाने का ही एक साधन है* इसमें वह अपने उद्देश्य की सैद्धान्तिक न्यायमुक्तता पाता था।

३. अधिकारों का अर्थ

बैंथम के सिद्धान्त में अधिकारों की उचित धारणा का अभाव है। अधिकारों की गलत और पक्षपातपूर्ण धारणाओं को नष्ट करने के जोश में वह अधिकारों की धारणा के औचित्य को ही ख़तम कर देता है। व्यक्ति के अधिकारों को माने बिना हम उपयोगितावाद के ऊल जलूल उपयोजनों से छुटकारा नहीं पा सकते। किसी की हत्या करने में चाहे जितना ही और कैसा ही सुख क्यों न मिले किंतु हत्या करना न्यायसंगत नहीं है क्योंकि इससे हत्या किए गए व्यक्ति के अधिकारों की अवहेलना होती है। सामाजिक न्याय की अविकल धारणा बनाने के लिए हमें अधिकारों और उनके साथ-साथ कर्तव्यों के अर्थ की परीक्षा करनी चाहिए।

अधिकार और कर्तव्य

जब लोगों के विरोधी दावों पर बौद्धिक विचार किया जाता है तो यह प्रश्न पैदा होता है कि किसी एक परिस्थिति में उनमें से सबसे अधिक

ी हो सकते हैं जब उनका मापदंड एक ही हो। स्टाक मार्केट में अ
य से रुपया ले सकने का वैधानिक अधिकार हो सकता है किन्तु अ के
या ले लेने के बाद ब को रुपया अ के पास ही रहने देने का नैतिक
र्तव्य अनुभव नहीं भी हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि पारस्परिक सम्बन्ध रखते हुए भी अधिकार और
र्तव्य समान नहीं हो सकते। यदि किसी वर्ग के सदस्य का अधिकार
मानदारी से जीविका कमाना है तो उसके प्रति उस वर्ग के अन्य लोगों
के इतने कर्तव्य हो जाते हैं जिसके लिए अर्थशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान
अपेक्षित है। यह कहा जा सकता है कि उस वर्ग के किसी आदमी ने
किसी को नौकरी से न हटाकर अपने कर्तव्यों का पालन किया किन्तु अर्थ-
शास्त्र के विद्यार्थी यह अच्छी तरह जानते हैं कि जो व्यक्ति अपने व्यापार
को बढ़ाता है उसका तात्कालिक प्रभाव तो बहुत से लोगों को नौकरी मिल
जाना होता है किंतु आगे चलकर उससे प्रतियोगिता बढ़ जाने और
बाजार में अनावश्यक वस्तुओं के आने से उत्पादन में कमी हो जाने से
बेकारी और दुःख बहुत बढ़ता है।

अधिकारों और कर्तव्यों के मूलभूत सम्बन्ध की भाँति दो और बातों
में भी वैसा ही सम्बन्ध है, किंतु वह मूलभूत नहीं है क्योंकि उनकी बिना
बाध के अस्वीकार किया जा सकता है। अतएव दोनों का फर्क समझ लेना
चाहिए। अ के अधिकारों में उसके कर्तव्य निहित होते हैं और अ के
कर्तव्यों में उसके अधिकार निहित होते हैं : इससे इनकार किया जा सकता है
क्योंकि यहाँ पारस्परिक अधिकार और कर्तव्यों का तार्किक सम्बन्ध नहीं है।
निरपेक्ष राजसत्ता की किसी धारणा में राजा के कुछ ऐसे अधिकारों को
माना जा सकता है जिनसे संवादिता रखने वाले कर्तव्य न हों और उसकी
प्रजा के ऐसे कर्तव्य हो सकते हैं जिनसे संवादिता रखने वाले अधिकार न
हों। इस मत के कुछ समर्थक आज भी मिल जायँगे। ऐसे मत की तार्किक
संभावना है और उसको केवल तार्किक आधार पर ही अस्वीकार नहीं
किया जा सकता।

कानूनी और नैतिक अधिकार

अधिकारों के अर्थ की परीक्षा करते समय वैधानिक अधिकारों पर विचार करना चाहिए क्योंकि वे अधिक निश्चित होते हैं। हॉलैंड ने अपनी पुस्तक 'जूरिस्प्रूडेन्स' में वैधानिक अधिकार की व्याख्या यों की है: "वैधानिक अधिकार राज्य की स्वीकृति और सहायता से एक व्यक्ति में अन्य व्यक्तियों के कामों का नियंत्रण करने की शक्ति है।" रिशी ने इसी परिभाषा के आधार पर नैतिक अधिकार की परिभाषा यों की है: "नैतिक अधिकार सार्वजनिक सम्मति की स्वीकृति और सहायता या कम से कम उसके विरोध के बिना एक व्यक्ति में अन्य व्यक्तियों के कामों का नियंत्रण करने की क्षमता है।"[1] अधिक संक्षेप और कम निश्चित रूप से रिशी ने वैधानिक अधिकार को "एक व्यक्ति का अन्य लोगों के ऊपर राज्य से मान्य हक" और नैतिक अधिकार को "एक व्यक्ति का अन्य लोगों के ऊपर राज्य की मान्यता से अलग समाज द्वारा मान्य हक" कहा है। इन दोनों को काम चलाऊ परिभाषाओं की तरह लिया जा सकता है।

यह स्पष्ट है कि नैतिक अधिकारों की अपेक्षा वैधानिक अधिकारों का अधिक निश्चित निर्धारण हो सकता है। हर समाज के वैधानिक अधिकार लिखित होते हैं और उनकी व्याख्या पूर्वमान्य और परम्परागत आधार पर की जाती है। किसी सजातीय (homogeneous) समाज में नैतिक अधिकारों को भी यही मान्यता मिल सकती है। धार्मिक सूत्र में आबद्ध क्या पुराने और क्या नए और विकसित समाजों में वैधानिक और नैतिक अधिकारों में एकता होती है। दूसरी ओर रिशी का कहना है कि "विजातीय समाज में जहाँ लोगों के धार्मिक विश्वास, बौद्धिक विकास के स्तर विभिन्न होते हैं वहाँ नैतिक कर्तव्यों का निश्चय करना टेढ़ी खीर हो जाता है और व्यक्ति का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है।" इहतास

---

१ डेविड जी० रिशी, मॉरल राइट्स। यह और इसके बाद के उद्धरण परि० ४, पृ० ७९-८० से लिए गए हैं।

करनेवालों का क्या अपने स्वामी को भयभीत करने का नैतिक अधिकार है? अनुदारवादी उनके इस अधिकार को नहीं मानते किन्तु साम्यवादी मानते हैं क्योंकि प्रतियोगितामय समाज में 'प्रत्यक्ष काम' से दबाव डालकर ही अपनी दशा सुधरवाई जा सकती है। स्त्री और पुरुष को क्या अविवाहित सम्बन्ध रख सकने का नैतिक अधिकार है? गरीबी और बेरोजगारी से सताए व्यक्ति को अपनी जीविका चलाने के लिए क्या चोरी करने का अधिकार है? इन प्रश्नों पर कभी एक मत नहीं हो सकता। कुछ वर्ग विशेष नैतिक अधिकार देते हैं और कुछ नहीं देते और सार्वजनिक सम्मति दिन प्रति दिन बदलती ही रहती है।

'प्राकृतिक अधिकारों' का सिद्धान्त

नैतिक अधिकारों के अनिश्चित और अस्पष्ट होने से कुछ नैतिक विचारकों ने प्राकृतिक अधिकारों को माना है क्योंकि मनुष्य के स्वभाव पर आधारित होने से उनका ठोस प्रदर्शन किया जा सकता है। किंतु इससे समस्या का समाधान न होकर वह नैतिक क्षेत्र से हटकर तत्वसमीक्षा के क्षेत्र में चली जाती है। मनुष्य का मूल स्वभाव क्या है? क्या स्वतन्त्र पैदा होने वाला व्यक्ति गुलाम से मूलतः भिन्न होता है? क्योंकि तभी गुलाम की अपेक्षा उसके प्राकृतिक अधिकार हो सकते हैं? या यह स्वयंसिद्ध है कि सब मनुष्य समान होते हैं और उनके प्राकृतिक अधिकार भी समान होते हैं? 'मूलतः' और 'स्वाभाविक' अस्पष्ट शब्द हैं और उनके ये दोनों अर्थ होते हैं (१) मौलिक और बाद में सिद्ध की गई विशेषताएँ और (२) सामान्य विशेषताएँ जिनमें "सामान्यतः, यद्यपि अनिवार्यतः नहीं, घटित होने का और वस्तुओं के गुण या योग्यता का निर्णय करने के मापदंड इन दोनों का भाव विद्यमान रहता है।" मानवशास्त्र के प्रमाण पर दासता पहले अर्थ में 'स्वाभाविक' नहीं है यद्यपि उसी अर्थ में मानवी समानता भी 'स्वाभाविक' नहीं है। पहले और दूसरे अर्थ में भ्रान्ति होने पर ही "प्राकृतिक अधिकारों" की दुहाई दी जाती है।

परिणामस्वरूप रिशी प्राकृतिक अधिकारों की परिभाषा के आधार पर अपनी पीछे दी हुई वैधानिक और नैतिक अधिकारों की परिभाषा में संशोधन करता है। उसकी परिभाषा के अनुसार प्राकृतिक अधिकार "वे अधिकार हैं जो सुधारक द्वारा प्रशंसित समाज की सार्वजनिक सम्मति में मान्य होंगे और यदि उस समाज का कोई विधान हो तो वह उन अधिकारों का समर्थन या कम से कम उनमें हस्तक्षेप नहीं करेगा; प्राकृतिक अधिकार सुधारक के आदर्श समाज द्वारा अनुमत हैं चाहे वह समाज कैसा ही क्यों न हो।" किंतु फिर भी, रिशी का कथन है, ऐसे सारे अधिकार प्राकृतिक अधिकार नहीं होते, उनमें से कुछ मूलभूत अधिकार ही प्राकृतिक हो सकते हैं जिनसे अन्य अधिकारों का निगमन किया जा सकता है। मुकदमा चलाना या मुकदमा चलने पर अपने वकील द्वारा पैरवी करने का अधिकार प्राकृतिक अधिकार में नहीं गिना जाता। मुकदमा तो स्वतंत्रता और संरक्षण के मूलभूत अधिकारों को पाने का साधन मात्र ही है।

मनुष्यों के मुख्य प्राकृतिक अधिकारों का वर्णन विभिन्न तरह से किया गया है। संयुक्त राज्य की स्वतंत्रता की घोषणा में "मनुष्य की समानता और उनके जीवन, स्वतंत्रता और सुखों की खोज के अधिकारों को स्वयंसिद्ध माना गया है।" फ्रांस की राष्ट्रीय परिषद् द्वारा १७८६ में "मनुष्य और नागरिकता के अधिकारों की घोषणा" में "स्वतंत्रता, सम्पत्ति, संरक्षण और शोषण के विरोध को मनुष्यों का प्राकृतिक अधिकार माना गया है।" जून २४, १७९३ की घोषणा में इनके साथ समानता को भी प्राकृतिक अधिकार माना गया। इन घोषित अधिकारों में से हमें कुछ आवश्यक अधिकारों की परीक्षा करनी चाहिए।

(१) जिन्दा रहने का अधिकार—स्वतंत्रता की घोषणा में इसे मूलभूत मानवी अधिकार माना गया है। किंतु इस अधिकार की कुछ आवश्यक विशेषताएँ भी ध्यान देने योग्य हैं। इस बात को हरेक मानेगा कि कुछ [illegible] ऐसी भी होती हैं जिनमें मनुष्य जिन्दा रहने के अधिकार से [illegible] जाता है। सैद्धान्तिक रूप से चाहे प्राणदंड का विरोध किया

जाय किंतु कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं जहाँ दूसरों के प्राण और अधिकार बचाने के लिए प्राणदंड आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थितियों में जीवित रहने के अधिकार को यदि निरपेक्ष अर्थ में लिया जाय तो वह विरोधाभास मात्र हो जायगा। जीवित रहने के अधिकार की सुरक्षा के लिए यदि कोई व्यक्ति अपने ऊपर हमला करने वाले को मार डाले तो इस स्थिति में जीवित रहने के अधिकार का विरोध है क्योंकि हमलावर को भी तो जीवित रहने का अधिकार है। युद्ध या जहाज डूबने के समय एक व्यक्ति का अपनी जान खतरे में डालकर दूसरों की जान बचाना कर्तव्य हो जाता है। सशस्त्र ठग से सामना होने पर यदि कोई व्यक्ति भागकर अपने जीवन अधिकार की रक्षा करे तो वही अधिकार हम पुलिस के दरोगा को शायद नहीं देंगे।

(२) स्वतंत्रता का अधिकार राजनैतिक वक्तव्यों और विभिन्न पुस्तकों और लेखों में रोज उद्धृत किया जाता है। किंतु जीवित रहने के अधिकार के समान ही स्वतंत्रता का अधिकार भी निरपेक्ष नहीं हो सकता। स्वतंत्रता का अधिकार बहुत अस्पष्ट है। जीवन का ऐसा अर्थ है जिसके बारे में दो मत नहीं हो सकते किंतु स्वतंत्रता सापेक्षिक शब्द है। स्वतंत्रता किस चीज से और किसलिए? मतदान की राजनैतिक स्वतंत्रता सभी तरह के वास्तविक नियंत्रणों के विरुद्ध नहीं पड़ती क्योंकि प्रजातंत्र शासन में अप्रिय कानूनों का विधानकरण संभव है। यह कहना कि किसी व्यक्ति को विशेष शर्तों पर नौकरी करने या न करने की स्वतंत्रता है एक तीखा व्यंग्य है। 'अनुबन्ध की स्वतंत्रता' (freedom of contract) का अर्थ यह है कि मनुष्य या तो उस तनख्वाह पर काम करे जिससे वह और उसका परिवार धीरे धीरे करके भूखों मर जाय या फिर वह उस तनख्वाह पर काम न कर जल्दी ही भूखों मर जाय।

(३) सम्पत्ति का अधिकार—फ्रांस की घोषणाओं में सम्पत्ति को एक मूलभूत अधिकार माना गया है; वर्जीनिया बिल में सम्पत्ति की जगह सम्पत्ति प्राप्त करने के साधनों को मूलभूत अधिकार माना गया है। इस

अधिकार के विभिन्न रूपों में यह स्वीकार किया गया है कि जीवन और स्वतंत्रता को संभव बनाने वाली चीजों को रखने के अधिकार के बिना जीवित रहने और स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं हो सकता। अतएव क्रोपाटकिन की भाँति कुछ सामाजिक विचारकों का यह कहना है कि समाज के हर व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कम से कम आवश्यक वस्तुओं को रखने का और विचार और कर्म की स्वतंत्रता का अधिकार मिलना चाहिए। इस नीति के विरोधकों का कहना है कि ऐसा करने से लोगों का प्रोत्साहन समाप्त हो जायगा और अप्रिय आवश्यक काम नहीं हो सकेंगे। इसके जवाब में यह कहा गया है कि व्यक्ति बदले में चाहे कुछ भी करे या दे उसे जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं का अधिकार तो मिलना ही चाहिए। आवश्यक कामों को करने के प्रोत्साहन के लिये प्रतियोगिता द्वारा प्राप्त हो सकने वाले सार्वजनिक ओहदों का बना रहना काफी है और यदि फैक्टरियों को मुनाफाखोरी का साधन न बनाकर स्वसंचालित वर्ग बना दिया जाय तो बहुत ही अप्रिय तरह के कामों को धीरे-धीरे हटाया जा सकता है।[1] किन्तु इस औपनिवेशिक आदर्श को पूरी तरह से स्वीकार करने पर भी यह नतीजा नहीं निकलता कि सम्पत्ति रखने का अधिकार निरपेक्ष है। तार्किक दृष्टि से ऐसे अधिकार को सबके लिये पर्याप्त सम्पत्ति होने पर सापेक्षिक होना चाहिये। यदि भयंकर दुर्भिक्ष या लोमहर्षण युद्ध के बाद संसार में अन्न का संकट पड़ जाय तो उस समय हरेक के लिये अन्न के अधिकार की दुहाई देना निरर्थक होगा क्योंकि अन्न की कमी के कारण उस पर हरेक का अधिकार नहीं हो सकता। यह प्रश्न निरपेक्ष अधिकार का न होकर संतुलित वितरण का है।

४—न्याय की धारणाएँ

निरपेक्ष अधिकारों की मान्यता में तार्किक कठिनाइयों से यह स्प

1. क्रोपाटकिन, अनार्किस्ट कम्यूनिज्म; और बर्ट्रेंड रसेल, प्रोपोज्ड रोड्स टु फ्रीडम, परि० ४,

है कि अधिकारों को सामाजिक व्यवस्था, संभावनाओं और मूल्यों का सापेक्षिक मानना चाहिये। अतएव अधिकारों की समस्या ठीक वितरण की समस्या बन जाती है क्योंकि हर व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार ही मिलना चाहिये। ठीक वितरण की समस्या ही न्याय की समस्या है।

न्याय शब्द के अनेक अर्थ हैं। उपयोगितावादियों की न्याय को अत्यधिक सुख के सिद्धान्त से निकालने की चेष्टा द्वारा फैलाये गये भ्रम और न्याय के किसी ऐसे सिद्धान्त की जो निरपेक्ष अधिकारों के सिद्धान्त से एकरूप हो खोज करने वाले अन्य नैतिक वर्गों के लोगों की चेष्टाओं के अतिरिक्त—जो तार्किक दृष्टि से असम्भव है—न्याय शब्द की तीन और अस्पष्टताएँ देख लेना चाहिये।

न्याय और वैधानिकता (Justice and Legality)

'अधिकारों' की भाँति 'न्याय' के भी वैधानिक और नैतिक दोनों ही अर्थ हो सकते हैं। अरस्तू ने लिखा है :

विधान के अनुसार होना एक अर्थ में ही न्यायोचित है।..... विधान में सार्वजनिक, सर्वश्रेष्ठ या राज्य के अग्रगण्य लोगों के हित के उद्देश्य से ही सब चीजों की व्यवस्था की जाती है;.. ... अतएव हम 'न्याय' शब्द को एक अर्थ में समाज के सुख को उत्पन्न करने और उसका संरक्षण करने वाली चीज़ों पर लागू करते हैं। विधान हमें साहसी, सौम्य और सज्जन बनने को कहता है; विधान धर्म और अधर्मों को निश्चित करता है और कुछ कामों को करने के लिये कहता है और कुछ को नहीं। इस अर्थ में 'न्याय' दूसरों के प्रति प्रदर्शित किया जाने वाला एक पूर्ण धर्म है। इसीलिये कभी-कभी उसे मुख्य धर्म कहा जाता है,......और यह कथन एक कहावत बन गया है, "सारे धर्म न्याय में ही हैं।"[1]

---

१. दि नाइकोमैकियन एथिक्स, ५, १, ११-१२

और न्याय को सामाजिक अर्थों के सम्बन्ध के भेदों पर ध्यान नहीं दिया जाता तो नैतिक और वैधानिक न्याय में भ्रमित हो जाती है। पहले अर्थ में हम व्यक्ति को न्यायी और दूसरे अर्थ में सरकार को न्यायपरायण कहते हैं। अरस्तू न्याय की परिभाषा इन दोनों अर्थों में करता है: "न्याय व्यक्ति को न्यायी बनाने वाली और जो कुछ वह उचित समझता है उसे उचित ढंग से करवाने वाली आदत और चरित्र है।" किंतु न्याय का भेद बताते हुए अपनी परिभाषा को पूरा करते समय अरस्तू इस बात की परीक्षा करता है कि न्यायी व्यक्ति वस्तुओं का वितरण अर्थात् अपनी सामाजिक व्यवस्था को किस ढंग से समुन्नत और स्थापित करने की चेष्टा करेगा। वर्तमान भेद का न्याय के नैतिक और वैधानिक भेद से तादात्म्य नहीं है। आधुनिक धारणाओं के अनुसार विधान को मानवी प्रवृत्तियों में हस्तक्षेप करने का अधिकार तब तक नहीं है जब तक वे समाज के लिए खतरनाक न साबित हों। अतएव विधान यदि समाज के विभिन्न अंगों में समान सम्बन्ध स्थापित कर सकता है तो उसका काम पूरा हो जाता है। इसके विपरीत नैतिक न्याय मनुष्य की प्रवृत्तियों और उद्देश्यों तक ही सीमित नहीं है क्योंकि नैतिक आलोचना मनुष्यों की ही नहीं वरन् संस्थाओं की भी की जा सकती है।

वितरणशील और क्षतिपूरक न्याय
(Distributive and Remedial Justice)

न्याय के अर्थ का तीसरा भेद वस्तुओं के वितरण और दुरुपयोग को रोकने के उपायों से सम्बन्धित समस्याओं से है। इनको वितरणशील और प्रतिकारक न्याय की समस्याएँ कहा जा सकता है। प्रतिकारक न्याय की तीन धारणाएँ हैं : प्रतिफलात्मक (retributive), सुधारात्मक और उपयोगितावादी। प्रतिफलात्मक धारणा 'जैसे को तैसा' नियम पर आधारित है। मनुष्य को अपने अवगुण और अनौचित्य के अनुपात से ही दुख भोगना चाहिए। अरस्तू के निम्नलिखित कथन में इसी धारणा को स्वीकार किया गया है : "जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को मारता

या उसकी हत्या करता है या उसके साथ अनाचार करता है तो यह एक
ह की असमानता है; न्यायाधीश उस असमानता को मिटाने के लिए
ड देता है।"[1] इस तरह प्रतिफलात्मक धारणा पिछली बातों को देखने
दृष्टिकोण पर आधारित है। इसके विपरीत सुधारात्मक धारणा भविष्य
ो देखती है। उसके अनुसार पिछली बातों के लिए दंड देना उचित
नहीं है, व्यक्ति को समाज में निर्माणात्मक स्थान ले सकने के लिए सुधार
देना ही मुख्य बात है। उपयोगितावादी धारणा में सुधारात्मक दृष्टिकोण
को अपनाते हुए अपराधी के अधिकारों या उसकी कुशल पर ध्यान न
दिया जाकर सामान्य सुख पर ध्यान दिया जाता है। बेंथम की व्याख्या
में अपराध के कानून का काम गलत काम करने पर दुख की धमकी देना
है जिससे अपने ही सुख की परवाह करने वाले लोग दूसरों को उनके
सुख से वंचित न कर सकें।

नैतिक सामञ्जस्य (Moral Symmetry)

अब हम वितरणशील न्याय की और अधिक परिच्छिन्न परीक्षा कर
सकते हैं। इस परीक्षा में हमें चौथे अध्याय में प्रस्तुत इस धारणा
को कि न्याय के प्रश्न शारीरिक बल या प्रचार के अतिरिक्त और कुछ
नहीं है छोड़ देना चाहिए क्योंकि वह धारणा न्याय के प्रश्नों को किस
तरह समझना और लागू करना चाहिए इस नैतिक प्रश्न का कोई उत्तर
नहीं देती। वह न्याय सम्बन्धी नैतिक प्रश्नों का समाधान न कर उन्हें
निरर्थक ही बताती है। इस सम्बन्ध में हम न्याय का निरंकुश राजा या
राज्य की अन्धआज्ञाकारिता से तादात्म्य भी छोड़ सकते हैं क्योंकि यह
केवल शब्द के अर्थ को बदलना मात्र ही है। शब्द का यह अर्थ
परिवर्तन उपयोगितावाद में भी है। प्रश्नों का अर्थ बदल देना उनका
उत्तर नहीं है।

न्याय की सबसे मुख्य बात वह है जिसे प्रोफेसर अर्दन ने "नैतिक

---

1 अरस्तू, वही, ५, ४, ४

सामञ्जस्य की अनुभूति" कहा है।[1] इसी तरह अरस्तू जो न्यायी व्यक्ति को 'समान' व्यक्ति कहता है जो अपने भाग से न तो अधिक लेता है और न कम, और नैतिक न्याय को 'समान वितरण' कहता है।[2] इससे प्लेटो की 'रिपब्लिक' में साइमोनिडीज द्वारा दी गई न्याय की परिभाषा की याद आ जाती है कि "न्याय हर आदमी को उसका हक देना है।" किंतु उसी संवाद में आगे चलकर यह प्रश्न उठाया गया है कि हरेक व्यक्ति के 'हक' का निर्धारण किस सिद्धांत के आधार पर किया जा सकता है। सिजविक का कहना है कि असमानता के लिए पर्याप्त प्रमाण न होने पर न्याय का आधार समानता होना चाहिये; किंतु वह इस परिभाषा को भी अकाट्य नहीं मानता क्योंकि नीतिशास्त्र को पर्याप्त प्रमाण की आलोचना भी करनी चाहिये। उदाहरणार्थ आजकल ईश्वर में विश्वास करना और अदालत के सामने गवाही देने में कोई रिश्ता नहीं है किंतु कुछ सदियों पहले ईसाई यूरोप में यह स्वयंसिद्ध था और नास्तिक होना ही राजनैतिक अधिकार न रखने का पर्याप्त प्रमाण था। न्याय में नैतिक सामञ्जस्य की अनुभूति मानना और समानता के किसी सिद्धांत के अनुसार वितरण करने पर ही न्याय की सिद्धि मानना इन दो बातों से समस्या का केन्द्र ही बदल जाता है। समान वितरण का अर्थ यह है कि अ और ब को आधा मिलना चाहिये जब तक कि उन दोनों में किसी एक को पसन्द करने का पर्याप्त कारण न हो। मनुष्य होने के नाते अ और ब में कोई अन्तर नहीं है किंतु उनमें असमान वितरण असमानता के किस प्रभाव पर और किस परिमाण तक उचित है। और दूसरे हर वस्तु का समान वितरण भी नहीं हो सकता। सुख बाँटने से घट भी सकता है और बढ़ भी सकता है। यदि ऐसा हो तो उचित न्याय (अर्थात् वितरण) का प्रश्न वस्तुओं की अत्यधिक संख्या का उत्पादन कैसे करना चाहिये इसकी

---

१. विल्बुर एम० अर्बन, फंडामेंटल्स आव् एथिक्स, पृ० २११
२. नाइकोमैकियन एथिक्स, ५, १, ८,

अपेक्षा रख सकता है। अतएव न्याय का प्रश्न साधारण नहीं है और उसका उत्तर "दो विरोधी आदर्शों पर केन्द्रित हो जाता है जिनमें से हर आदर्श उचित सा जान पड़ता है। एक सिद्धांत तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का बराबर मूल्य है और उसका आदर होना चाहिये; इसमें ईसाई बन्धुत्व भावना की अभिव्यक्ति है। नैतिक विवेक को उचित जान पड़ने वाला दूसरा सिद्धांत यह है कि मनुष्य को उसकी अच्छाई या काम के अनुसार पुरस्कार मिलना चाहिए।"[1] इन दोनों आदर्शों में से कौन सत्य के अधिक निकट है और उन दोनों में समन्वय कर सकना कहाँ तक सम्भव है?

हरेक को उसकी योग्यता के अनुसार

अरस्तू के मत से वितरणशील न्याय में "आनुपातिक समानता" होती है। "वस्तुओं और लोगों में वही समानता होनी चाहिए...लोगों के असमान होने पर उनका हिस्सा भी असमान होना चाहिए।"[2] किंतु मनुष्यों की असमानता का अर्थ क्या है और उचित पुरस्कार देने के लिए उनकी असमानता का निर्णय कैसे किया जा सकता है? इसके तीन उत्तर दिए गए हैं।

पहला उत्तर यह है कि मनुष्य की योग्यता उसकी सफलता में है। इस दृष्टिकोण के आकर्षक होने का स्पष्ट कारण यह है कि उसके समर्थक स्वयं सफल व्यक्ति हैं। उनसे कहिए कि अमुक मजदूर कम मजदूरी पाता है तो वह उत्तर देंगे कि यदि वह योग्य होता तो केवल मजदूर ही न बना रहता। इस तर्क से नैतिक समस्या पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता; क्योंकि केवल इसी बात की परिभाषा है कि यदि हर व्यक्ति अपनी योग्यता अनुसार ही पाता है अतएव नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। इसे ईश्वरवाद (Laissez faire) कहते हैं। इसकी आलोचना कई

१. हेस्टिंग्स रैशडैल, दि थियरी आफ गुड एंड ईविल, जि० १, पृ० २२१
२. अरस्तू, नैकोमैकियन एथिक्स, ५, ३, ६.

और परिणाम दोनों दृष्टियों से की जा सकती है। तार्किक दृष्टि से इसमें चक्रक दोष है और इसका प्रयोग आत्मसमर्थन का आधार प्रस्तुत करने के लिए ही किया जाता है।

निर्हस्तक्षेपवाद के समर्थक उसकी तार्किकता की दुहाई 'प्राकृतिक अधिकारों' के आधार पर देते हैं। उनके तर्क के अनुसार मनुष्य को ईमानदारी से वही कमाने का अधिकार है जो वह कमाता है और इसे वे स्वतंत्रता का अधिकार कहते हैं। मनुष्य को जो कुछ उसने कमाया है और जो कुछ उसे औरों से मिलता है उसे रखने का भी अधिकार है (सम्पत्ति का अधिकार)। मनुष्यों के ये अधिकार वैधानिक हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता किंतु वैधानिक होने के नाते ही ये नैतिक औचित्य और नैतिक निर्णय के प्रश्न के लिए उपयुक्त नहीं हो जाते। उन्हें नैतिक अधिकार मानने से सामाजिक वस्तुओं की आलोचनात्मक परीक्षा करनी पड़ती है जिनकी प्राप्ति में शायद वे बाधक होते हैं।

असमान पुरस्कार के औचित्य का तीसरा उत्तर यह घोषित कर कि कुछ मनुष्यों का मूल्य अन्य मनुष्यों से अधिक होता है पहले उत्तर के चक्रक दोष से बच जाता है। मनुष्यों का अधिक मूल्य अधिक पुरस्कार मिलने से न होकर समाज के लिए उनके अधिक मूल्यवान काम से होता है। किसी बैंक के संचालक या किसी संस्था के प्रधान को अधिक रुपया मिलना चाहिए क्योंकि उसके बिना बैंक या संस्था का संचालन सुचारु रूप से नहीं हो सकता। किंतु यदि किसी काम में दोनों मनुष्यों की आवश्यकता हो तो उनमें से एक को अधिक योग्य कहने का क्या अर्थ है? मोटर के कारखाने में मजदूरों का काम उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि उस कारखाने के संचालक का। मोटर के उत्पादन में मजदूरों का काम संचालक से अधिक आवश्यक है। किंतु तर्क यह दिया जाता है कि मोटर बनाने के लिये अनेक मजदूर मिल सकते हैं किंतु कारखाने के संचालन के लिए बहुत कम लोग। माना कि यह ठीक हो किंतु फिर भी

यह पूछा जा सकता है कि वे कौन से कारण हैं जिनसे संचालन का काम कुछ लोग ही कर सकने की क्षमता रखते हैं। यदि मजदूर को भी बचपन से वही सुविधाएँ दी जातीं तो क्या सबूत है कि वह भी एक कुशल संचालक नहीं बन पाता ? ऐसा सबूत दे सकना सम्भव नहीं है। दो मनुष्यों की तुलना उनके पालन पोषण के परिणाम हो चुकने के बाद ही की जाती है। समाज में दोनों व्यक्तियों को बचपन से ही समान अवसर देने पर बात शायद उलटी ही हो जाय यह एक खुला सवाल है।

समाज में सुविधा प्राप्त वर्ग के दिखावे का साधारण रूप यह है कि वह वर्ग अपनी सुविधाओं को अपनी । योग्यताओं के लिए समाज द्वारा दिया गया पुरस्कार सम हैं। समाज जब तक आवश्यक सेवाओं के लिए ि पुरस्कार देना नैतिक दृष्टि से उचित और सामाजिक में आवश्यक समझता है......तब तक सुविधा प्राप्त अपनी दृष्टि में अपने को सदा न्यायसंगत समझ सकता परम्परागत अधिकार और सुविधा प्राप्त वर्ग की यह युक्ति य समीचीन है तो इस बात का प्रमाण देना पड़ेगा या मान पड़ेगा कि असुविधा प्राप्त वर्ग समान अवसर मिलने पर सुविधा प्राप्त वर्ग के समान काम करने की क्षमता नहीं ला सक सुविधा प्राप्त वर्ग इसको सदा मानता आया है। सुविधा शिक्षा और सामाजिक स्थिति के अधिकार में जिन सामान्य का लाभ होता है उन्हें सहज ही जन्मजात समझ लिया जाता है सुविधा प्राप्त वर्ग के योग्य आदमियों की ओर ही देखा जाता है और उन लोगों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता जो परम्परागत सुविधा पाकर भी अयोग्य और धूर्त ही रह जाते हैं। दूसरी ओर सुविधा प्राप्त वर्ग की यह आदत सदा से रही है कि वह वंचित वर्ग की जन्मजात क्षमताओं को विकसित करने का कोई अवसर न

देकर उसे उस बात के लिए दोष देता है जिसको पाने के अधिकार से उसे वंचित किया जाता है।[1]

सामाजिक असमानता को एक युक्ति और भी है जो व्यक्तियों के असमान कामों की दुहाई न देकर (इसलिए वह ठीक अर्थ में न्याय की दुहाई भी नहीं देती) इस विश्वास की दुहाई देती है कि समान वितरण से पदार्थों का कुछ परिमाण घट सकता है और अत्यधिक मूल्यवान पदार्थ नष्ट हो सकता है। हेनरी जेम्स को अमेरिका में अवसर-उपलब्ध वर्ग के न होने का क्षोभ था क्योंकि सुन्दर वस्तुओं की परख और सुन्दर शिष्टाचार को वही 'वर्ग सजीव रख सकता है। इस बात के सत्य को स्वीकार करते हुये भी पदार्थों के अत्यधिक परिमाण और उनके समान वितरण का प्रश्न फिर उठ खड़ा होता है। अत्यधिक परिमाण का ध्यान न रखते हुये शायद कोई भी समानता की जिद नहीं करेगा। संकट ग्रस्त समय में यदि बीस आदमियों के पास इतना ही खाना बचा हो कि सहायता पहुँचने तक उनमें से पाँच आदमी ही खाकर बच सकते हैं तो समान वितरण की जिद करना बौद्धिक समाधान नहीं होगा क्योंकि ऐसे समय समान वितरण से सभी लोग भूखों मर जायेंगे किंतु वैसे पाँच की जान बच सकने की आशा हो सकती है। इसी तरह यूनानी संस्कृति अपने समय की आवश्यकताओं में दासता के बिना पनप नहीं सकती थी। इस प्रकार यूनानी दास प्रथा पच्चीस सौ वर्ष की संस्कृति की परोक्ष रूप से अनिवार्य शर्त रही है और उन शक्तियों की शर्त भी रही है जिन्होंने आखिरकार यूरोप और अमेरिका से दास प्रथा को समूल नष्ट ही कर डाला। तब क्या हम यूनानी दास प्रथा को इसलिए उचित समझ सकते हैं कि उसने मानव जाति का अत्यधिक हित किया जो शायद उस प्रथा

---

१ राइनहोल्ड नीबूर, मारल मैन एंड इम्मारल सोसायटी, पृ० ११७।

के बिना नहीं हो सकता था ? और क्या इस आधार पर [illegible] दासों के प्रति सम्मान की इच्छा का [illegible] है ?

किंतु स्वतंत्र समाज के सिद्धान्त में ऐसे आदर्शों को मानकर भी सब मनुष्यों का आपेक्ष [illegible] से अत्यन्त समानुपातिक और न्यायसंगत है। नीबुर [illegible] इस बात का कि संस्कृति को अवकाश-उपभोक्ता वर्ग की आवश्यकता है और इस तरह [illegible] जवाब देता है :

> संस्कृति के लिए पर्याप्त अवसर की आवश्यकता अवकाश-उपभोक्ता वर्ग के होने का पर्याप्त औचित्य नहीं है। हर कलाकार और कला के दो दर्शकों की खातिर हजारों व्यर्थ आदमियों का पतन होता है। बौद्धिक समाज इस बात को समझेगा कि उसे प्रतिभाशाली कलाकारों और वैज्ञानिकों का पालन किस तरह करना चाहिए और यह उन्हें तत्कालिक उपादेय कामों में व्यस्त होने की आवश्यकता से मुक्त कर देगा।[1]

समानतावाद (*Equalitarianism*)

अमेरिका और फ्रांस की क्रांतियों के परिणाम स्वरूप आदर्शों के परिवर्तन से तथाकथित प्रजातंत्रीय-शासन के विभिन्न रूपों में रहने वाले लोग समान अधिकारों को एक स्वयंसिद्ध राजनैतिक बात समझने लगे हैं। साधारणतया लोग उपर्युक्त कथन का अर्थ केवल राजनैतिक अधिकारों की समानता ही समझते हैं; उन्हें इस बात की कतई परवाह नहीं है कि राजनैतिक अधिकार भी सब को समान रूप से प्राप्त नहीं है, अनेक राज्यों में गरीबों को मताधिकार नहीं है, काले लोगों को मतदान देने के अधिकार से वंचित रक्खा जाता है और फैक्टरी के मालिक अक्सर अपने सैकड़ों कर्मचारियों के मतदान पर नियंत्रण रखते हैं। यदि राजनैतिक अधिकार सब लोगों को समान रूप से दे भी दिए जाँय तो भी वास्तविक अर्थ में समानता की वृद्धि नहीं होगी। कर्मचारियों के दृष्टिकोण से यह

---

[1] नीबुर, वही, पृ० १२८

ा केवल शेखचिल्ली की समानता ही है जो उसे दो उम्मीदवारों में को मत देने पर बाध्य करती है जबकि उन दोनों की नीति उन्हीं क और सामाजिक असमानताओं को बनाए रखना है जिसे कर्मचारी ा रहा है।

जब हम राजनैतिक आदर्श से आर्थिक समानता के आदर्श की ओर हैं तो बहुत से प्रश्न उठ खड़े होते हैं। आर्थिक समानता का अर्थ काम को देखे बिना वस्तुओं का समान वितरण हो तो क्या इससे करने का प्रोत्साहन नष्ट नहीं हो जायगा? अधिकांश लोग ऐसा ही रते हैं किंतु चूँकि यह स्थिति कभी अनुभव नहीं की गई है इसलिए के परिणामों के बारे में कुछ कह सकने का कोई आधार नहीं है। डेल ने पूर्ण आर्थिक समानता के प्रति की गई आपत्तियों को एक ौतिक आधार पर रक्खा है। उसके अनुसार पूर्ण आर्थिक समानता ानता के एक मूलभूत सिद्धान्त का उल्लंघन करती है:

> निठल्लू और परिश्रमशील दोनों आदमियों को समान पुरस्कार देना उसको एक न समझकर अनेक समझना है क्योंकि उसके भरण पोषण के लिए समाज के उद्यमी लोगों को अधिक परिश्रम करना पड़ेगा।[1]

समान वितरण का दूसरा प्रश्न यह है: वितरण किस वस्तु का किया ाय ! खाना, जमीन और रुपए का ! इस तरह का समान वितरण समा- ता के आदर्श को पराजित कर सकता है क्योंकि मनुष्य की उपयोग करने ी आवश्यकताएँ और क्षमताएँ विभिन्न हैं और समान वितरण उनके हित को असमान बना सकता है।

बहुधा समानता का अर्थ अवसर की समानता समझा जाता है। यह आदर्श सामाजिक सुधार की दृष्टि से मूल्यवान है किंतु इसमें भी असफलताएँ हैं। अवसरों को समान कैसे बनाया जा सकता है? यह सभी

[1] रैशडेल, वही, जि० १, पृ० २९०

हो सकता है जब परिवार की संस्था को तोड़ दिया जाय क्योंकि जब तक परिवार रहेगा तब तक कुछ लोगों को अधिक उपयुक्त माँ-बाप मिलने का सौभाग्य मिलता ही रहेगा। सामाजिक समानता के बिना अवसरों की पूर्ण समानता नहीं दी जा सकती इसके लिए कुछ हद तक व्यक्ति के निजी जीवन में हस्तक्षेप करना आवश्यक हो जायगा जो उसे असह्य लगेगा। इसके अलावा अवसरों की पूर्ण समानता का क्या अर्थ है? इस समस्या का एक रूप तो हर शिक्षक जानता है। अवसरों की समानता के अनुसार क्या शिक्षक को इस तरह पढ़ाना चाहिए जिसे सब विद्यार्थी समान रूप से समझ सकें? किंतु ऐसी नीति से तेज़ लड़कों की प्रगति में बाधा पड़ेगी और उन्हें अपनी क्षमताओं को अभिव्यक्त करने का अवसर नहीं मिलेगा। तेज़ लड़कों पर ही ध्यान देना भी समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन करना होगा। योग्य शिक्षक मध्यम मार्ग पर ही चलता है और जानता है कि ऐसे मामलों में निरपेक्ष समानता अप्राप्य ही नहीं वरन् निरर्थक भी है।

समानता का एक सुन्दर आदर्श लुई ब्लांक की घोषणा में मिलता है, "हरेक से उसकी क्षमताओं के अनुसार लो और हरेक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार दो।" इस आदर्श में व्यावहारिक मुश्किलें जो भी हों किंतु बहुतों को यह साध्य सा लगता है और इसमें समानतावाद की ऊपर वर्णित की गई तार्किक कमज़ोरियाँ नहीं हैं। यहाँ जिस समानता पर ज़ोर दिया गया है वह बाह्य वस्तुओं की समानता नहीं है, यद्यपि उसे [illegible]क उपसिद्धि (corollary) माना जा सकता है, वरन् यह समानता [illegible] जिसे रैशडैल ने "आकलित करने की समानता" (equality of consideration) कहा है। इस आधार पर संकटग्रस्त चीम आदर्शों [illegible] [illegible]विरोधाभास का हल मिल जाता है। उनमें से प्रत्येक का सार [illegible] [illegible]रेचत है और सबके नष्ट हुए बिना निरपेक्ष समानता संभव नहीं है। [illegible] अवसर पर "आकलित करने की समानता" की माँग के अनुसार वे [illegible]गी डालकर मर्यादित कर रखते हैं। यह ठीक है कि सब लोग उच्च

शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकते किंतु उच्च शिक्षा के लिए चुनाव सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अनुसार न किया जाकर योग्यता के अनुसार किया जाना चाहिए। "आकलित करने की समानता" न्याय का गूढ़तम अर्थ है और उसका उग्रतम विरोध करना अहमवाद है।

अहमवादी का दृष्टिकोण यह होता है कि जीवन की सब अच्छी चीज़ें केवल उसी को मिलनी चाहिए चाहे वे औरों के लिए शेष रहें या न रहें। इसके विरुद्ध न्याय की माँग यह है कि ध्यान एक व्यक्ति पर न दिया जाकर सब पर समान रूप से दिया जाना चाहिए। न्याय का सिद्धान्त सब तरह के कुकर्मों और पापों का प्रतिवाद है चाहे वे अपने साथी के प्रति किए गए हों या जीवन, सम्पत्ति, सामाजिक स्थिति, ख्याति और आत्मसम्मान के प्रति। अतएव न्याय का सिद्धान्त कांट के निरपेक्ष आदेश (categorical imperative) की पुनरुक्ति सी ही लगती है। निरपेक्ष आदेश न्याय को सैद्धान्तिक समानता से परे ले जाकर उसका तादात्म्य व्यक्तियों के निरपेक्ष मूल्य से कराता है। न्याय के पहले सिद्धान्त "दूसरों के अधिकारों का सम्मान उसी तरह से करो जिस तरह तुम उनसे अपने अधिकारों का करवाना चाहते हो" में दूसरा सिद्धान्त भी निहित है जिसे कांट के शब्दों में अभिव्यक्ति मिली थी और जिसकी पुनरुक्ति रेनोवीर ने फिर की थी : "मूल्य और स्वभाव में अपने साथी को समान समझो और उसे स्वयं साध्य मानो; अतएव उसे अपने साध्यों को प्राप्त करने का साधन मात्र मत बनाओ।"[1]

---

[1] रेनोवीर, वही, जि० १, पृ० २८. पृष्ठे अध्याय में कांट के नैतिक नियम का दूसरा रूप देखिए।

नीतिशास्त्र का तात्विक आधार

किसी समस्या पर संलग्नता से ध्यान देने पर हम उसकी तह की बातों तक पहुँच जाते हैं। समुद्र के किनारे पड़े कंकड़ को देखकर हम भौतिक पुद्गल की जटिलता के रहस्य पर मनन करते हैं और भौगोलिक इतिहास को देखकर मानव जीवन को क्षण भर टिमटिमाने वाली दीपक की लौ समझते हैं। जनसाधारण के लिए यह मामूली बातें हैं किंतु खोज जब व्यवस्थित ढंग से की जाती है तो इन परम बातों पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। नीतिशास्त्र का क्षेत्र ऐसी ही खोज का है।

नीतिशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन दो प्रकार की दार्शनिक समस्याओं की ओर संकेत करता है। पहली समस्या यह है कि यदि नीतिशास्त्र के खोज विषयक क्षेत्र को प्रामाणिक होना है तो उसकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ क्या होनी चाहिए। नैतिक समस्या का पहले अध्याय में किया गया विश्लेषण इस प्रकार की मान्यताओं की ओर संकेत करता है। हम दो बातों में वरण करने में स्वतंत्र हैं : यह एक नैतिक मान्यता है क्योंकि यदि इसको स्वीकार न किया जाय तो सारा नैतिक वाद विवाद निरर्थक हो जायगा। अतएव यह कहा जा सकता है कि नैतिक वाद विवाद के क्षेत्र को इस मान्यता की अपेक्षा है। इन प्राथमिक मान्यताओं के अतिरिक्त कुछ 'अतिशय-विश्वास' (over beliefs) भी होते हैं, जैसे ईश्वर की सत्ता में विश्वास और इतिहास के पीछे कोई सार्थक उद्देश्य होने का विश्वास। यद्यपि नैतिक वाद विवाद के क्षेत्र को उनकी अपेक्षा नहीं होती तथापि वे नीतिशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और कभी कभी सन्तोष-जनक नैतिक प्रवृत्ति का आधार बन जाते हैं।

१. नैतिक द्वन्द्वात्मक तर्क (Ethical Dialectic)

नीतिशास्त्र के स्वभाव और उसकी तार्किक मान्यताओं की समस्या नैतिक न होकर दार्शनिक है। अनुभव के विज्ञानीय, नैतिक, सौंदर्य विषयक, धार्मिक, आर्थिक, भावनात्मक आदि विभिन्न पहलुओं की परीक्षा और उनके पारस्परिक सम्बन्ध और स्वभाव का निर्धारण करना दर्शन का काम है। दर्शन वाद विवाद का क्षेत्र न होकर खोज की रीति ही अधिक है। दर्शन में वस्तुओं की गम्भीर आलोचनात्मक परख की जाती है। "दर्शन परिचित वस्तु को अपरिचित समझता है और अपरिचित को परिचित समझता है······वह हमें हमारी रूढ़िवादी नींद से जगाता है और हमारे पक्षपातों को तोड़ देता है।"[१]

दर्शन के विद्यार्थी के लिए यह जान लेना बहुत आवश्यक और कठिन है कि दर्शन में 'सत्य' का वह अर्थ नहीं होता जो अन्य खोज विषयक विशेष क्षेत्रों में होता है। गणितज्ञ अपने सत्य को संख्याओं से अभिव्यक्त करता है, मनोवैज्ञानिक अपने सत्य को कल्पनाओं और अन्तर्प्रेरणाओं से अभिव्यक्त करता है, अर्थशास्त्री विनिमय मूल्य द्वारा बताता है। किंतु दर्शन ज्ञान के इन सीमित दृष्टिकोणों से परे जाने वाली प्रवृत्ति है। दर्शन में किसी संगठित और एकतापूर्ण दृष्टिकोण की तलाश की जाती है। अतएव दर्शन में खोज के विभिन्न क्षेत्रों के अन्तर्सम्बन्ध पर प्रश्न किया जाता है। दर्शन उन क्षेत्रों के अर्थों और मूल्यों को परम सम्पूर्णता के दृष्टिकोण से करता है। मान लीजिये कोई यह प्रश्न उठाता है कि 'मैं क्या हूँ?' भौतिक वैज्ञानिक का उत्तर होगा कि अरबों खरबों विद्युत तरंगों का जटिल समूह; रासायनिक कहेगा कि अनेक ठोस और तरल पदार्थों का मिश्रण; जीवविज्ञानवेत्ता कहेगा कि अपने को परिवेश से संयोजित करने वाला एक प्राणी; मनोवैज्ञानिक कहेगा कि विभिन्न गुणात्मक मानसिक

१ विलियम जेम्स, सम प्रॉब्लम्स आफ् फिलॉसफी, पृ० ७

अवस्थाओं की राशि: अर्थशास्त्री कहेगा कि उत्पादन और उपभोग करने वाली एक सामाजिक इकाई: ईश्वरवादी कहेगा कि ईश्वर को प्रतिबिम्बित करने वाली एक आत्मा। दार्शनिक के लिये ऐसे प्रश्न का उठाना ही गलत है। यहाँ समस्या वरण करने की न हो कर समन्वय करने की है। ज्ञान का हर क्षेत्र जगत के किसी न किसी पक्ष की व्याख्या करता है; मगर उसमें से किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं होता। दर्शन में सत्य पर द्वन्द्वात्मक रूप में विचार किया जाता है; दर्शन अपनी खोज के हर क्षेत्र के सत्य की आवश्यक मात्रा और सीमा को स्वीकार करता है।

द्वन्द्वात्मक तर्क का नैतिक चिंतन में क्या स्थान है इस पर दूसरे अध्याय में विचार किया जा चुका है। द्वन्द्वात्मक तर्क द्वारा मान्यताओं और निहित बातों को स्पष्ट किया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दार्शनिक कार्यविधि में कोई विचित्रता या रहस्य है। दार्शनिक चिंतन और नित्यप्रति की सामान्य समस्याओं पर किये जाने वाले चिंतन में प्रकार भेद नहीं है; अन्तर केवल इतना ही है कि दार्शनिक चिंतन अधिक स्पष्ट और सुलझा हुआ होता है। क्योंकि :

> हर तरह का चिंतन जहाँ तक वह शब्दों का खेल और पुनरुक्ति मात्र नहीं है किसी हद तक द्वन्द्वात्मक होता है। हमारा चिंतन स्पष्ट रूप से परिभाषित मान्यताओं से शुरू होकर निश्चित रूप से बढ़ता हुआ एक ही दिशा में किसी निहित निष्कर्ष की ओर नहीं बढ़ता। चिंतन की क्रिया पूरी होने पर ही उसके औपचारिक सम्बन्धों (formal relations) को दिखाया जा सकता है......इसकी बहुत उदाहरण है। इस तरह के दर्शन से चिंतन की विधि की व्याख्या तो नहीं होगी किन्तु उससे इसकी औपचारिक विवरण पूर्व की दिशा को निर्धारित करने वाले निहित सम्बन्धों का पता चल जाता है।[1] किन्तु

---

1. मूलग्रन्थ यों है......it does show the implicit

र इस ढंग से विचार करने का कारण उसकी वास्तविक प्रक्रिया
को न देख केवल उसके परिणामों को ही देखना है।[1]

उदाहरणार्थ विज्ञानीय चिंतन में अलग अलग तथ्यों को एकत्रित
। नहीं किया जाता जिससे अनिवार्यतः एक ही निष्कर्ष निकलता
न्य अन्य ज्ञात तथ्यों से अन्तर्सम्बन्धित होने और बुद्धि के साँचे
। पर ही सार्थक बनते हैं। विज्ञानीय खोज पहले से ही विद्यमान
किसी तथ्य को जोड़ देना मात्र नहीं है। विज्ञानीय खोज से पहले
न ज्ञान के किसी न किसी पहलू के प्रति एक नया आलोचनात्मक
ण भी बनता है। संक्षेप में विज्ञान भी खोज के हर क्षेत्र की भाँति
क (mechanical) न होकर आंगिक (organic) है। उसके
पहलू की स्पष्ट जाँच करने पर भी उसकी *विषय-सामग्री में क्रांति*
तक की जा सकती है इसका पूर्वकथन नहीं किया जा सकता।

यद्यपि अन्य चिंतनों की भाँति विज्ञान भी किसी हद तक द्वन्द्वा-
है किंतु वह हद हर स्थिति में मान्यताओं और परिभाषाओं से सीमित
ती है। डाक्टर मलेरिया के अनेक कारण दे सकते हैं किन्तु वैज्ञानिक
र के नाते वे मलेरिया को हनुमान जी का कोप नहीं कहेंगे। विज्ञानीय
टिकोण में आधिदैविक बातों का कोई स्थान नहीं है। विज्ञान में उन्हीं
तों पर विचार किया जाता है (१) जिनकी बार बार परख की जा सके
र (२) जिन्हें तार्किक रूप में अभिव्यक्त किया जा सके; और आधि-
विक बातों में ऐसा नहीं हो सकता। आज भी कई ऐसी बीमारियाँ हैं जो
पर्युक्त शर्तों को पूरा नहीं करतीं, किंतु विज्ञानीय खोज सदा यह मानकर,

---

relations which determine whether we shall build
up formal constructions in one direction rather
than another ...

की जाती है कि हर बात का कोई कारण अवश्य होता है और उस बात की आधिदैविक व्याख्या करना गलत है; और भविष्य में उस कारण का पता चल जाने की आशा की जाती है।

दर्शन का प्रविधिक पक्ष पूरी तरह से द्वन्द्वात्मक होता है। गणित, भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, तत्वमीमांसा या नीतिशास्त्र आदि के दार्शनिक विवेचन में (१) हर क्षेत्र के मूलभूत शब्दों और (२) हर क्षेत्र की मूलभूत मान्यताओं की परीक्षा की जाती है। अर्थशास्त्र में उत्पादन, विनिमय, पूँजी आदि शब्दों का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है; अतएव अर्थशास्त्र को ठीक से समझने के लिए उन शब्दों के अर्थों की परीक्षा करनी पड़ती है। कभी कभी किसी क्षेत्र की आधारभूत मान्यताओं और शब्दों को स्वीकार करने में मतभेद होता है किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी द्वन्द्वात्मक परीक्षा ही न की जाय।

'श्रेयम्' की अनिर्वचनीय प्राथमिक धारणा

(Good as a Primary Indefinable)

नीतिशास्त्र में 'श्रेयम्' शब्द का प्रयोग प्रचुरता से किया जाता है। नैतिक खोज श्रेयम् के अर्थ की परिभाषा के बिना किसी न किसी तरह समझ लेने पर ही की जा सकती है। हो सकता है कि उसका मूल अर्थ साधारण हो किंतु खोज के क्रम में उसका अर्थ विकसित हो सकता है। हर क्षेत्र के मूल अर्थों का परिचय ज्ञान से पहले ही होता है। जी० ई० मूर ने तो 'श्रेयम् (Good) को पीलेपन की भाँति एक निरवयव धारणा कहा है जिसको समझा सकना असम्भव है। उसका अनुभव तो अवश्य होना चाहिए। परिभाषा में तो निरवयव धारणाओं का विश्लेषण किया जाता है और पहले से ही समझी गई धारणाओं से उनका तुलना (comparison) किया जाता है। किंतु पीलापन और श्रेयम् जटिल न होकर "परिभाषाओं को निर्मित करने वाली निरवयव धारणाएँ हैं जिनकी परिभाषा नहीं दी जा सकती।"

'पीलेपन' और 'श्रेयस' के इस तार्किक सामान्य गुण के अतिरिक्त उन दोनों में दो आवश्यक भेद भी हैं। पहला भेद अर्थ का है। हलके और गहरे का भेद होते हुए भी पीला रंग पीला ही है। किंतु श्रेयस के अनेक संभव अर्थ हैं और नीतिशास्त्र के विद्यार्थी को उन्हें जानना चाहिये। नीतिशास्त्र 'श्रेयस' के स्वभाव की व्यवस्थित खोज का क्षेत्र है किंतु पीले रंग के स्वभाव की व्यवस्थित खोज संभव नहीं है। दूसरा भेद ज्ञानपक्षीय है : वह दोनों शब्दों को जानने के ढङ्ग का भेद है। पीले रंग और श्रेयस दोनों का ही साक्षात् होता है किंतु पीले रंग का साक्षात् केवल प्रत्यक्ष मात्र ही है जब कि श्रेयस के साक्षात् के साथ अनेक जटिल भावनाएँ होती हैं।

श्रेयस का अर्थ वाञ्छनीय कार्य के साध्य की भाँति जाना जाता है और चूँकि उस कार्य को किया जा सकता है या छोड़ा जा सकता है इसलिए हर व्यक्ति 'श्रेयस' का अर्थ अलग अलग ढङ्ग से करता है और इस प्रकार श्रेयस के अर्थ का विकास होता है, चाहे अच्छे के लिए हो चाहे बुरे के लिए। यह विकास कुछ सीमा तक भावनाओं और भविष्य के मार्ग को परिवर्तित करता है और इस प्रकार आदर्शों और कर्मों की अन्तर्क्रिया (उन लोगों के लिए जो अपनी अन्तर्प्रेरणाओं और आदतों के गुलाम नहीं हैं) अधिकाधिक मजिहित हो जाती है। अपने अधि[illegible] विकसित रूपों में श्रेयस का प्रत्यय (idea of good) विवेक पू[illegible] विश्लेषण और आलोचना की चीज बन जाता है और यही विश्लेष[illegible] और आलोचना नैतिक खोज का रूप है। इस प्रकार श्रेयस अभिरुचि [illegible] इच्छा के किसी विषय का प्रत्यक्ष अनुभव बन जाता है क्योंकि जिस व[illegible] को इच्छा की जाती है वह किसी न किसी तरह से अच्छी और श्रेयस[illegible] भी प्रतीत होती है चाहे भाषा या विचारों की परम्परा के कारण उसे [illegible] रूप से स्वीकार न किया जा सके। एक दूसरे आवश्यक अर्थ में श्रे[illegible] अभिरुचि या इच्छा का विषय हो न होकर वैकल्पिक इच्छाओं [illegible] अभिरुचियों की परीक्षा, उनके परिणामों पर विचार और उनके नि[illegible]

मूल्यों को बौद्धिक रूप से स्वीकार करने के बाद वांछनीय लगने
लगते हैं ।

नीतिशास्त्र की पाँच मान्यताएँ

नीचे वर्णित नीतिशास्त्र की पाँच मान्यताएँ स्वयंसिद्ध नहीं हैं;
उनमें से किसी से भी इनकार कर सकना संभव है। गणित की इस
सिद्ध बात कि यदि दो मात्राएँ किसी तीसरी मात्रा के बराबर हों
आपस में भी बराबर होंगी को न मानना निरर्थक है। किंतु नीति
की मान्यताओं को तार्किक दृष्टि से अस्वीकार किया जा सकता है। उ
सत्य उनकी आन्तरिक तार्किक अनिवार्यता पर निर्भर न होकर उनके
निश्चित अर्थों पर निर्भर रहता है जिन अर्थों में नीतिशास्त्र में उ
प्रयोग किया जाता है। नैतिक खोज की संभावना और सार्थकता स्वी
करने पर नैतिक मान्यताओं के सत्य को स्वीकार करना पड़ता है; उ
अस्वीकार करने पर नीतिशास्त्र की संभावना से भी इनकार करना प
है। चूँकि इस पुस्तक के पाठक नैतिक खोज की संभावना को स्वी
करेंगे इसलिए यदि प्रदर्शन करना संभव भी हो तो भी नैतिक मान्यत
के प्रदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है।

(१) मूल्य की मान्यता—इस मान्यता पर पहले अध्याय के द्
खण्ड में काफी प्रकाश डाला जा चुका है। इस मान्यता के अनुसार म
एक सार्थक वस्तु है अर्थात् कुछ चीजों में, चाहे वे वास्तविक हों
काल्पनिक, मूल्य होता है। मूल्य रखने का अर्थ श्रेयस्कर होना है। श्र
चूँकि श्रेयस्कर होना सापेक्षिक बात है और उसकी सार्थकता किसी व
को अन्य वस्तु की अपेक्षा अच्छा मानने में ही होती है इसलिए हम कु
वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से अच्छा मान सकते हैं। इसका अर्थ यह
कि हमारी पसन्द और वरण का बौद्धिक आधार होता है।

(२) अभाव की मान्यता (postulate of non-actuality)-
यह एक सर्वमान्य बात है कि मूल्यों का लाभ अपूर्ण रूप से होता है
यदि जगत में सर्वोपरि मूल्यों की सत्ता होती और यदि जगत हर दृष्टि

पूर्ण होता तो नैतिक कर्तव्यों और बाध्यता का कोई स्थान नहीं होता क्योंकि तब वास्तविकता और श्रेयस् (good) में पूर्ण तादात्म्य होता और किसी भी प्रकार की नैतिक चेष्टा व्यर्थ होती।

(३) संभावना की मान्यता—नैतिकता नाम की चीज होने के लिए श्रेयस् को कुछ हद तक अप्राप्य न होकर प्राप्य भी होना चाहिए। इस मान्यता में नैतिक वरण को स्वीकार किया गया है; कुछ ऐसे काम हैं जिन्हें करना या न करना नैतिक कर्ता के हाथ की बात है। पहले अध्याय में यह बताया गया था कि नैतिक आग्रह में 'करना चाहिए' या 'नहीं करना चाहिए' का कोई स्थान नहीं है। अमुक काम करना चाहिए यह हम तभी कहते हैं जब हम उस काम को कर सकते हैं : नैतिक आग्रह में कर सकने का भाव निहित होता है।

यह तीसरी मान्यता यद्यपि नैतिक आग्रह में निहित है किंतु नैतिक आग्रह इस मान्यता में निहित नहीं है। किसी काम को करने की संभावना में उस काम को करने का आग्रह निहित नहीं है। किंतु तीनों मान्यताओं को एक साथ लेने पर नैतिक आग्रह स्पष्ट हो जाता है। कर्ता जब किसी वस्तु को अच्छा समझता है, जब उस वस्तु की प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है और जब उसको पा लेना कर्ता की शक्ति में है तो उसको पाना कर्ता का कर्तव्य हो जाता है (यदि कोई अन्य श्रेष्ठ कर्तव्य बीच में न हो तो)।

(४) ध्रुवता की मान्यता (postulate of permanence)—जैसा कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है नैतिक वरण परिणामिक (consequential) होता है : वह जिन वैकल्पिक मूल्यों की ओर इशारा करता है वे अस्थाई नहीं होते। अतएव इस चौथी मान्यता में मूल्यों के स्थायित्व या ध्रुवता को माना जाता है। यदि परिस्थितियों में कोई परिवर्तन न हो तो कोई काम या स्थिति नैतिक दृष्टि से उसी सीमा तक अच्छी या बुरी बनी रहती है।

चौथी मान्यता पहली दृष्टि में गलत या चमक दोषमय लग[illegible] है। नैतिक निर्णयों में परिवर्तन होता है और जो काम या स्थि[illegible]

आज अच्छी या बुरी समझी जाती हैं कालान्तर में विभिन्न दृष्टि से देखी जा सकती हैं। और यदि 'परिस्थितियों के परिवर्तन' वाक्य में सब काल के नैतिक निर्णयों को सम्मिलित कर लिया जाय तो चौथी मान्यता में चक्रक दोष हो जाता है क्योंकि तब उसका अर्थ यह हो जाता है कि व्यक्तियों के निर्णय और उस निर्णय को प्रभावित करने वाली शर्तें ही बदल जाती हैं किंतु कामों और स्थितियों की अच्छाई या बुराई का परिणाम वही रहता है।

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि नैतिक प्रथाओं और भावनाओं के सभी परिवर्तन नैतिक निर्णय की परिस्थितियों के न ही बिल्कुल अन्दर होते हैं और न ही बिल्कुल बाहर। प्रसंगानुकूलता किसी नियम का अनुसरण नहीं करती; वह भेद और विवेक करने का विषय है। सामयिक और शाश्वत का सही सम्बन्ध समझना मानवी बुद्धि की एक कठिन परीक्षा है। फिर भी हम सब परिस्थितियों के कुछ परिवर्तनों को नैतिक निर्णय के अधिक प्रसंगानुकूल समझते हैं। किंतु इच्छाओं के प्रवाह में बह जाने पर प्रसंगानुकूलता अविकल नहीं रहती और परिस्थिति के परिवर्तनों को कर्तव्यपराङ्मुख होने का बहाना बना लिया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से चौथी मान्यता नैतिक निर्णयों के परिवर्तनों को सीमित कर देती है। यह परिस्थितियों से सापेक्षतः स्वतंत्र आदर्श मापदंडों को उचित ठहराती है। आदर्श मापदंड नैतिक वरण में उत्तरदायित्व की भावना रखकर उसे विषयगत बना देते हैं। "किसी चीज का मूल्यांकन करना", रेमन फर्नेन्डेज ने लिखा है, "उसे व्यक्तिगत प्रशंसाओं से बचा कर रखना है। उसे अपने ऊपर अधिकार देना है और इस तरह विधान को निश्चयात्मक बना देना है।......यदि मैं किसी सिद्धान्त का आदर करने के लिए हमेशा किसी विशेष ढंग से काम करने का निर्णय करता तो मेरे निर्णय का विश्लेषण यों किया जा सकता है: पहले मैं किसी सिद्धान्त को श्रेयस्कर मानकर उसे स्वीकार करता हूँ; और फिर उसी समय उस सिद्धान्त को अपने आप से अपनी रक्षा करने के लिए नियम बना

देता है।"[1] किन विशेष सिद्धान्तों को प्रामाणिक माना जाय यह दूसरा ही प्रश्न है। वे परम्परागत नैतिकता के अनुकूल भी हो सकते हैं और प्रतिकूल भी। मुख्य बात यह है कि वे कर्ता के अपने हों. उनसे यह परिलक्षित होना चाहिए कि कर्ता किसे श्रेयस्कर समझता है। एक मर्यादा के अन्दर उनमें परिवर्तन भी हो सकता है क्योंकि सिद्धान्तों का विकास होना विकसित नैतिकता की एक मान्य शर्त है। सिद्धान्तों की सार्थकता सुरक्षित रखते हुए भी उनमें किस सीमा तक विकास किया जा सकता है यह कर्ता के ऊपर निर्भर करता है। हर कर्ता अपने जोखिम पर ही अपना निर्णय करता है और ऐसा करने में वह अपने भविष्य के इच्छित चरित्र का निर्माण करता है—अरस्तू इसे आत्मा की स्वरचना कहता था।

नैतिक मान्यता का एक विषयिनिष्ठ (subjective) पक्ष भी है। हम नैतिक वाक्य द्वारा अभिव्यक्त होने वाले मूल्यों के साथ साथ अपनी मुक्तता को भी मानते हैं। यदि हम कल भी वही न रहें जो आज हैं तो हमारा वादा करना निरर्थक हो जायगा। यह कहकर कि हम बदल गए हैं और वही व्यक्ति नहीं रह गए हैं जो थे नैतिक वाक्य से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। यह बात सारे नैतिक वाक्यों पर लागू होती है। वादा करते समय हम भविष्य में अपनी मुक्तता को मान लेते हैं। दूसरे शब्दों में जब हम उत्तरदायित्व पूर्ण ढंग से वादा करते हैं तो हम अपने वादे को व्यवहार में परिणित करने और उसके परिणामों को भुगतने का निश्चय कर लेते हैं। जीवन के महत्त्वपूर्ण निश्चय—जैसे अपने को शिक्षित करना, नौकरी करना, विवाह करना आदि—के परिणाम मनुष्य (व्यक्ति) पर मुद्रित रहते हैं। हर वादे का कोई न कोई परिणाम अवश्य होता है और उसके साथ साथ कुछ जवाबदेही भी सदा होती है।

१ '[illegible] थियरी आफ् वैल्यू' दि आरगेनिज़म, जनवरी १९६०, पृ० २९१

दारा उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से वरण करने का अर्थ भविष्य में हर
य अपने अहम् की नैतिक सामञ्जस्यता को मानकर उसके अनुसार
न करना है। इसी को चरित्र निर्माण कहते हैं जिसको आठवें अध्याय
देखा जा चुका है।

(५) सामाजिक विषयसापेक्षता की मान्यता (postulate of
ocial objectivity)—उपर्युक्त मान्यताएँ कर्ता का अन्य व्यक्तियों
 क्या सम्बन्ध है इसका स्पष्ट निर्देशन नहीं करतीं। नैतिक खोज में यह
निर्देश निहित रहता है और सामाजिक नीतिशास्त्र में वह प्रकट हो
जाता है। अतएव सामाजिक नीतिशास्त्र का आधार होने से पाँचवीं
मान्यता बहुत आवश्यक है। उसकी उपेक्षा कोई स्वहितवादी (egoist)
ही कर सकता है। इस मान्यता के अनुसार सभी व्यक्तियों का मूल्य
समान होता है; वे इसके अपवाद तभी होते हैं जब उनमें आत्मत्व के भेद
के अतिरिक्त और कोई भेद भी हो। व्यक्तियों में आत्मत्व के भेद के
अलावा भी कोई न कोई भेद अवश्य होता है, अतएव कभी ऐसी कोई
स्थिति उत्पन्न नहीं होती जिसमें इस मान्यता के अनुसार दो व्यक्तियों का
समान मूल्य होना साधारणतः सिद्ध हो सके। यह मान्यता आपातिक
और अप्रत्यक्ष रूप से ही लागू होती है। नैतिक प्रश्न से सम्बन्धित भेद
का अभाव होने पर तुलनीय व्यक्तियों के अधिकारों और कर्तव्यों में कुछ
समानता हो सकती है। नैतिक प्रश्न से सम्बन्धित बातें क्या क्या होती हैं
इस पर चौथी मान्यता में विचार किया जा चुका है। यही बातें यहाँ भी
लागू होती हैं।

ये पाँचों मान्यताएँ नैतिक चिंतन का ढाँचा प्रस्तुत करती हैं। इनसे
इनकार करना नीतिशास्त्र की सैद्धान्तिक सम्भावना से इनकार करना है।
नीतिशास्त्र के क्षेत्र में व्याप्त कर सकने की सम्भावना को स्वीकार करने में
उपर्युक्त पाँचों मान्यताओं का व्यावहारिक प्रदर्शन मिलता है। उनको
स्वीकार करना न्यायसंगत इसलिए है कि वे एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र को
सम्भव बनाती हैं। किसी भी क्षेत्र की मान्यताओं का व्यावहारिक प्रदर्शन

ारा ही सिद्ध किया जा सकता है किंतु व्यावहारिक प्रदर्शन की सत्यता इसके विरोध के अभाव में ही हो सकती है। यदि यह सच हो कि सब लोग सब परिस्थितियों में दूसरों के हित का उतना ही ध्यान रखते हैं जितना कि अपने हित का तो यह बात सामाजिक नीतिशास्त्र की महत्वपूर्ण मान्यता बन सकती है। दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं है।

कुछ नैतिक मान्यताओं पर विशेष दार्शनिक सम्प्रदाय भी विवाद खड़ा करते हैं। दूसरी मान्यता के अनुसार वास्तविक जगत हमारी धारणा के अनुकूल हर माने में अच्छा नहीं है। ईश्वरवाद में इस मत का खण्डन किया जाता है क्योंकि सर्वशक्तिमान और पूर्ण रूपेण श्रेष्ठ ईश्वर के बनाए जगत में अपूर्णता नहीं हो सकती। तीसरी मान्यता के अनुसार मनुष्य दो अनिर्धारित वैकल्पिक स्थितियों में से किसी एक को चुन सकने में स्वतन्त्र होता है। संकल्पवाद (determinism) इस मान्यता को भौतिक विज्ञानों से असंगत होने के कारण स्वीकार नहीं करता। विषयसापेक्ष दृष्टि से चौथी मान्यता नैतिक सापेक्षवाद का विरोध करती है और विषयिसापेक्ष दृष्टि से वह मनोविज्ञानीय साहचर्यवाद (psychological associationism) के इस मत का भी विरोध करती है कि मनस् परिवर्तनशील व्यक्तिगत अवस्थाओं की ही राशि है। पाँचवीं मान्यता अन्य लोगों के प्रागनुभव मूल्य को मानकर उनकी सत्ता को स्वीकार करती है किंतु निरपेक्ष व्यक्तिसापेक्षवाद (solipsism)[1] में अन्य लोगों के मूल्य को स्वीकार नहीं किया जाता। आधुनिक काल में इन सन्देहात्मक विवादों में तीसरी और चौथी मान्यता के विषयसापेक्ष पक्ष के विवाद ही जागरूक हैं। अन्य लोगों की सत्ता को न मानने वाले लोग तो कम ही हैं किंतु

---

[1] यह वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार व्यक्ति की अपनी सत्ता ही होती है और अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। अन्य व्यक्तियों की सत्ता तभी और उसी समय तक होती है जब तक वे 'मेरी' चेतनता के विषय बने रहते हैं—अनु०।

अनुभववादी (empirical) विज्ञानों की विधि और परिणामों के आधार पर स्वतन्त्र वरण (free choice) और स्थाई नैतिक मानदंडों की सम्भावना पर जब तब विवाद खड़ा हो जाता है। नैतिक सापेक्षवाद पर दूसरे अध्याय में विचार किया जा चुका है। यहाँ हम मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता के प्रश्न की परीक्षा करेंगे और देखेंगे कि विज्ञानीय प्रगति सारी नैतिक समस्याओं और निश्चयों को भ्रमपूर्ण कहाँ तक ठहरा सकी है

२. स्वतन्त्र वरण की समस्या

स्वतन्त्र वरण या कम यथार्थता के साथ कही जाने वाली 'इच्छा-स्वातंत्र्य' (free will) की समस्या यह है : क्या मानवी आचरण, जिसमें उसके व्यक्तिगत संचारी भावों (emotions) प्रत्ययों और प्रयत्नों के साथ प्रकट भौतिक पहलू भी होते हैं, पूर्व घटनाओं से पू तरह पूर्व निश्चित होता है या मनुष्य चेतनप्राणी होने के नाते, वर करते समय, अपने कामों का करने वाला स्वय होता है ? इन दो वैकल्पिक पक्षों में दूसरा तार्किक दृष्टि से तीसरी नैतिक मान्यता से स रखता है। यदि मनुष्य अपने कामों का मूल स्वय है तो यह स्पष्ट है वरण करते समय वह किसी और काम का वरण भी कर सकता नैतिक मान्यता के अनुसार यदि वह दो वैकल्पिक पक्षों में वरण कर की क्षमता रखता है तो उसे वरण किए गए पक्ष का कर्ता ठहरान है। देखने में तो स्वतन्त्रतावादी इस सिद्धान्त से कि हम उन्ह के कर्ता हैं जिन्हें हम बिना किसी दबाव के और 'आँख खोल क हैं इनकार नहीं किया जा सकता किंतु ऊपर से अस्वीकृत न वाले बहुत से सत्य परीक्षा करने पर असत्य ठहरते हैं। अतएव दलीलों की परीक्षा करनी चाहिए जिन पर (स्वतन्त्र वरण को स्वीकार करने वाले) स्वतन्त्रतावादियों (libertarians) और वरण से इनकार करने वाले) सकल्पवादियों (determin झगड़ा है।

संकल्पवाद पर विचार करने से पहले उसकी यथार्थ परिभाषा देना आवश्यक है। संकल्पवाद को (उसके विज्ञानीय रूप में जिसमें कार्य-कारण भाव रहता है) कभी-कभी नियतिवाद (fatalism) समझ लिया जाता है। नियतिवाद विज्ञानीय नहीं होता और उसमें सामान्यतः स्वतंत्र वरण का निरपेक्ष खण्डन भी नहीं होता। नियतिवाद यह स्वीकार करता है कि हम चाहे जो भी वरण करें किंतु कुछ बातें हमारे वरण करने या न करने का परिणाम न होकर पहले से ही नियत होती हैं जिससे स्वतंत्र वरण के साधन सीमित हो जाते हैं। सिसरो ने एक तर्क दिया था : रोगी को वैद्य की जरूरत नहीं है क्योंकि रोगी या तो मर जायगा या अच्छा हो जायगा। यदि वह मर जायगा तो वैद्य का आना बेकार है और यदि वह अच्छा हो जायगा तो भी वैद्य का आना निरर्थक है। यह तर्क *नियतिवाद का उदाहरण है, विज्ञानीय संकल्पवाद का नहीं*। बहुत से मार्क्सवादियों का आर्थिक संकल्पवाद (economic determinism) भी नियतिवाद है। उनका कहना है कि पूँजीवाद को एक न एक दिन तो अवश्य नष्ट होना है, क्रांतिकारी लोग तो उसको नष्ट करने के निमित्त मात्र हैं और वे एक सीमा के अन्दर ही स्वतन्त्र रूप से काम कर सकते हैं।[1] यह स्पष्ट है कि नियतिवाद में विश्वास करने से व्यक्ति की नैतिक खोज का स्वभाव और नैतिक दायित्व बहुत बदल सकता है किंतु[2] फिर भी नियतिवाद से नैतिक विमर्श निरर्थक नहीं बनता। मेरे सामने ऐतिहासिक

१—"बोलशेविकों के नारे और विचार सामान्यतः पूरी तरह से सत्य हैं किन्तु यथातथ दृष्टि से घटनाओं ने उनकी आशाओं के विपरीत रूप धारण किया है।"—लेनिन, ट्राटस्की द्वारा उद्धृत, दि हिस्टरी आफ् दि रशन रेवोल्यूशन, जि० १, पृ० ४७७

गीता का दृष्टिकोण भी नियतिवादी है। कृष्ण ने अर्जुन को ऐतिहासिक गतिविधि में 'निमित्त मात्र' ही बनने की शिक्षा दी है—अनु०।

निमित्त बनने या न बनने का वरण फिर भी रहता है। विज्ञा-
ार्य-कारण सम्मत) संकल्पवाद के अनुसार हर गतिविधि या
ारण और कार्य उस व्यापार की भाँति ही दृढ़ता से पूर्व-
ता है। उसमें वरण कर सकने का तो कहीं स्थान ही नहीं
व्यापार किसी लक्ष्य (telos) से निर्धारित न होकर अपनी
ाओं से निर्धारित होता है। संकल्पवाद का यह रूप तार्किक दृष्टि
यता का खण्डन करता है।

संकल्पवादी पक्ष की युक्तियाँ

ल्पवाद के समर्थन के लिए अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी
ी कारणात्मक सम्बन्धों की खोज और कारणात्मक व्याख्या
उन्नति पर आधारित आगमनात्मक युक्ति है। विज्ञान बादल
ानी बरसने का कारण इन्द्र के क्रोध और देवताओं के
: न मानकर भूगोल के कुछ निश्चित कारणों में मानता है।
। में वैसी निश्चितता अब तक नहीं मिल सकी है किंतु
ाग अज्ञान नहीं हो सकता ? विज्ञानीय उन्नति को देखते
अनुमान नहीं किया जा सकता कि एक न एक दिन सभी
कारण मालूम हो सकेगा और उनकी कारणात्मक व्याख्या
ी ? पहले की सारी घटनाओं को पूरी तरह जानने वाला
ानिक, यदि वह हो, क्या भविष्य के बारे में ठीक ठीक नहीं
इस संभावना को मान लेना भविष्य को पूर्वनिर्धारित,
अपरिवर्तनीय स्वीकार कर लेना है। भविष्य को पूर्व
लेने पर नैतिक कर्ता के सामने वरण कर सकने का कोई
ाता। इस दृष्टिकोण से नैतिक विमर्श और नैतिक निश्चय
ाइयाँ बन जाते हैं, घटनाओं का सृजन करने वाले नहीं।
न की उन्नति पर आधारित संकल्पवाद की यह आगमना-
पूर्ण है। विज्ञान ने अपनी खोज विषयक सामग्री की
: बढ़ा ली है किंतु इससे यह सिद्ध नहीं हो पाता कि

विज्ञान एकतामय ज्ञान के किसी लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। यह अनुमान तभी संभव हो सकता है जब ज्ञान की सामग्री का परिमाण और प्रकार सीमित हों। विश्व में तथ्यों की किसी सीमा को मानना और यह कहना कि विज्ञान धीरे धीरे उस सीमा के अन्दर सारे तथ्यों में अन्योन्याश्रित कारण सम्बन्ध की खोज कर रहा है विश्व का सही चित्रण नहीं है। ज्ञान की कोई मर्यादा नहीं है, उसमें उतनी ही अनेकता और विभिन्नता है जितनी लोगों के अनुभवों और कल्पनाओं में है—चाहे वे अनुभव और कल्पनाएँ वैज्ञानिकों की हों या कवियों की या रहस्यवादी धर्म परायण लोगों की। विज्ञान के हर नियम की खोज के साथ अन्य असीमित तथ्यों के अनुसन्धान का मार्ग प्रशस्त होता जाता है। नए उत्तरों से और भी नए और जटिल प्रश्न उठते जाते हैं और उनका अन्त नज़र नहीं आता। इस प्रकार एकतामय ज्ञान का लक्ष्य बराबर पीछे हटता रहता है और उस तक कभी पहुँच पाने की संभावना के लिए कोई आगमनात्मक प्रमाण नहीं है। इसी बात को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि कारणात्मक संकल्पवाद के लिए कोई आगमनात्मक प्रमाण नहीं है।

(२) दूसरी स्वयंसिद्धता पर आधारित प्रागनुभव (a priori) युक्ति है। यह ठीक है कि भाव की उत्पत्ति भाव से ही हो सकती है। हरेक चीज का एक आदि-बिन्दु होता है जो उसकी व्याख्या का सिद्धान्त और उस चीज के 'होने' का सिद्धान्त या कारण भी होता है। किसी कारण-रहित प्रारम्भ की धारणा नहीं की जा सकती। इस स्वयंसिद्धता को कभी कभी न्याय-वाक्य (syllogism) द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। जिस वस्तु का प्रारम्भ हुआ है उसका कोई कारण भी होना चाहिए, नहीं तो वह वस्तु अपनी उत्पत्ति का कारण स्वयं होगी। किंतु अपनी उत्पत्ति का कारण स्वयं होने के लिए उस वस्तु की अपने प्रारम्भ (कार्य) से पहले सत्ता (कारण) होना चाहिये जो असंभव है; इसलिए हर वस्तु के प्रारंभ का कारण उस वस्तु से अलग किसी और वस्तु को ही होना चाहिए।

प्रागनुभव युक्ति को चाहे जैसे व्यक्त किया जाय किंतु तार्किक दृष्टि से उसमें बाध्यता नहीं होती। अपने सन्तोष के लिए स्वयंसिद्धता का सहारा लिया जा सकता है किंतु उसमें सन्देह करने वाले विपक्षी के सन्तोष *के लिए तार्किक दबाव नहीं होता। स्वयंसिद्धता का आधार तर्कशास्त्र में* न होकर मनोविज्ञान में है, यह और बात है कि उसके सफल होने पर *नई तार्किक युक्तियों का निर्माण किया जा सके।* उपर्युक्त न्याय वाक्य द्वारा व्यक्त युक्ति में चक्रक दोष है। उसमें जो सिद्ध करना है उसे पहले से ही मान लिया गया है। प्रत्येक वस्तु का कोई कारण होना चाहिये, नहीं तो वह अपनी उत्पत्ति का कारण स्वयं होगी : इस युक्ति में छिपे तौर से यह कहा गया है कि (१) हर वस्तु का कारण होना चाहिए (२) और यह कारण या तो अपने कार्य से तादात्म्य रक्खेगा या नहीं रक्खेगा। स्पष्ट है कि यहाँ जो सिद्ध करना है उसे पहले से ही मान लिया गया है।

(३) अब सकल्पवाद की प्रामाण्यवादी (epistemological) युक्ति रह जाती है। प्रामाण्यवाद दर्शन शास्त्र को वह शाखा है जिसमें ज्ञान के स्वभाव और ज्ञेय वस्तुओं की विशेषता की खोज की जाती है। कांट जिसने आधुनिक प्रामाण्यवादी खोज को नींव डाली थी कारण को ज्ञेय *वस्तु की सार्वभौम विशेषता बतलाता था। हम किसी वस्तु* को अन्य वस्तुओं से पृथक जान सकने की क्षमता नहीं रखते; ज्ञान की क्रिया ज्ञेय वस्तु का अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध जानने पर ही सम्भव होती है। कोई वस्तु अपने कारण सम्बन्ध द्वारा ही ज्ञेय बनती है। कार्य-कारण प्रसंग के बाहर वस्तुएँ ज्ञेय नहीं बनतीं। उनका कार्य कारण सम्बन्ध ज्ञात हो सकता है, या उसका अनुमान किया जा सकता है, या उसको मान लिया जाता है। कारण के बिना 'क्यों ?' प्रश्न सार्थक नहीं रहता। ज्ञान मनस् की क्रिया के बिना नहीं हो सकता और मनस की क्रिया में कोई वस्तु ज्ञेय *तभी* बन पाती है जब उसका दूसरी वस्तुओं से कारण सम्बन्ध पता चल *जाय। मानवी ज्ञान का यही सार्वभौम लक्षण विज्ञान को सम्भव बनाता* है। हमें चाहे किसी वस्तु का कारण न मालूम हो किन्तु कारण में

विश्वास रखने से ही हम उस वस्तु का कारण जानने की चेष्टा करते हैं।

कांट की युक्ति कारण के अर्थ पर आलोचनात्मक प्रवृत्ति रखने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। यह प्रागनुभव युक्ति का एक संशोधित रूप है। ज्ञेय बन सकने के लिए वस्तुओं में आवश्यक रूप से कुछ विशेषताएँ होनी चाहिए, चाहे वस्तुओं की अपनी विशेषताएँ कुछ भी क्यों न हों। अपनी पुस्तक "ए ट्रीटिस आव ह्यूमन नेचर" में ह्यूम ने कहा था कि हर वस्तु का कारण मानने से हम यह भी मान लेते हैं कि वह वस्तु किसी अन्य वस्तु से अनिवार्यतः अनुसरित होती है। चूँकि हम अपने अनुभवों को ही जान सकते हैं और अनिवार्यता अनुभवगत नहीं है इसलिये हम वस्तुओं का अनिवार्य सम्बन्ध कभी नहीं जान सकते। ह्यूम इससे एक सन्देहात्मक निष्कर्ष पर पहुँचा। जहाँ तक वस्तुओं के स्वलक्षण का प्रश्न है वहाँ तक कांट ने ह्यूम के सन्देहवाद को स्वीकार किया किंतु उसने ह्यूम को यह चुनौती दी कि वस्तुओं के स्वभाव और उनके कारण सम्बन्ध पर वाद विवाद करना उनके स्वलक्षण पर विचार करना नहीं है। अनुभव में हम किसी वस्तु को बाह्य जगत से ग्रहण मात्र ही नहीं करते; अनुभव सक्रिय होता है और ग्रहण की हुई वस्तु को सार्थक और सविशेष बनाता है। ज्ञात होने पर, कांट की युक्ति है, ज्ञेय पदार्थ में एक प्रागनुभव तत्त्व (a priori element) आ जाता है जो ज्ञान की क्रिया के समय ज्ञाता से मिलता है और जिसे हम बाह्य जगत कहते हैं उसे ज्ञेय होने के नाते अपना अनुभव करने वाले मनस् की सामान्य विशेषताओं के अनुरूप होना चाहिये।

कांट का मुख्य दोष उसकी कट्टर मनोविज्ञानीय मान्यताओं में है। कांट स्वयं विश्वास करता था कि उसकी खोज का विषय मनोविज्ञान के क्षेत्र में आने वाली अनुभवगत सामग्री नहीं है, किंतु फिर भी उसने मनोवैज्ञानीय क्षेत्र में एक मान्यता मानी है। जब वह कहता है कि "बुद्धि का अपना नियम होता है" तब वह यह मान लेता है (जो 'क्रिटीक' के बाद के पृष्ठों में बहुत स्पष्ट है) कि सब लोगों की बुद्धि

अपने स्वभाव के कारण उस 'नियम' को मानने पर बाध्य है, और सब लोगों की बुद्धि कार्यकारण सम्बन्ध के बिना किसी वस्तु को ज्ञेय नहीं बना सकती। किंतु यह मनोविज्ञानीय मान्यता एक तथ्य विषयक मान्यता है[1] जिसका सच होना या न होना प्रमाण मिलने पर ही निर्धारित किया जा सकता है। प्रमाण से तो यही पता चलता है कि यद्यपि सब लोग एक हद तक कारण-प्रसंग में ही चिंतन करते हैं किंतु कुछ लोगों को कारण रहित किसी वस्तु या घटना के हो सकने की संभावना में कोई कठिनाई नहीं होती। अरस्तू, एपीक्यूरस, ह्यूम, रेनोवीर, बर्गसाँ, जेम्स और ह्वाइटहेड ऐसी संभावना सोच सकते थे; स्टोइक लोग, देकार्त के अनुयायी, बार्कले और कांट नहीं। कारणात्मक संकल्पवाद (Causal determinism) के प्रति जब इन मनोविज्ञानीय व्यक्तिगत अन्तरों को मान लिया जाता है तो प्रामाण्यवादी युक्ति से कोई निरपेक्ष निष्कर्ष नहीं निकलता : हम यही कह सकते हैं कि जो लोग कारण-प्रसंग के बिना वस्तुओं का ज्ञान नहीं कर सकते उनके लिए कारण सम्बन्ध हरेक वस्तु की सार्वभौम विशेषता है और कारणात्मक संकल्पवाद उन्हीं के लिए अनिवार्यतः सत्य है।

कारणात्मक संकल्पवाद के लिए प्रामाण्यवादी युक्ति का एक संशोधित रूप लगने वाली युक्ति एक आधुनिक दार्शनिक ने यों दी है :

> यदि एकरूपता (uniformity) को केवल आंशिकतः ही स्वीकार किया जाय तो मेरी दृष्टि में हम अपने दैनिक कामों

---

[1] एक भेद करना आवश्यक है। यदि मनोविज्ञानीय मान्यता सही हो तो 'हर घटना का पर्याप्त कारण होता है' यह प्रतिज्ञा कांट के अनुसार प्रागनुभव प्रतिज्ञा हो जायगी। किंतु मनोविज्ञानीय मान्यता (कि कारण के बिना किसी पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता की धारणा नहीं की जा सकती) स्वयं मानवी मानसिक प्रवृत्तियों का वर्णन है और इसलिए वह प्रागनुभव न होकर 'वर्णनात्मक' या 'तथ्यगत' ही है।

को उस बौद्धिक विश्वास के साथ नहीं कर सकते जिसका लाभ हम अपनी आवश्यकताओं और प्रयोजनों में उठाते हैं। इस नई मान्यता के अनुसार हमारे तथ्यों में एक अनिश्चितता और विच्छृङ्खलता आ जायगी। एक हद तक किसी समय कुछ भी घट सकने की सम्भावना हो जायगी......अनुभव की आधारभूत तार्किकता का विरोध करने पर हमें प्रकृति के अत्यन्त बेतुकेपन पर, गाय के चाँद पर कूदने पर, ऊँट के सुई की नोंक से निकल जाने आदि पर आश्चर्य करने का कोई अधिकार नहीं रहता।[1]

इस अवतरण की लेखिका कांट के इस दोष को बचा गई है कि प्रकृति की एकरूपता में कोई व्यक्ति सन्देह नहीं कर सकता। लेखिका ने कारणात्मक एकरूपता (Causal uniformity)[2] को चिंतन का अनिवार्य गुण न मानते हुए यही स्वीकार किया है कि यदि भविष्य की घटनाएँ किसी विषयसापेक्ष मानदंड द्वारा संचालित होती हैं तो कारणात्मक एकरूपता अनिवार्य है। उससे इनकार करने पर सामञ्जस्य की जगह विच्छृङ्खलता की ही आशा करना चाहिए।

इस युक्ति पर मुख्य आपत्ति यही हो सकती है कि इसमें एक अपूर्ण पृथक्ता है। इस युक्ति में यह माना गया है कि या तो हर वस्तु को कारण नियम से पूर्वनिर्धारित होना चाहिए या फिर भविष्य के बारे में कोई सार्थक बात नहीं कही जा सकती; दूसरे शब्दों में या तो कोई घटना संयोगवश नहीं होती और या घटनाएँ संयोगाश्रित ही होती हैं। कारण-

---

1 मेरी कोव्हिन्स स्वाबी, लॉजिक ऍड नेचर, पृ० ७५-७६ (न्यूयार्क यूनिवर्सिटी प्रेस)

2 कारणात्मक एकरूपता का अर्थ यह है कि कारण के एक निश्चित परिमाण से हर समय कार्य का एक निश्चित परिमाण उत्पन्न होना चाहिए और कार्य के किसी निश्चित परिमाण को सदा उसी निश्चित परिमाण के कारण का परिणाम होना चाहिए।

मक संकल्पवादी इस युक्ति के पहले पक्ष को मानते हैं क्योंकि दूसरे पक्ष
ही नहीं माना जा सकता। किंतु इन दोनों पक्षों के बीच के मार्ग को भी
वीकार किया जा सकता है और अरस्तू, रीड, बूनों, ह्वाइटहेड आदि
भूत दार्शनिकों ने ऐसा ही किया है। कारण में विश्वास न करने पर भी
र्वकथन कर सकने की उपपत्ति (Probability) रहती है। घटनाएँ
दि एक बड़ी संख्या में अनुमानित पूर्वकथनीयता के अनुसार हो सकतीं
तो उपपत्ति के आधार पर विज्ञान का निर्माण किया जा सकता है;
ौर हर अनुभवाश्रित विज्ञान उपपत्ति विज्ञान ही है।

अनिर्धार्यवाद और विज्ञान की मान्यताएँ

कारणात्मक अनिर्धार्यवाद (causal indeterminism) तार्किक
ष्टि से कारणात्मक संकल्पवाद का प्रतियोगी है। अनिर्धार्यवाद के
नुसार विश्व में कुछ घटनाएँ संयोगवश होती रहती हैं। इस मत को
ह सीमा तक ही गम्भीरता से स्वीकार किया जा सकता है। प्राकृतिक
रूपता के ऊपर आधारित विज्ञानीय ज्ञान इस बात का प्रमाण है कि
घटनाएँ संयोगाश्रित नहीं होतीं। शायद हम यह भी कह सकते हैं
कोई घटना पूरी तरह से संयोगाश्रित नहीं होती। अनिर्धार्यवाद इतना
मान सकता है कि कुछ घटनाओं के कुछ पहलू संयोगवश हो सकते
अरस्तू विश्व में संयोग की उपस्थिति को इसी अर्थ में मानता था।
कहता है कि "हर घटना की न केवल घटित होने के समय और
के 'होने' की वरन् उसके गुणात्मक परिवर्तनों की भी जिसमें से अनेक
साथ ही घटित हो सकते हैं व्याख्या करने के लिए किसी सिद्धान्त
मानना अनर्गल है।"[1]

पहले के अवतरण में कारणात्मक संकल्पवाद के खण्डन में दिए
तार्किक और विज्ञानीय 'प्रमाण' अनिर्धार्यवाद को प्रागनुभव संभावना

---

1 फ़िज़िक्स, पु० १, अ० ३

को ही स्थापित करते हैं। प्रागनुभव प्रदर्शन द्वारा किसी घटना की असम्भावना का खण्डन करके उसकी सम्भावना ही स्थापित की जा सकती है, उसकी वास्तविकता नहीं। निरपेक्ष अनिवार्यता या निरपेक्ष असम्भावना को स्वीकार करना द्वन्द्वात्मक तरीके से खण्डित की जा सकने वाली एक रूढ़ प्रवृत्ति है। संभावना को स्वीकार करना रूढ़ नहीं है। किसी घटना का किसी और तरह से हो सकना स्वीकार करना बौद्धिक प्रवृत्ति है। गाय चाँद पर कूद सकती है, ऊँट सुई की नोंक से निकल सकता है किंतु ऐसा होना बहुत ही असंभव है। जब तक हर बात की उपपत्ति की परीक्षा न कर ली जाय उसको संभाव्य मानने मात्र से ही ज्ञान तक नहीं पहुँचा जा सकता।

क्या विज्ञान कारणात्मक संकल्पवाद की उपपयता स्थापित करता है? केवल एक बहुत विशिष्ट अर्थ में ही। विज्ञानीय प्रणाली में किसी सामान्य नियम द्वारा एक विशिष्ट बात को अन्य विशिष्ट बातों से सम्बन्धित किया जाता है। भौतिक विज्ञान, खगोल विज्ञान और रसायन में प्रयुक्त होने वाला यह आदर्श उनको अमूर्त (abstract) बना देता है और वे मानवी अनुभव से दूर हो जाते हैं। विज्ञान की मान्यता किसी तथ्य का विवरण नहीं होती, वह केवल खोज विषयक होती है जिससे आगे खोज करने की उत्तेजना मिलती है। एक विशिष्ट बात को दूसरी विशिष्ट बात से सामान्य नियम द्वारा सम्बन्धित करने की व्यावहारिक आवश्यकता से अपचयित न हो सकने वाले विज्ञान हर विशिष्ट बात के मूर्त (concrete) और परिचित अर्थ को नष्ट कर देते हैं।

स्वतंत्र वरण का समर्थन

विश्व के पूरी तरह पूर्वनिर्धारित न हो सकने की सम्भावना चेतन प्राणियों के स्वतंत्र वरण कर सकने को मानने वाले स्वतंत्रतावाद के प्रति प्रागनुभव आपत्ति का निराकरण कर देती है। स्वतंत्र वरण के लिए द्वन्द्वात्मक प्रमाण नहीं दिया जा सकता; वह गम्भीर नैतिक स्थिति में पड़ने पर ही हाथ आता है। स्वतंत्र वरण बहुत हद तक विश्वास करने की

इच्छा पर निर्भर होता है। विलियम जेम्स का कहना था कि "इच्छा-स्वातंत्र्य का मेरा पहला काम इच्छा-स्वातंत्र्य में विश्वास करना होगा।"[1] इच्छा-स्वातंत्र्य (free will) में विश्वास करना वरणीय विकल्पों की नैतिक माँग को वर्णन करने का सबसे अच्छा व्यावहारिक ढंग है। स्वतन्त्रता में विश्वास करने वाला व्यक्ति अपने कर्मों से आगे ज्यादा स्वतन्त्रता पा सकता है जो उसे विश्वास न करने पर नहीं मिल सकती। होनेवाले नैतिक कर्त्ता के लिए यह एक अच्छी काम चलाऊ मान्यता है। वरण की स्वतन्त्रता का सबसे पक्का प्रमाण यही है कि मनुष्य उसमें विश्वास रखकर दैनिक कर्मों में उसका समर्थन करता है।

३ आदर्श और विश्वास

नैतिक चिंतन में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से निहित और हर नैतिक सिद्धान्त द्वारा पहले से ही मान ली जाने वाली नैतिक मान्यताओं के अतिरिक्त नीतिशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विश्वास भी होते हैं। उनमें से सबसे प्रमुख ईश्वर और इतिहास के किसी सार्थक प्रतिरूप (pattern) में विश्वास रखना है। इन विश्वासों की नैतिक सिद्धान्तों में कोई द्वन्द्वात्मक अनिवार्यता नहीं है। नास्तिक होने और अच्छा जीवन बिताने या ऐतिहासिक निराशावादी होने और अच्छा जीवन बिताने में कोई तार्किक बाध नहीं है। उनकी प्रतिद्वन्द्विता सामान्य दृष्टिकोण का परिणाम होती है जो कुछ विचारकों में औरों से अधिक होती है। फिर भी मूल्यों और विश्व में मूल्यों के परम स्थान में मनुष्यों की रुचि उनकी बौद्धिक उत्सुकता से मिलकर ईश्वर और मनुष्य के भाग्य इन प्रश्नों को बड़ा महत्त्वपूर्ण बना देती है।

ईश्वर में विश्वास

ईश्वर की सत्ता सिद्ध किसी भी प्रमाण में तार्किक बाध्यता नहीं

---

१ वही, जि० १, पृ० १९०

की सन्देहवादी प्रवृत्ति रखने वाले मनुष्य को ईश्वर की सत्ता का
ी प्रमाण सन्तुष्ट नहीं कर सकता। यह प्रश्न दो बौद्धिक सिद्धान्तों
होकर विश्व के प्रति एक साथ ही बौद्धिक और संचारी भावात्मक
तान्त विरोधी प्रवृत्तियों का है। एक ओर फोन हिगेल द्वारा अभि-
प्रवृत्ति है :

> ईश्वर में विश्वास करना कितना सुखकर, कितना आनन्द-दायक होता है, ऐसे ईश्वर में जिसका निर्माण मनुष्य के चिंतन मात्र से नहीं होता, जो किसी सिद्धान्त या मान्यता का हस्तलाघव नहीं होता, जो किसी जाति विशेष हिन्दू, मुसलमान या ईसाई का नहीं होता। वह हमारे चारों ओर फैली वायु से, फूलों के पराग से, उड़ती हुई चिड़ियों से कहीं असीम रूप में वास्तविक होता है। हमारे जीवन के कष्ट और कठिनाइयाँ और छोटी-छोटी आवश्यकताएँ ऐसे प्राणियों से उत्तेजित और समृद्ध होती रहती हैं जो हमसे बिल्कुल विभिन्न होते हैं और जो हमारे चारों ओर सदा रहते हैं। हमें जगत की समृद्धि और विभिन्नता का ही यकीन नहीं होता वरन् इस सारी विभिन्नता के पीछे उस सर्वोपरि, एक और सामञ्जस्यपूर्ण, दृढ़ और स्वतः ईश्वर का यकीन होता है जो एकमात्र सत्य है।[1]

इन शब्दों में ऐसे मनुष्य की आस्था की अभिव्यक्ति है जिसके लिए धर्म सिद्धान्त मात्र न होकर जीवनयापन की एक विधि है और जिसकी नैतिक चेतनता विश्व की उस चेतनता से एकाकार है जिसका वह अंश है। इस प्रवृत्ति के विरोध में उमर खैय्याम की एक रुबाई में अभिव्यक्त यह अनिश्चयवाद (agnosticism) है :

---

1 एवेलिन अंडर हिल द्वारा अपने निबन्ध में उद्धृत, 'फाइनाइट एंड इनफाइनाइट', दि काइटीरियन, जनवरी १९३२

अरे आया क्यों जग के बीच ! कहाँ से तृण-सा मुझको तोड़,
बहा लाई है कोई धार, गई जो जगती-तट पर छोड़;
जगत क्यों देना होगा छोड़ ! कहाँ को, रज कण मुझको जान,
उड़ा ले जायगा दिन एक किसी मरु का पवमान महान्[1] ।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने इस अनिश्चयवाद को अधिक प्रबन्धात्मक ढंग से वर्णित किया है :

> मनुष्य उन कारणों से उत्पन्न होता है जिन्हें अपने प्राप्त कर सकने वाले लक्ष्य का पूर्वज्ञान नहीं होता; मनुष्य का उद्भव, उसकी वृद्धि, उसकी आशाएँ, उसके प्रेम और उसके विश्वास परमाणुओं के स्कन्ध के आकस्मिक परिणाम ही होते हैं; कोई आग, कोई वीरता, चिंतन और अनुभूति की कोई तीव्रता मनुष्य के जीवन को कब्र में जाने के बाद रक्षा नहीं कर सकती; शतियों की मेहनत, सारी भक्ति, सारी प्रेरणाएँ, मध्याह्न की तरह चमकदार सारी मानवी प्रतिभा सौर मंडल की भीमकाय मृत्यु के गाल में विलीन हो जायगी और मनुष्य की सफलता और सम्प्राप्ति का पूरा मन्दिर भाग्यवश विश्व के भग्नावशेष में सो जायगा—इन बातों पर चाहे वाद विवाद हो सके किंतु ये इतनी निश्चित सी हैं कि उनको अस्वीकार करने वाले दर्शन को बालू की भीत पर खड़ा समझना चाहिए। सत्य की केवल इन्हीं सीमाओं के अन्दर, निराशा की केवल दृढ़ नींव पर ही आत्मा के रहने की सुरक्षित जगह बनाई जा सकती है।[2]

जगत-विषयक इन दो विरोधी अवधारणाओं पर दर्शन का क्या कहना है? इसका उत्तर दुपक्षी है। निषेधात्मक पक्ष में द्वन्द्वात्मक होने के नाते

---

[1] बच्चन कृत अनुवाद ।

[2] बर्ट्रेन्ड रसेल, *मिस्टीसिज़्म एंड लॉजिक*, तृतीय निबन्ध, ए फ्री मैन्स वर्शिप

ा काम सत्य के लक्षण बताने वाले प्रमाणों को स्थापित करना , वरन् सत्य के प्रति किसी भावात्मक, रूढ़ दृष्टिकोण की सीमाएँ है। ईश्वर की सत्ता द्वन्द्वात्मक तरीके से सिद्ध नहीं की जा सकती उसकी असत्ता का द्वन्द्वात्मक खण्डन किया जा सकता है। विज्ञानों भाव और प्रणाली की परीक्षा करने पर हमें यह पता चल जाता यदि ईश्वर की सत्ता हो भी तो विज्ञान अपने स्वभाव और प्रणाली रण उसकी सत्ता का प्रमाण दे सकने में असमर्थ रहेगा।

इसको एक मानवी साधर्म्य से स्पष्ट किया जा सकता है। लोगों को कभी चेतन अनुभूति होती है इसलिए चेतन अनुभूति की सत्ता होती ौर उसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। किंतु विज्ञान के लिए यह त अनुभूति विज्ञानीय प्रणाली के क्षेत्र में अन्तर्गत न आ सकने के ए खोज का विषय नहीं है। विज्ञानीय प्रणाली का उपयोजन मनो-ान में करने से आचरणवाद (behaviourism) में चेतन अनुभूति सत्ता नहीं मानी जाती। जानने के हर साधन की भाँति विज्ञान भी पनी मान्यताओं के अनुसार अपना विषय चुनता है। विज्ञान के विषय विषयसापेक्ष और सार्वजनिक होना चाहिए। ईश्वर की सत्ता की नुभूति घास की हरियाली और बादलों के गर्जन की भाँति सार्वजनिक हीं है और प्रयोगशाला में उसकी परीक्षा नहीं हो सकती। विज्ञानीय मनोविज्ञान भी जब मनुष्य की धार्मिकता का अध्ययन करता है तो वह भी उसके बाह्य आचरण में व्यक्त होने वाले मनोभौतिक सार्वजनिक तत्वों पर ही विचार करता है। विज्ञान संयम और साधना से प्राप्त होने वाले धार्मिक सत्य ज्ञान की उपेक्षा करता है क्योंकि वे सार्वजनिक नहीं होते और विज्ञान के लिए सार्वजनिकता वास्तविकता और सत्य की एक आवश्यक शर्त है। विज्ञान उसी बात को सत्य मानता है जिसकी (१) सब लोग परीक्षा कर सकें और जो (२) विज्ञान के सार्वजनिक क्षेत्र के अन्दर आ सके।

व्यावहारिक सफलता के कारण अनुभवाश्रित विज्ञान की इस मान्यता

को स्वीकार किया जा सकता है किन्तु उसको सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह मानने में कोई तार्किक बाध नहीं है कि सत्य अपना स्वरूप कुछ चुने हुए लोगों पर ही प्रकट करता है। सत्य का यह दृष्टिकोण आज के प्रचलित सत्य के दृष्टिकोण से बहुत पुराना है।

एक आख्यायिका

जगत से असम्बद्ध एक द्वीप पर मनुष्यों का एक ऐसा समाज रहता था जो किसी समय संगीत के बड़े प्रेमी रहे थे किन्तु कुछ कारणवश धीरे-धीरे सुनने की शक्ति खो बैठे थे। इतने में एक दिन अपने बनाये मन्दिरों में आकर संगीत सुधा का पान करना उनके जीवन की एक आवश्यक चर्या थी। संगीत उनके लिये पूजा की भाँति था और उनके मानवी अनुभव का बड़ा उन्नत रूप था। सुनने की शक्ति के क्षीण हो जाने पर भी संगीत समारोह के प्रति पड़ी हुई उनकी आदतों में कोई अन्तर नहीं आया था। रूढ़िवादी लोग मन्दिरों में जाकर अपनी परम्परा को निभाते और गाते रहे यद्यपि अब संगीत के स्वर उनको सुनाई नहीं पड़ते थे। बाद की पीढ़ियाँ उनके इस निरुद्देश्य अन्धविश्वास के प्रति सशंक होकर उसका विरोध करने लगीं। उन्होंने इस निरर्थक प्रथा को तोड़ने की दिशा में कदम उठाया और बहुत से लोग उनके अनुयायी बन गये। कुछ लोग निष्क्रिय रूप से तटस्थ बने रहे। अब मन्दिरों में वही लोग जाते थे जो या तो बुद्धि कम रखने के कारण पुरानी प्रथा को अपनाये हुये थे या जिनकी रोज़ी उसी प्रथा से चलती थी या जो लोग अब भी थोड़ा बहुत सुन सकते थे। ऐसे लोगों को रहस्यवादी कहा जाने लगा और उनका मज़ाक उड़ाया जाने लगा। मनोवैज्ञानिकों ने उनके भ्रम के कारणों का उद्घाटन करने में सिद्धान्त पर सिद्धान्त बना डाले। प्रजातंत्रीय भावनाओं के कारण लोगों ने रहस्यवादियों का कथन न मानकर उन्हें इस अन्धविश्वास का प्रतीक समझ कर

रहने दिया जिससे सारे नागरिक बच गये थे। इन सब बातों को सामाजिक और बौद्धिक उन्नति का प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया। कोई-कोई रंगीन प्रेमी वाद विवाद करते समय अब भी यह कह देता था: "हम लोग धोखे में नहीं हैं, धोखे में तुम हो जो बहरे हो!"[1]

आध्यात्मिकाएँ कुछ सिद्ध नहीं करतीं किन्तु ये भूली हुई संभावनाओं को याद दिला सकती हैं। मनुष्य, इतिहास और प्रकृति की ऐहिक (secular) व्याख्या मनुष्य के अनुभवों से मेल नहीं खाती। ऐहिकता शुद्ध तथ्यों के कुछ प्रकारों को अस्वीकार करने की अभिव्यक्ति है। सबसे मौलिक तथ्य धार्मिक तथ्य है जिसके अनुसार हमारे अन्दर व्यक्तिगत और सामूहिक अन्तःप्रेरणाओं और स्वार्थों के अतिरिक्त नैतिकता की एक ऊँची आवाज की भी प्रामाणिक सत्ता होती है जिसका निनाद हमारे सदसद्विवेक, हमारी समर्पित प्रतिभा और जीवन परम्परा के प्रवाह में होता रहता है। इस तरह से मनुष्य को कुछ प्रामाणिक मापदंड मिलते रहते हैं, चाहे वे ऐहिक या अस्पष्ट क्यों न हों किन्तु जहाँ तक उनका आधार स्पष्ट होता है वहाँ तक वे निरपेक्ष रूप से प्रामाणिक होते हैं। सदसद्विवेक में, जब उसे निष्पक्षात्मक रूप से सुना जाय, क्या प्रामाणिकता नहीं होती? मानवी दुर्बलतावश हम कोई गलत काम कर सकते हैं किन्तु हमारे अन्दर का साक्षी हमारे काम की गलती को देखता रहता है। क्या सदसद्विवेक मानवी उपज ही है और फिर भी सार्वभौम है? क्या प्रेमभाव की सत्ता एक निरपेक्ष रूप से सम्बन्धित न होकर व्यक्तिगत मानसी भावात्मक अवस्था की दीप्ति मात्र ही होता है? प्रत्युत कुछ के सापेक्षतात्मक दृष्टिकोण से इस शंका का दर्शन हो किया जा सकता है, इसका समाधान नहीं। इसका समाधान मनुष्यों के निरपेक्ष अनुभव, सच्ची

१. 'दि डेक्लाइन आव् मैकेनिज़्म' नामक सी० जोड के लेख से उद्धृत, 'दि केम्ब्रिज रिव्यू', १९३३।

होती रहने वाली अन्तर्दृष्टि और स्पष्ट चिंतन में अविच्छिन्नता के साथ होता रहता है। उस समाधान के एक वैकल्पिक पक्ष के रूप में यहाँ यही कहा जा सकता है कि मनुष्य की आध्यात्मिक अनुभूति उसके मानसिक जीवन के साथ प्रारम्भ और समाप्त हो जाने वाला विषयसापेक्ष भ्रम न हो कर किसी दिव्य शक्ति से उसके मौलिक सम्बन्ध का प्रमाण है।

क्या इतिहास का कोई प्रतिरूप होता है ?

नैतिक दर्शन और नैतिक निर्णय से सम्बन्धित एक दूसरा अतिशय विश्वास इतिहास के रूप का है। मनुष्यों के सामूहिक और प्रायः विपत्तिकारी वरण करने का क्या नतीजा होता है ? इतिहास की गतिविधि में क्या कोई प्रतिरूप (pattern) होता है ?

इस प्रश्न का पिछली दो शतियों से मान्य उत्तर ऐतिहासिक उन्नति के सिद्धान्त में है। पुरानी पीढ़ियों के नैतिक प्रयत्नों के कारण मानव जाति आदिम काल से उन्नति की उस अवस्था तक आ चुकी है जिसमें हम रह रहे हैं और हमारे आज के नैतिक प्रयत्नों से भविष्य में मानव जाति की उत्तरोत्तर उन्नति होती जायगी। इस विश्वास के अनेक रूप हैं। पूँजीवाद की हामी भरने वाले भविष्य में प्राकृतिक साधनों के असीमित विकास की भविष्यवाणी करते हैं जिससे मनुष्य की आर्थिक समृद्धि बढ़ जायगी; मध्यम मार्ग पर चलने वाले उदारवादी शिक्षा की विकासीय प्रणालियों द्वारा मनुष्य की सामाजिक बौद्धिकता और संस्थाओं के क्रमिक विकास का स्वप्न देखते हैं और साम्यवादी एक सुन्दर भविष्य की आशा के लिए वर्तमान तानाशाही को समर्थनीय सिद्ध करते हैं। प्रत्यक्षवाद (Positivism) का जन्मदाता काम्ट आरम्भ की ऐतिहासिक उन्नति को अन्धविश्वास और जीवन की धार्मिक धारणा से विज्ञान प्रतिपादक [illegible] के एक ऐसे युग की ओर उन्मुख मानता था जिसमें विज्ञानमूलक [illegible]। आदर्शवादी (Idealistic) दार्शनिक ऐतिहासिक उन्नति को आध्यात्मिक आत्मचेतन की क्रम अभिव्यक्ति या किसी दिव्य योजना की

ति मानते हैं। हेगेल ऐतिहासिक उन्नति को काल में अनपेक्ष (Absolute) का अनावृत होना समझता था। इन विभिन्न सिद्धान्तों के तात्विक आधार कुछ भी हों किंतु वे ऐतिहासिक उन्नति को 'सदा आगे और ऊपर की ओर' मानते हैं। सामयिक अधःपतन होते रहने पर भी अन्त में सभ्यता की वृद्धि की जीत होना निश्चित है।

उन्नति का सिद्धान्त आधुनिक युग के यांत्रिक विस्तार से और भी न्यायसंगत बन सका है। परिमाणात्मक सम्प्राप्ति की दृष्टि से हमारी सभ्यता अन्य सभ्यताओं से श्रेष्ठ ठहरती है। आज हमारे पास असंख्यक साधन हैं और यदि इस बात की उपेक्षा कर दी जाय कि उन्होंने मानवी जीवन पर कैसा असर डाला है तो हम उन पर अभिमान कर सकते हैं। असख्य यांत्रिक साधन मनुष्य को उथले और सतही सुखों में उलझाए हुए हैं और वह आत्मा के गम्भीर और कठिन सुखों से दूर होता जा रहा है।

किसी सभ्यता की परख उसकी वास्तविक सम्प्राप्ति के अनुपात से होनी चाहिए—उसने मनुष्यों को कैसा जीवन और क्या अवसर दिए हैं। हमारा अपना अनुपात कम है क्योंकि हमारे अवसर बड़े विस्तृत हैं। शायद किसी और युग ने अपने अवसरों को इस तरह नहीं खोया है। हम अपनी भौतिक शक्ति और समृद्धि से धरती पर स्वर्ग उतार सकते हैं किंतु हमने उनका दुरुपयोग करके गन्दगी को और भी बढ़ा दिया है। हमने वातावरण को दूषित कर डाला है। संसार की आधी से ज्यादा आबादी पर दुख और असन्तोषता की छाया एक काले बादल के समान फैल चुकी है। ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए भी हम उसको मानवी जीवन को सुधारने की ओर नहीं लगाते। सारा संसार आज एक अत्यन्त दुस्सह मनोविज्ञानीय अवस्था से गुजर रहा है और हम धर्म को ताक में रखकर अपने मद में चूर अपनी मानवी भावनाओं को राख की ढेरियों में दबा चुके हैं।

पिछली पीढ़ी से मानवी जाति के भाग्य की उन्नति और विकास का विश्वास टूट चला है। 'ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार और औद्योगिक

भ्राति के फैलने मे उन्नीसवीं शती का आशावाद आज पुराना
है। दो महायुद्धों ने पुरानी आस्था की जगह एक नए सन्देहवाद
कर दिया है। बहुत सी राजनैतिक और औद्योगिक शानों में पुरानी
की धुन अब भी गाई जाती है किंतु वह निःशक्त हो चुकी है। आ
निक दर्शन में उन्नति के रूढ़ विश्वास पर सन्देह और इतिहा
क्रमिक की जगह आंगिक (organic) व्याख्या बहुत लोगों का ध्य
आकृष्ट कर रही है। विश्व इतिहास के विशद अध्ययन से हमारी सभ्य
ने मिलती-जुलती अन्य सभ्यताओं का पता चला है जो उन्नति की पर
काष्ठा तक पहुँच कर सदा के लिए नष्ट हो गईं। इससे यह विश्वास भी
उठ चुका है कि हमारी सभ्यता सदा बनी रहेगी। ओसवाल्ट स्पैंग्लर,
फ्लिन्डर्स पेट्री और आर्नाल्ड टायनबी आदि की खोजों में यह सिद्ध हो
चुका है कि हर संस्कृति और सभ्यता अपनी किशोरावस्था और प्रौढ़-
वस्था में होती हुई एक ऐसी वृद्धावस्था पर पहुँचती है जब उसका अतिशय
विस्तार होता है, उसमें अतिशय भौतिकता आ जाती है और एक दिन
वह जर्जर होकर सदा के लिए नष्ट हो जाती है।

हेनरी ब्राउन ने संकेत किया है कि उन्नति और विकास के नियम
का विरोधिकार (counteraction) सांस्कृतिक एन्ट्रोपी' (cultural
entropy) कहे जाने वाले नियम से रहस्यमय ढंग से होता रहता है।
एन्ट्रोपी भौतिक विज्ञान का एक नियम है। यदि एक पदार्थ ठंडा हो
और दूसरा गरम तो उन दोनों को सम्पर्क में लाकर पहले को गर्म और
दूसरे को ठंडा किया जा सकता है जब तक उनका तापक्रम तदरूप न हो जाए;
किंतु एक बार ऐसा हो चुकने पर हम व्यापार को उलट नहीं सकता।
पदार्थ को फिर ठंडा और दूसरे को गर्म करने के लिए, उन पदार्थों
में शक्ति नहीं रहती, हाँ बाह्य पदार्थों की सहायता से ऐसा फिर हो
किंतु इस नए व्यापार में तापक्रम फिर तदरूप हो जाएगा। यही

हेनरी ब्राउन, दि डिग्रेडेशन आफ् डिमॉक्रेटिक डॉग्मा

भौतिक घटनाओं पर भी लागू होता है। विश्व की सारी क्रियाएँ विरो
शक्तियों की इसी अन्तर्क्रिया और अन्तर्तटस्थता के कारण सम्भव होतो
और एक बार तटस्थता आ जाने पर उनमें सक्रिय सम्बन्ध नहीं रहता :

भौतिक विज्ञान के इस तथ्य को इतिहास पर लागू करना उ
उचित नहीं है। किंतु उसके लागू हो सकने की सम्भावना है। इस संभाव
की पुष्टि बौद्ध, ताओ और यूनानी विचारधाराओं में मिलती है। :
विचारधाराओं के अनुसार किसी संस्कृति की आध्यात्मिक जीवन-शक्ति
उत्प्रेरित लोगों में जाग्रत होती है; मनुष्य के भाग्य और इतिहास
सार्थकता की ईश्वरीय वाणी उन्हीं के द्वारा अभिव्यक्ति पाती है जि
समाज जाग्रत होकर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है और इस आध्
त्मिक जागरूकता से अपनी संस्थाओं, कलाओं और विज्ञानों को ज
देता है। और जब तक वह समाज अपने भाग्य को श्रेष्ठ और सर्वो
समझता है, जब तक उसकी आध्यात्मिक शक्ति तटस्थता प्राप्त नहीं कर
तब तक वह समाज जीवित रहता है, वर्धमान होता है और उ
करता है।

किंतु फिर उसमें जर्जरता आती है। आदर्श मँहगे होते हैं। उ
शक्ति के तटस्थ न हो सकने तक ही होती है। समय बीतने पर आ
सर्वविदित होने से ऐहिक बन जाते हैं, दर्शनों में उन्हें बौद्धिक रूप
जाता है और उनका भावार्थ नष्ट होने लगता है। आलोचना की कसौ
पर वे खरे नहीं उतर पाते। अब मनुष्य और समाज के भीतर
व्यावहारिक, उपयोगितावादी या सुखवादी आदर्शों की खोज होने ल
है और मानवी उन्नति के नक्शे उनको वास्तविकता के आधार पर ब
लगते हैं। किंतु नक्शों से जीवन का अर्थ नहीं समझा जा सकता।
पर आध्यात्मिक एन्ट्रोपी के नियम की पूरी अभिव्यक्ति हो जाती है।
मनुष्य को संचालित करने वाले आदर्शों और उसकी आदतों में
सक्रिय प्राणमय भेद नहीं रह जाता। उसके आदर्श उसकी आदत
परिस्थिति का ही परिणाम बन जाते हैं। उसको किसी ऊँचे भाग्य

और खींचने वाला सार्थक भेद नष्ट हो जाता है। अन्त में ऐसे
के समाज को नई शक्तियों की चुनौती के दबाव के सामने झुकना पड़

अनेक धर्मों में इस बात का संकेत मिलता है कि मानवी संस्कृ
स्व-धारित नहीं होती। वे दिव्य शक्ति से जीवित रहती है। बौद्ध नि
धारा में बताया गया है कि लगभग हर पाँच हजार वर्ष बाद मनुष्यों
जाग्रत करके उन्हें सही मार्ग पर लाने के लिए बुद्ध का आविर्भाव होत
है। समय बीतने पर लोग बुद्ध की शिक्षाओं को भूलकर संसार के भ्रम
और मोहजाल में पड़ जाते हैं। उस समय कुप्रवृत्तियों से अनामक बुद्ध
लोग बुद्ध के आने की राह देखते हैं और अपने को मन, वचन और
कर्म से पवित्र कर उसके स्वागत की तैयारी करते हैं।

यदि सांस्कृतिक एन्ट्रोपी को स्वीकार कर लिया जाय तो मनुष्य के
लिए उसका क्या अर्थ होगा? क्या वह उस व्यापार का, उस गतिविधि
का शिकार मात्र ही है या उसमें भाग लेने वाला और उसका अनुदाता
है? एक अर्थ में दोनों है; यद्यपि एक सीमा तक वह वरण कर सकने में
स्वतन्त्र है और दायित्व रखता है किंतु इतिहास की भीमकाय पृष्ठभूमि पर
क मनुष्य के प्रयत्न साधारण हैं। मनुष्य मानव जाति का एक छोटा सा
ण है और इतिहास की गतिविधि की शक्तियों के प्रभाव के सामने उसके
ष का प्रभाव अत्यन्त सीमित होता है। इतिहास में भाग लेने वाले की
यन से मनुष्य के अध्ययन में नियतिवाद का व्याख्यात्मक पुट आ
न है। मनुष्य के दो पक्ष हैं—प्राणी और विधाता, अपराधी और
र्त्ता, लहरों पर उछलता हुआ काग का टुकड़ा और समुद्र की छाती
र अपना मार्ग निर्धारित करने वाला जहाज। सांस्कृतिक पतन के
मनुष्य निष्क्रिय होकर ऐतिहासिक परिस्थिति का खिलौना बन
। और इतिहास ने बीसवीं सदी में रहने वाले हम लोगों के लिए
ाँईं बांध दी है। लेकिन हालतें जो कुछ हों फिर भी सर्जकता
िया का केन्द्रीय बिन्दु तो रहा ही है। हम जीवन को उदात्त
न बनाने वाली शक्तियों का पक्ष क्यों न लें और उनमें आस्था

और जहाँ तक हमारी मर्यादा आज्ञा दे उनको विजयी बनाने की ा क्यों न करें। कोई फल न निकलने से हमारे काम बेकार नहीं ायेंगे। इतिहास में नष्ट और पुनरुज्जीवित करने की दोनों शक्तियाँ ी हैं; कभी एक शक्ति का आधिपत्य रहता है और कभी दूसरी का। अच्छी शक्तियों का ह्रास हो रहा हो हमें तब भी अपनी योग्यता के ुसार अपना योग भरसक देना चाहिए; शायद पुनर्शक्तीकरण ऐसे समय ए जब हमें उसकी आशा तक न हो।

परिशिष्ट

पहला अध्याय

गीता का नीतिशास्त्र

१—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भगवद्गीता या गीता महाभारत का एक अंश है। इसमें १८ अध्याय हैं जो महाभारत के भीष्मपर्व में २३ वें से लेकर ४० वें अध्याय तक है। इनकी रचना का समय प्रायः ईसा पूर्व की ५ वी शती माना जाता है यद्यपि परवर्ती कालों में इसमें बहुत से संशोधन-परिवर्धन किये गये। इसके लेखक का नाम व्यास कहा जाता है।

इसकी ऐतिहासिक कथा बहुत छोटी है। कुरुक्षेत्र में कौरव और पाण्डव अपनी सेनाओं को लेकर युद्ध करने के लिये एकत्र हैं। कौरव की ओर से द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सौमदत्ति आदि है। पाण्डवों की ओर से धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज, पुरजित्, कुन्तिभोज, शैव्य, युधामन्यु, उत्तमौजा, अभिमन्यु आदि हैं। अर्जुन पाण्डवों का नेतृत्व कर रहा है। कृष्ण उसके सारथि है। कौरवों का नेता दुर्योधन है। पाण्डवो के भी सम्बन्धी और गुरुजन अधिकांशत: कौरवो की ओर से लड़ने को उद्यत है। लड़ाई के बाजे बज रहे हैं। युद्ध छिड़ने वाला है। पर अर्जुन को विषाद हो गया। उसने देखा कि लड़ाई करने से उसके ही सम्बन्धियों का वध होगा, उसके ही कुल का नाश होगा। अतः उसने सोचा कि चाहे वह मार भले ही डाला जाय पर वह उनको नहीं मारेगा, वह लड़ाई नही करेगा। कृष्ण ने अर्जुन के इस विषाद को अहितकर समझा। अतः उन्होंने उसको तत्वज्ञान धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, नीतिशास्त्र तथा भक्तिशास्त्र के दृष्टिकोणो से समझाया कि लड़ाई करने में ही उसका श्रेय है। अर्जुन ने इस पर अनेक शंकायें कीं और कृष्ण ने उन सबका समाधान किया। कृष्ण ने अपने को पुरुषोत्तम या परमेश्वर घोषित किया। जब उन्होंने देखा कि समझाने पर भी अर्जुन नही मान रहा है, तो उन्होंने उसको अपना विराट् स्वरूप दिखलाया। अर्जुन चकित हो गया। उसकी समझ में सब बातें आ गयीं और उसने कृष्ण से कह दिया—"मेरा मोह नष्ट हो गया। मुझे ज्ञान मिल

गया। अब संशय नहीं रहा। आप जो कह रहे हैं, मैं करूंगा।" बस इतनी ही कथा है। इसके बाद महाभारत का युद्ध शुरू हो गया जो गीता के अनन्तर महाभारत में वर्णि है।

२—नैतिक कथा

बहुत से लोग शंका करते हैं कि युद्धक्षेत्र में गीता का उपदेश देना असमीचीन है। वह अवसर ठीक नहीं है। उस समय, जब कि युद्ध छिड़ने वाला है, इतना लम्बा वाद-विवाद, कृष्ण का तत्वज्ञान, धर्मशास्त्र आदि दृष्टिकोणों से समझाना, व्यावहारिक दृष्टि से असंभव है। पर इन लोगों की शंका निर्मूल है। वे गीता की नैतिक कथा को नही समझ पाते। ऐतिहासिक कथा के बुर्के में नैतिक कथा छिपी है। सभी मनुष्य को अच्छाई-बुराई का ज्ञान रहता है। कोई काम करने से पहले वे उसके फल तथा प्रयोजन पर विचार करते हैं। यदि ये शुभदायक होते हैं, तो वे करते हैं। यदि ये अशुभदायक होते हैं, तो वे नही करते। और यदि कभी वे बिना विचारे कोई ऐसा काम कर बैठते हैं जिसका फल बुरा होता है, तो वे अनुताप या पश्चाताप करते हैं। *बुरे काम का उन्हें बुरा फल भोगना पड़ता है।* इन सबसे बचने के लिये बुद्धिमान मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे सोच-विचार कर काम करें। अर्जुन ने यदि इस प्रकार सोच-विचार कर काम किया, तो वह कहा और कैसे असंभव है? अब बचता है लम्बा उपदेश। क्या इतना लम्बा उपदेश, गीता के कई अध्यायो की सामग्री, उस अवसर के लिये व्यावहारिक दृष्टि से संभव है? इसका उत्तर यह है कि यह लम्बा उपदेश मानसिक सोच-विचार है। यह बाह्य जगत् की घटना नही है। थोड़े समय में ही, चन्द मिनटों में ही हम बहुत-बहुत बातें, आकाश-पाताल की बातें, तमाम दुनिया भर की बातें, सोच-विचार लेते हैं। वस्तुत. अर्जुन का मन भी ऐसे ही सोचता-विचारता है। ऐतिहासिक अर्जुन नैतिक मन है, और ऐतिहासिक कृष्ण विवेक है। ऐतिहासिक कुरुक्षेत्र हमारा व्यक्तित्व है। इस प्रकार ऐतिहासिक घटना नैतिक घटना की मूर्ति है। नैतिक कथा मानसिक विषाद या संशय से आरम्भ होती है। यह मन कई विकल्पों पर दौड़ता रहता है। प्रत्येक की वह मीमांसा करता है। मीमांसा के उपरान्त वह निश्चय करता है। निश्चय के बाद वह दृढ़ संकल्प करता है कि वह अपने निश्चय के अनुसार चलेगा। प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन या प्रतिक्षण यह सब काम करता रहता है। अर्जुन ने भी यही किया। उसके मन में पहले विषाद या मोह आया। दो विकल्प उसके सामने थे—लड़ना और न लड़ना। उसने न लड़ने में ही अपना कल्याण

समभा। लडने में उसने अनिष्ट देखा। पर यह उसका विवेकपूर्ण विचार नही था, वह मुग्ध होकर, विमूढ होकर मोह में पड़ कर ऐसा कर बैठा। कृष्ण ने उसको सुभाया कि लड़ने में ही उसका हित है। लड़ना कर्म है, न लड़ना अकर्म। अकर्म से कर्म अच्छा है। पर लड़ने से क्या हिंसा नही होती? हिंसा क्या पाप नही है? इन प्रश्नों की समीक्षा तथा मीमासा के फलस्वरूप गीता में तत्वज्ञान (ज्ञानयोग) और कर्मशास्त्र (कर्मयोग) तथा भक्ति-शास्त्र (भक्ति योग) पर विचार हुआ। ये सब मानसिक घटनायें हैं जिनका बाहरी समय-प्रवाह से सम्बन्ध नही है।

३—नैतिक समस्या

उपरोक्त नैतिक कथा मानव की नैतिक समस्या का इतिहास है। *नैतिक समस्या के तीन अंग है, ज्ञान की समस्या, आचरण की समस्या और श्रद्धा की समस्या।*

३-(क) ज्ञान की समस्या—प्रत्येक मनुष्य को अच्छाई और बुराई का या अच्छे-बुरे कामो का कुछ ज्ञान रहता है। पर यह अस्पष्ट और अपूर्ण है। कोई साधारण मनुष्य अपने इस ज्ञान को प्रमाणित नही कर सकता। बुद्धिमान मनुष्य कोई काम करने के पूर्व अच्छाई और बुराई का सच्चा ज्ञान प्राप्त करते है। अच्छाई और बुराई को सच्चे ढग से जानने पर ही सत्कर्म किये जा सकते हैं। इनको जानना ही ज्ञान की समस्या है। अर्जुन को यह ज्ञान नही है। इसीलिये वह कृष्ण से पूछता है—

मैं नही जानता कि मेरे लिये लडना श्रेयस्कर है या न लड़ना। मैं यह भी नही जानता कि हमारी विजय श्रेयस्कर है या शत्रुओ की। ...... जो श्रेयस्कर हो, हे कृष्ण! मुझे बताइये (२।६-७)।*

कृष्ण ने इस समस्या को और भी विशद किया—

क्या कर्म है? क्या अकर्म है? इसको विद्वान भी नही जानते है। कर्म जान कर ही अशुभ से छुटकारा मिल सकता है। कर्म को तो जानना ही चाहिये, साथ ही इसको अच्छी तरह से जानने के लिये विकर्म और अकर्म को भी जानना चाहिये। कर्म, विकर्म तथा अकर्म को जानना कठिन है (४।१६-१७)।

३-(ख) आचरण की समस्या—भले-बुरे का सच्चा ज्ञान हो जाने पर भी सत्कर्म की ओर प्रवृत्ति नही होती और असत्कर्म से निवृत्ति नही

*यहाँ २।६-७ से गीता के दूसरे अध्याय के छठे और सातवें श्लोक से मतलब है। इस अध्याय में गीता के श्लोकों का ऐसा ही निर्देश किया जायगा।

आती। कोई मनुष्य कह सकता हूँ—मैं धर्म (कर्त्तव्य) जानता हूँ। पर उसको करने की इच्छा नहीं होती। मैं अधर्म (अकर्त्तव्य) भी जानता हूँ। और बड़े मजे की बात तो यह है कि अधर्म जानते हुए भी मैं उसे करता हूँ।

कोरा ज्ञान व्यर्थ है। ज्ञान रखने पर भी उस पर न आचरण करना प्रतारणा है। अच्छा आचरण करते हुए भी अच्छाई और बुराई का ज्ञान न रखना, मन को दुरस्त न करना, मिथ्याचार या पाखण्ड है। ज्ञान के अनुकूल आचरण होना चाहिए। आचरण के अनुकूल ज्ञान होना चाहिए। तभी नैतिक जीवन की समस्या का हल होता है।

अर्जुन को तत्वज्ञान समझ लेने पर भी, सत्कर्म और असत्कर्म को जान लेने पर भी, उसके अनुकूल आचरण करने में कठिनाई का अनुभव हुआ। इसलिये उसने पूछा—

न चाहते हुए भी बलात् किससे प्रेरित होकर मनुष्य पाप-कर्म करता (३।३६) ?

३–(ग) श्रद्धा की समस्या—अब मान लीजिये कि किसी व्यक्ति को अच्छाई-बुराई का ठीक ज्ञान हो गया और वह विधिपूर्वक उसके अनुकूल आचरण करने लगा। क्या नैतिक जीवन की समस्या पूर्णतया हल हो गई ? नहीं, नैतिक समस्या का पूर्ण समाधान तब होगा, जब मनुष्य को ऐसा आचरण करते हुए अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाय। यह चरम लक्ष्य निःश्रेयस है जो दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है। आचरण और निःश्रेयस–प्राप्ति के बीच मनुष्य की विचित्र स्थिति रहती है। आचरण करने से उसके सामने ज्ञान तथा आचरण की समस्यायें नहीं है। पर उसको अभी अपना लक्ष्य नहीं मिला। उसकी साधना से उसको अपना लक्ष्य मिलेगा या नहीं ? यदि संयोगवश साधना में विघ्न हो जायं, तो उसको सिद्धि मिलेगी या नहीं ? उसकी तब क्या गति होगी ? लक्ष्य प्राप्ति न होने से हो सकता है कि ज्ञान तथा आचरण की समस्यायें पुनः जग पड़ें। इस प्रकार जब तक साधना और निःश्रेयस में श्रद्धा या विश्वास न हो, तब तक समस्या का पूर्ण हल नहीं हुआ।

जब अर्जुन की ज्ञान तथा आचरण की समस्यायें हल हो गईं, तो उसने इसलिये कृष्ण से पूछा—

साधना से सिद्धि न पाने पर साधक की क्या गति होती है ? क्या भोग और योग दोनों से वह वंचित नहीं होता ? (६।३७–३८).

ग्रौर पूर्ण विश्वास तो ग्रर्जुन को तब होगा जब उसे यह ज्ञात हो जाय कि उसके उपदेष्टा गुरु नि:श्रेयस को प्राप्त कर चुके हैं या कि वे स्वयं परमात्मा हैं जैसा कि उन्होंने ग्रपने को ज्ञान की समस्या के हल के प्रसंग में बतलाया है। इसलिये वह कृष्ण के ऐश्वर्य रूप को देखना चाहता है। बिना ईश्वर का दर्शन प्राप्त किये नैतिक समस्या का हल नहीं हो सकता।

नीति की ये ही तीन समस्यायें हैं। प्रत्येक नीतिशास्त्र में इनका निरूपण ग्रौर समाधान होता है। गीता ने भी इनका सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है। ग्रतः गीता में सुन्दर नीतिशास्त्र का विधान है।

४—ज्ञान की समस्या का हल : तत्वज्ञान

जो भी मनुष्य ग्रच्छाई ग्रौर बुराई के सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा करेगा, उसे सत् तथा ग्रसत् का प्रश्न उठाना पड़ेगा ग्रौर इनकी मीमांसा करनी पड़ेगी। गीता के कृष्ण ने भी सत् क्या है ग्रौर ग्रसत् क्या है ? इसका खूब विचार किया ग्रौर ग्रर्जुन को तत्वज्ञान समझाया ताकि *उसकी समस्या का हल हो जाय। इस प्रकार गीता का नीतिशास्त्र तत्वज्ञान* या तत्वदर्शन पर ग्राधारित है।

संक्षेप में यह तत्वदर्शन यों है। जो सत् है उसका कभी नाश नहीं हो सकता ग्रौर जो ग्रसत् है, उसका कभी ग्रस्तित्व नहीं हो सकता है। सत् ग्रव्यय, ग्रविनाशी ग्रौर नित्य है। यह दो प्रकार का है कूटस्थ नित्य ग्रौर परिणामिनित्य। जिसमें कभी कोई परिवर्तन न हो वह कूटस्थ नित्य है ग्रौर जिसमें सदैव परिवर्तन होते रहें वह परिणामि नित्य है। ग्रब देखना है कि शरीर कैसा सत् है ? निश्चय ही शरीर जन्मशील है, नश्वर है, ग्रनित्य है। ग्रतः यह परिवर्तनशील सत् है। ग्रविनाशी सत् केवल ग्रात्मा है। उसका कभी विनाश नहीं होता। उसे कोई मार नहीं सकता। वह ग्रजर-ग्रमर है। वह ज्ञाता है। उसी को क्षेत्रज्ञ कहते हैं क्यों कि वह क्षेत्र (विषय-पदार्थ) को जानता है। विषय-पदार्थ क्षेत्र है। शरीर भी क्षेत्र है। शरीर नित्य-जात ग्रौर मृत है। जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु निश्चित है। जिसकी मृत्यु होती है, उसका जन्म निश्चित है। संसार की वस्तुग्रो (क्षेत्र) की यही दशा है। वे जन्मती-मरती रहती हैं। शरीर भी वही है। ऐसी वस्तुग्रों के जन्म-मरण को कोई रोक नहीं सकता है। इस प्रकार गीता ने शरीर को सत् तो माना पर यह नित्यपरिणामी सत् है। यह क्षर सत् है। ग्रात्मा ग्रपरिणामी, कूटस्थ तथा ग्रक्षर सत् है। ईश्वर इन दोनों से पृथक् है। मैं दोनों

उसके एकदेश में ही है। वही इनका प्रभव, आधार तथा प्रलय है। वही इनका नियामक है। वही क्षर या क्षेत्र को सदा परिवर्तित करता रहता है। जन्म-मरण, उत्पत्ति तथा विनाश, वस्तुतः रूपान्तरण हैं।

अब इस तत्वदर्शन का नैतिक उपयोग देखिए। अर्जुन मार-काट से डर गया था। वह उसको अशुभ समझता था। पर वह ठीक ज्ञान नहीं था। मरना-मारना तत्वत. वस्तु का रूपान्तर करना है, नाश नहीं। शरीर का मरना या मारना शरीर का रूपान्तर है। यह रूपान्तरण अपरिहार्य और शाश्वत है। अतः अर्जुन यदि न भी मरे-मारे तो भी लोगों के शरीरों का रूपान्तरण होगा ही। आत्मा सबमें अजर-अमर है। उसको अर्जुन क्या, कोई भी, ईश्वर भी, नहीं मार सकता। उसका रूपान्तरण नही होता। अतः अर्जुन को न सोचना चाहिए कि वह आत्मा का वध कर रहा है। ईश्वर या पुरुषोत्तम वस्तुतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में अन्तर्यामी है। वही सबको नियमित करता है। वस्तुतः वही सब कुछ करता है। तत्वतः आत्मा या क्षेत्रज्ञ या पुरुष कुछ नहीं करता। इस प्रकार अर्जुन किसी के शरीर का रूपान्तरण भी नही कर सकता। पुरुषोत्तम ही वह करता है। स्वयं कृष्ण पुरुषोत्तम हैं। मैं ही सबके शरीर का पहले से ही रूपान्तरण कर चुके हैं। अर्जुन को केवल उसका निमित्त बनना है। इस प्रकार समझ कर यदि अर्जुन लड़ता है, तो वह पाप नही करेगा। यदि वह नहीं लड़ता, तो वह पुरुषोत्तम के विधान का, तत्वों के स्वरूप का, उल्लघन करता है। यह अनुचित और अश्रेयस्कर है। आत्मा परमात्मा के कार्यों में निमित्त है। उसके द्वारा परमात्मा क्षेत्रों का रूपान्तरण करवाता है। अतः यह हो नहीं सकता कि अर्जुन यह रूपान्तरण न करे। कुरुक्षेत्र में न सही, कहीं अन्यत्र ही सही, पर वह अवश्य यह करेगा।

सामान्य नीति में इस तत्वदर्शन का उपयोग देखिए—

चूंकि क्षेत्र (क्षर) और अक्षेत्र (अक्षर) पुरुषोत्तम (परमात्मा) के एक देश में हैं। अतः वास्तविक सत् एक परमात्मा ही है जिसके क्षर और अक्षर दो स्वभाव हैं। यह सत् का मुख्य अर्थ है। इसको छोड़ कर सब कुछ असत् है।

गौण रूप से सत् शब्द का अर्थ सच्चाई, अच्छाई और सत्कर्म है। यज्ञनिष्ठा, तपोनिष्ठा, दाननिष्ठा तथा ईश्वर को उद्देश्य करके कर्मनिष्ठा को भी सत् कहते हैं (१७।२६–२७)। कारण, यज्ञ करना, तप करना और [illegible] परमात्मा की सृष्टि के विधान का पालन करना है।

इनसे क्षेत्रों का वितरण और रूपान्तरण होता है जो कि सृष्टि का विधान है। संसार में समस्त जीव-जन्तुओं के पारस्परिक पालन-पोषण के लिये जो कर्म किये जाते हैं वे ही यज्ञ है। मनुष्यों के पारस्परिक पालन-पोषण के लिये जो कर्म किये जाते हैं वे दान है। कूटस्थ आत्मा को प्राप्त करने के लिये जो कर्म किये जाते हैं वे तप है। वास्तव में ये भी परमात्मा को उद्देश्य बना कर किये जाने वाले कर्म है। ये नित्य कर्म हैं। किसी को भी इनसे विरति न लेनी चाहिए। इनकी सिद्धि निसर्गत. है। सृष्टि के ये सिद्धान्त हैं।

असत् की तो तात्विक सत्ता ही नही है। पर नीति में जो यज्ञ, दान तथा तप अश्रद्धा से (अन्यमनस्कता से) किये जाते है, वे असत् कहे जाते हैं (१७।२८), क्योंकि तत्वत. वे भी नही हैं। उनसे उनका फल नही मिलता है।

इस तत्वदर्शन के अनुसार गीता के नीतिशास्त्र की निम्नलिखित चार मान्यतायें हैं:—

१—आत्मा कूटस्थ नित्य या अजर-अमर है।

२—क्षेत्र या भौतिक पदार्थ परिणामिनित्य हैं।

३—ईश्वर आत्मा तथा भौतिक पदार्थों का नियामक है। वह अन्तर्यामी है। वही सृष्टि का कर्त्ता, हर्त्ता और भर्त्ता है।

४—आत्मा या पुरुष ईश्वरीय कार्यों का निमित्त मात्र है।

इन्ही पर नीतिशास्त्र अवलम्बित है।

५—तत्वदर्शन से निकला नैतिक सिद्धान्त : कर्ममार्ग

मानव जीवन के दो उद्देश्य है—आत्मलाभ और लोकसंग्रह। चूंकि आत्मा क्षेत्रों (भूतों) से भिन्न है और परमात्मा के सदृश है। अतः आत्मा को इस रूप में जानना और उसको उपलब्ध करना मनुष्य मात्र का कार्य होना चाहिए। जब मनुष्य को आत्मलाभ मिल जाता है तो वह वस्तुत.ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करता है, उसकी आत्मा परमात्मा का लाभ करती है। आत्म-लाभ ईश्वरलाभ है। यही सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति है क्योंकि आत्मा इसी स्थिति में स्वस्थ या स्वनिष्ठ रहती है।

परमात्मा के स्वभाव से ही सृष्टि या लोक उत्पन्न हुआ है। परमात्मा इसकी सदा रक्षा करता है। मनुष्यों का भी कार्य संसार और विशेषत: मानव-समाज की रक्षा करना है। लोक में मर्यादा को बनाये रखना है ताकि

संसार का कार्य रुक न जाय। अतः उन्हें सदा कर्म करना चाहिए। कर्म से सन्यास नहीं लेना चाहिए।

कर्म क्यों करना चाहिए ? इसके लिये कई प्रमाण हैं—

१. विना कर्म किये कोई स्वातन्त्र्य-लाभ नहीं कर सकता। कर्म-सन्यास से सन्यास की सिद्धि नहीं मिल सकती (३।४)।

२. कोई क्षणमात्र भी अकर्मी नहीं हो सकता। सभी अपने प्राकृतिक गुणों से नियोजित होकर कर्म अवश्य करेंगे (३।५–३३)।

३ शरीर यात्रा भी बिना कर्म किए नहीं हो सकती (३।८)।

४. कर्म सृष्टि का नियम है। जो इस नियम का उल्लंघन करे, वह व्यर्थ जीता है (३।१६)।

५. लोक सग्रह (समाज की सुरक्षा) के लिये भी कर्म करना आवश्यक है (३।२०)।

६. यदि कोई अकर्मी, निष्कर्मी हो जाय, तो अन्य लोग उसका अनुसरण करके निष्कर्मी हो जायेंगे। इस प्रकार जब सभी अकर्मी बन जायेंगे तो समाज का सत्यानाश ही हो जायगा। इसको बचाने के लिये स्वयं परमात्मा भी कर्म करता है, मनुष्य की तो बात ही क्या ? (३।२१–२४)।

७. जिसको आत्मलाभ मिल गया है, उस ज्ञानी के लिये कर्म अकर्म सब बराबर हैं, अतः उसे भी कर्म ही करना चाहिए (३।१७–१

अब चूकि कर्म अनेक है, तो प्रश्न है कि कौन व्यक्ति कौन कर्म क सृष्टि में परमात्मा ने कार्य-अकार्य की व्यवस्था की है। कार्यों की दृ ही उसने चार वर्णों की सृष्टि की है। श्रुति और स्मृति में इनका नि है। अपने पूर्व कर्म के अनुसार मनुष्य वर्ण विशेष में जन्म लेता है। अत अपना वर्णगत धर्म करना चाहिए। दूसरे वर्ण के मनुष्य का धर्म उ नहीं करना चाहिए। अपने धर्म पर मर जाना भी श्रेय है, पर दूसरे के को अपनाना नही (३।३५)।

कर्म श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कार्य है। विकर्म वे कर्म है जिन्हें शास्त्रों ने निषिद्ध कहा है। इनसे बचना चाहिए। अकर्म है कर्म से विरक्ति। कर्म-अकर्म तथा विकर्म का यह विवेक जानकर मनुष्य शास्त्रोक्त कर्म करना चाहिए।

६—आचरण की समस्या का हल : आत्मसंयम

भले और बुरे का ज्ञान हो जाने पर भी सत्कर्म करने की ओर प्रवृत्ति इसलिये नहीं उठती कि इस ज्ञान को काम-भावना आवृत्त किये रहती है (३-३८) । वही मनुष्य का सच्चा वैरी है । उसी को जीतना है । इसके लिये मनोविज्ञान की दृष्टि से काम का विश्लेषण करना है ।

विषयों (इन्द्रियों द्वारा अनुभूत पदार्थों) पर ध्यान करने से पुरुष उनसे आसक्त हो जाता है । आसक्ति से काम (भोग की इच्छा) उत्पन्न होता है । काम से क्रोध होता है—काम की तृप्ति तथा अतृप्ति में सन्तोष के कारण यह क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से मोह होता है—अर्थात् बुद्धि मूढ़ हो जाती है । इससे स्मृति नष्ट हो जाती है । स्मृति के नाश होने पर स्वयं बुद्धि नष्ट हो जाती है । और तदनन्तर सत्यानाश ही हो जाता है २।६२-६३

काम को जीतने के लिये आरम्भ में इन्द्रियों को अवरुद्ध करना चाहिए । इन्द्रियों से बड़ा मन है, मन से बड़ी बुद्धि है और बुद्धि से बड़ी आत्मा है । यह समझ कर इन्द्रियों को जीतना है । उनको उनके विषयों से हटाना है । काम-इच्छा से उत्पन्न सभी विषयों से मन को हटा कर बुद्धि में स्थिर करना चाहिए । फिर अन्त में उसको भी आत्मनिष्ठ बनाना चाहिए ।

यह प्रक्रिया कठिन है । पर धीरे-धीरे वैराग्य तथा अभ्यास से यह सभव है । धीरे-धीरे ही इस मार्ग में सफलता मिलती है । इसका लक्ष्य आत्मलाभ है जो नैष्कर्म्य है । जब तक पूर्ण सिद्धि न हो जाय, तब तक इस प्रकार प्रयत्न करके आत्मसयम करते रहना चाहिए । यदि त्रुटि या विघ्न हो जाय, तो भी जितना आत्मसयम किया रहता है, उसका उतना फल मिलता है । कल्याण के मार्ग पर चलने वाले की कभी दुर्गति नहीं होती (६।४०) । पथ-भ्रष्ट होने पर भी वह योगियों के कुल या धनियों के कुल में दूसरे जन्म में पैदा होता है और अपनी साधना जारी रखता है । इस प्रकार यदि एक जन्म में सद्यः सिद्धि न हो तो अनेक जन्मों में क्रमश. सिद्धि हो जायगी ।

७—कर्ममार्ग और आत्मसयम का विरोधाभास : निष्काम कर्ममार्ग

ज्ञान की समस्या के हल में हमको कर्म करने का सिद्धान्त मिला । आचरण की समस्या के हल में हमें आत्मसंयम का सिद्धान्त मिला । दोनों में विरोध दीख पड़ता है क्यो कि कर्म करने से विषयों के साथ सम्पर्क बढ़ता

है और आत्मसंयम से विषयों के सम्पर्क में से हटना पड़ता है। पहला प्रवृ
पथ और दूसरा निवृत्तिपथ ज्ञात होता है। पहला कर्मवाद है तो दूस
सन्यासवाद। पहला भोगवाद है तो दूसरा वैराग्यवाद। दोनों कैसे संभव हैं

गीता की यही विशेषता है कि वह दोनों का समन्वय करती है। वह
ोनो में विरोध नही देखती।

यदि कर्मफल की इच्छा छोड़ दी जाय, तो कर्म करने से आसक्ति
नही हो सकती। कर्म बुरा नही होता। उसके प्रति हमारी भावनायें बुरी
होती हैं। ये भावनायें कर्म के फल के रूप में होती हैं। इन सब भावनाओ को
सम समझना योग है (समत्व योग उच्यते २।४८)। इसी योग से कर्म
करने पर आसक्ति नही होती। हम कर्म करें, इन्द्रियो से उनका कार्य लें,
पर हमें मन को इन्द्रियों के विषय या पदार्थ में लिप्त नही करना चाहिए।
मन को हम इन्द्रियो के विषय से अलिप्त रख दें, तो हमें कर्म करने से कोई
हानि न होगी। कर्म में कुशलता प्राप्त करना योग कहा गया है (योग:
कर्मसु कौशलम् २।५०)। यह कुशलता मनोयोग से अर्थात् मन को कर्म
पर केन्द्रित करने से और कर्मफल से हटाने से, प्राप्त हो सकती है। मन
ो नियन्त्रित करना और ध्येय की ओर झुकाना कर्म द्वारा ही संभव है।
त. कर्मवाद की फलाकांक्षा और अकर्मवाद की अकर्मण्यता दूर
ष्काम कर्मवाद बनता है। इसी को गीता ने बड़े सुन्दर ढंग से कह

कर्मण्येवाधिकारस्ते मां फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संग स्त्वकर्मणि ॥२।४७॥

—कर्म करना ही तुम्हारा अधिकार है, न कि कर्म का फल।
ल को अपना हेतु मत बनाओ। कभी अकर्म में अपनी आसक्ति न रह

ात्मलाभ और—या ईश्वर-लाभ की दृष्टि से ही किया हुआ क
। इसी में लोकसंग्रह की भी भावना आ जाती है क्यों कि वह ईश्व
कार्य है। अन्य इच्छा से किया गया कर्म सच्चा कर्म नही है। इस
च्चा कर्मसन्यास भी वस्तुत. यज्ञ, दान और तप का सन्यास नहीं है।
ीपियो के भी, साधारणजनो की तो बात ही न पूछिये, मन पवित्र
ात्विक दृष्टि से हम देख चुके हैं कि ये ईश्वरीय सृष्टि के व्यापक
जिनका अतिक्रमण हो ही नही सकता। हां, यज्ञ, दान और तप के
ारों में सशोधन-परिवर्धन हो सकता है। इस प्रकार कर्मवाद में
और सन्यासवाद में कर्मवाद लाकर गीता ने अपने निष्काम
पुष्टि की है।

८—श्रद्धा की समस्या का हल : ईश्वर भक्ति

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि निष्काम कर्म मार्ग के मानने वाले को तत्वदर्शन आवश्यक है। जब तक उसे यह दर्शन न हो जाय कि आत्मा कटस्थ है, सब कुछ ईश्वर की ही रचना है और ईश्वर ही सबका नियामक है, तब तक उसका संकल्प अविचलित नही हो सकता। मानवी बुद्धि प्रयत्न करके रोकी जाने पर भी बार-बार घोर कर्मवाद (भोगवाद) अथवा घोर सन्यासवाद (वैराग्यवाद) की ओर जाती है। बुद्धि का यह संशय ईश्वर पर श्रद्धा रखने से ही दूर हो सकता है। सब कर्त्तव्यो को छोड़कर एकमात्र ईश्वर की शरण में जाने से ही ईश्वर में श्रद्धा आ सकती है। श्रद्धा के आ जाने पर उसके द्वारा प्रतिपादित निष्काम कर्म अच्छे ढंग से सम्पादित होगा क्यो कि सच्चा नैष्कर्म्य तभी आता है जब ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम होता है। तभी विषयों की कामना नही रहती, पुत्र, धन, बल और प्रभुता की चाह नही रहती।

आत्मसयम से सत्त्व-शुद्धि या आत्मशुद्धि (चित्त-शुद्धि) होती है। आत्मशुद्धि के बाद श्रद्धा की आवश्यकता पड़ती है। श्रद्धावान् मनुष्य ही सत्वशुद्धि के उपरान्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है। (४।३९)। अज्ञ, श्रद्धाविहीन और संशयात्मा पुरुषो को कभी सुख नहीं मिल सकता है। ज्ञान-प्राप्ति के बाद ही चिरशान्ति या आनन्द का लाभ होता है।

९—गीता का समन्वित नीति-सिद्धान्त : आनन्दवाद

गीता के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य चिरशान्ति या सुख को पाना है। इसी का दूसरा नाम आनन्द है। आनन्द साधारण सुख से भिन्न है। साधारण सुख क्षणिक, ऐहिक, सापेक्ष, शारीरिक, मानसिक, दुःखमिश्रित तथा परिवर्तनशील है। आनन्द आत्मा का नित्य स्वभाव है। यह निष्काम कर्मयोग की साधना का फल है। भक्ति से ही यह मिलता है। ईश्वर की शक्ति प्रकृति सत्त्व, रज और तम गुणों से बनी है। तीनो गुण सदा मिले रहते हैं। सत्त्व सुखरूप, रज दुःखरूप और तम मोहरूप है। भौतिक पदार्थों से हमें इस कारण सुख, दुःख और मोह एक साथ मिलते हैं। आत्मा प्रकृति के परे है। अतः वह इन तीनो गुणों से परे है। सच्चा आत्मलाभ इस कारण सुख-प्राप्ति न होकर आनन्द-प्राप्ति है। आनन्दवाद में कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का समन्वय प—कृष्ण ने कौशलपूर्वक इसे यों बतलाया—

रिक कार्यों में यन्त्रगति हो। किन्तु उनके प्रभाव से आत्मा शून्य हो। स्वेच्छा-चारिता आत्मा की स्वनिष्ठा है। देह का यन्त्रवत् नियमित कार्य करना परतन्त्रता या निर्धारण है। शरीर को न आत्मा बनाना है और न आत्मा को शरीर। निष्काम भाव से करने पर आत्मिक और शारीरिक दोनों प्रकार के कार्य सम्भव हैं।

७. *गीता के नीतिशास्त्र की तुलना कभी-कभी काण्ट के नीतिशास्त्र* के साथ की जाती है। पर काण्ट के अध्यात्मशास्त्र और समाजशास्त्र गीता के अध्यात्मशास्त्र तथा समाजशास्त्र से मूलतः भिन्न हैं। फिर भी दोनों के आदर्शों में बहुत कुछ साम्य है। दोनों ही नैष्कर्म्य और लोकसंग्रह को आदर्श मानते हैं। दोनों ही कर्तव्य के लिये कर्तव्य, या गीता की भाषा में, निष्काम कर्म, पर जोर देते हैं। दोनों में आत्मसंयम की प्रधानता है। दोनों में आत्मा अमर है और ईश्वर का लाभ अभीप्सित है। पर काण्ट के दर्शन के अनुसार ईश्वर का लाभ असम्भव प्रतीत होता है और गीता के अनुसार शक्य। काण्ट का ईश्वर केवल *उपयोगी कल्पना और उपयोगी आदर्शमात्र* प्रतीत होता है। आत्मलाभ भी काण्ट के दर्शन में कुछ अधिक कठिन है। गीता ने निश्चित कर्मों की व्यवस्था की है भले ही वे आज कम मान्य न हों। पर काण्ट ने निश्चित रूप से कर्तव्य कर्मों की व्यवस्था नहीं की।

गीता का निष्काम कर्म भारतीय जागरण में सदा उल्लेख योग्य रहेगा। विवेकानन्द, रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी, श्री अरविन्द तथा विनोबा भावे जैसे जनता के नेताओं ने गीता के निष्काम कर्मयोग की व्याख्या की है। वर्तमान विद्वानों ने भी गीता के इस सिद्धान्त का प्रचार किया है। आशा है गीता की मौलिक देनें भविष्य में भी अपना स्थान रखेंगी।

पढ़ने योग्य ग्रन्थ

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक—गीता रहस्य।

दूसरा अध्याय

गांधी का नीति शास्त्र

१—गान्धी का जीवन

१. गान्धी या मोहनदास कर्मचन्द गान्धी (१८६९–१९४८) गौतम बुद्ध, कानफ्यूसियस तथा सात्रीटीज की भांति बहुत बड़े नैतिक दार्शनिक थे। उनका समग्र जीवन नैतिक सिद्धान्तों के प्रयोग में ही बीता। वे कोरे ज्ञान पर जोर न देकर सदाचार पर जोर देते थे और कहा करते थे कि रत्ती भर का आचरण कई मनों के ज्ञान से बड़ा और अच्छा है। उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी जिसका नाम उन्होंने 'सत्य के प्रयोग' दिया। उनका आचरण इतना श्रेष्ठ था कि लोगों ने उनको 'महात्मा' की उपाधि दी और वे आज महात्मा गान्धी के नाम से विश्वविख्यात हैं। उन्होंने अपने को ही नैतिकदृष्टि से महान् नहीं बनाया, वरन् वैसे ही उन्होंने अपने देशवासियों तथा अन्य देशवासियों को भी बनाने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया। फलतः वे अपने समय में संसार के सबसे बड़े नीतिज्ञ माने गए। आत्मकथा के अतिरिक्त उनकी बहुत सी रचनायें हैं जिनमें प्रार्थना प्रवचन (दो भाग), गीता-माता, धर्मनीति, आत्मसंयम तथा विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख नैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। गीता-माता में गीता-सम्बन्धी गान्धी जी के समस्त विचारों का संकलन है। इसमें गीता बोध, अनासक्तियोग, मूल-गीता, गीता-प्रवेशिका, गीता-पदार्थ कोष तथा गीता माता नाम की पुस्तकें संगृहीत हैं। धर्मनीति भी गान्धी जी की चार पुस्तकों का संग्रह है—नीति-धर्म, सर्वोदय, मंगल प्रभात और आश्रमवासियों से। सर्वोदय रस्किन की पुस्तक (अन्टू दिस लास्ट) का स्वतन्त्र भावगत अनुवाद है। इस पुस्तक के विचारों का प्रभाव गान्धी जी के जीवन पर बहुत पड़ा था। उनकी अर्थ-नीति सामान्यतः इसीसे नियन्त्रित थी। 'आत्म संयम' में भी तीन पुस्तकें समृहीत हैं—अनीति की राह पर तथा ब्रह्मचर्य (दो भाग)। इस प्रकार संग्रहों के अतिरिक्त ये पुस्तकें पृथक्-पृथक् भी उपलब्ध हैं।

गान्धी जी गुणग्राही सन्त थे। वे प्रत्येक मनुष्य तथा धर्म के सद्गुणों को सदैव लेते थे और अधिक लेने को लालायित भी रहते थे। यही कारण

हैं कि उनके जीवन तथा नीतिशास्त्र पर प्राचीन तथा नवीन, एशियाई तथा यूरोपीय, सभी विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा। उपनिषद्, गीता, तुलसीदासकृत रामायण, रस्किन, टालस्टाय, जिन्दा अवेस्ता तथा कुरान की उनके जीवन पर गहरी छाप पड़ी।

गान्धी जी ने भारत की आत्मा के साथ अपना तादात्म्य किया और उसको अपने नैतिक पथ से स्वतन्त्र किया। इस कारण हम उनको 'राष्ट्रपिता' कहते हैं।

गीता और गान्धी

गान्धी का जीवन-दर्शन और-या नीति-दर्शन बहुत कुछ गीता से निकला है। गीता को गान्धी जी अपनी माता मानते थे। धर्मसंकट अथवा आपत्ति के समय वे गीता लेकर बैठते थे। उसके श्लोकों पर विचार करते थे। फिर आत्मनिरीक्षण करते थे। अपनी समस्या पर, अपनी कमजोरियों पर चिन्तन करते थे। इन दोनों रीतियों से, आत्मनिरीक्षण और गीता-चिन्तन से, उन्हें कोई-न-कोई मार्ग सूझ पड़ता था। फिर वे आत्म-शुद्धि करते थे और उस मार्ग पर अमल करते थे। गान्धी जी की यह विचार-प्रणाली उनके जीवन पर्यन्त बनी रही। गीता के श्लोक रत्न हैं। हरेक परिस्थिति को सुलझा देने वाला उसमें कोई न कोई श्लोक अवश्य है—ऐसा महात्मा जी का दृढ़ विश्वास था। इसलिए वे प्रत्येक भारतीय को 'गीता कंठ करो' का उपदेश देते थे।

गीता की मौलिक देनों को गान्धी जी ने कभी नहीं भुलाया। उन्होंने उनको आधुनिक युग के उपयुक्त बना दिया। उनका नीतिशास्त्र अर्वाचीन युग में गीता के ही सिद्धान्तों का उपयोग है। गान्धी जी ने गीता की कुछ घटनाओं तथा विचार-धाराओं का नया अर्थ प्रस्तुत किया जिनमें निम्नलिखित मुख्य है—

१. कुरुक्षेत्र का युद्ध निमित्त मात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। यही धर्म क्षेत्र है क्यों कि यह मोक्ष का द्वार हो सकता है। पाप से इसकी उत्पत्ति है और पाप का यह भाजन बना रहता है, इसलिये यह कुरुक्षेत्र है। कौरव का अर्थ है आसुरी प्रवृत्तियां। पाण्डव का अर्थ है दैवी प्रवृत्तियां।

कौन नहीं अनुभव करता कि प्रत्येक शरीर में भली और बुरी वृत्तियों में युद्ध चलता ही रहता है? इसी दैनिक या प्रतिक्षण होने वाले युद्ध का उल्लेख

गीता में है (देखो अनासक्तियोग)। गीता के पहले अध्याय में जो व्यक्ति-वाचक नाम दिए गए है, वे गांधी जी की राय में, गुणवाचक है। दैवी और आसुरी वृत्तियों के बीच की लड़ाई का बयान करते हुए कवि ने वृत्तियों को मूर्तिमान् बनाया है (देखो गीता-माता)। गीता के कृष्ण मूर्तिमान शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान है।

पर गान्धी जी ऐतिहासिक युद्ध और नामो को झूठा नही बतलाते। वे ऐतिहासिक अर्थ के साथ-ही-साथ अपना आध्यात्मिक और नैतिक अर्थ भी करते है।

२ गीता की मुख्य शिक्षा अनासक्तियोग या कर्मफल का त्याग करके कर्म करने का मार्ग है। सम्पूर्ण कर्मफल का त्याग सत्य और अहिंसा का पूर्णरूप से पालन किए बिना मनुष्य के लिये असभव है। अत. गान्धी जी गीता की मुख्य शिक्षा सत्य और अहिसा मानते है।

३. गीता ने यज्ञ, तप और दान को नित्य कर्म माना है। सन्यासी भी इनका त्याग नही कर सकता। गान्धी जी ने यज्ञ का नया अर्थ किया। यज्ञ परोपकारार्थ या ईश्वरार्थ किए हुए कर्म हैं। जब कहा जाता है कि यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं तो देवता से तात्पर्य है भूतमात्र, ईश्वर की सृष्टि। भूतमात्र की सेवा देव-सेवा है और वही यज्ञ है।

प्राचीनकाल के यज्ञ प्राचीन परिस्थितियो के अनुकूल थे। अग्नि में होम करना उनके लिये आवश्यक था। गान्धी जी ने अग्नि के स्थान पर चरखे को रखा। प्रत्येक यज्ञकर्ता का धर्म है कि वह चरखे से सूत काते। इसमें शरीर-श्रम तथा परोपकार दोनों हैं।

४. गान्धी जी गीता को वर्ण व्यवस्था के हामी थे। पर वे वर्ण-व्यवस्था को जाति-व्यवस्था नही मानते थे। जातिव्यवस्था हिन्दू समाज के लिये कलक है और वर्ण व्यवस्था समाज के लिये आवश्यक है। वस्तुत वर्ण व्यवस्था में ही ऊच-नीच और छुआछूत का भाव आ जाने से वह जाति-व्यवस्था हो जाती है। कोई अस्पृश्य, नीच या ऊच नहीं है। कोई काम भी किसी को अस्पृश्य, नीच या ऊच नही बनाता। गान्धी जी ने अस्पृश्यता-निवारण और सर्व-धर्म-समभाव को गीता की मौलिक शिक्षा कहा क्यो कि गीता में कही नहीं लिखा गया है कि जन्म या कर्म से कोई नीच या अस्पृश्य है।

५. गीता के श्लोक 'स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह.' का अर्थ गान्धी जी ने यों लिखा है—स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी। स्वदेशी पालते हुए

मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है। स्वदेशी व्रत को उन्होंने अपने युग का महाव्रत बतलाया। और इस बात का प्रयत्न किया कि भारतीय केवल भारत में बनी हुई वस्तु का ही प्रयोग करें। इनके राजनैतिक जीवन में इस नैतिक सिद्धान्त का बड़ा महत्व है।

इसी प्रकार गान्धी जी ने गीता की शिक्षाओं को अपने युग के अनुसार ढाला है। गीता में वैयक्तिक तथा सामाजिक द्विविध नीति है। सामाजिक नीति के पालन से ही सामाजिक तथा वैयक्तिक नीति के आदर्श की प्राप्ति होती है। सामाजिक नीति में समाज के लिये कार्य करने की आवश्यकता है। ये कार्य अनासक्तिभाव से, निष्काम भाव से, किए जायें, यह गीता की शाश्वत शिक्षा है। पर कौन कर्म किए जाय? इस प्रश्न पर ही विचार है। इस युग के अनुसार जो कार्य आवश्यक तथा उपयोगी हैं, उनके करने पर गान्धी जी ने जोर दिया है। उन्होंने वैयक्तिक तथा सामाजिक नीति के स्वरूप तथा आदर्श में कोई परिवर्तन नहीं किया। परिवर्तन सिर्फ कामों के बतलाने में हुआ है।

३—नीति का स्वरूप

गान्धी जी के अनुसार नीतिशास्त्र सर्वोपरि शास्त्र है। नीति शास्त्रों को नियमित करती है ताकि उनमें अनीति न हो। दुनिया के शास्त्र बतलाते हैं कि दुनिया कैसी है। नीतिशास्त्र बताता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इससे हम यह जान सकते हैं कि मनुष्य को कैसे आचरण करना चाहिए। इसको हम आचार-दर्शन भी कह सकते हैं। [illegible]

[illegible]

[illegible]

है (देखो नीति-धर्म)। इसी कारण गान्धी जी नीतिशास्त्र को प्रायः धर्मनीति या नीति-धर्म कहते हैं। धर्म की भारतीय व्याख्या भी कर्त्तव्य-परायणता है। यदि कोई धर्म अनैतिक है तो गान्धी जी उसे धर्म न कह कर अधर्म कहते हैं। इसके विपरीत यदि कोई नीतिमान् है और नास्तिक है, तो भी गान्धी जी उसे धार्मिक कहते हैं। बेंथम को उन्होंने इसी अर्थ में धार्मिक कहा है। सच्चा धर्म सच्ची नीति है और सच्ची नीति सच्चा धर्म है। 'नीति रूपी बीज को जब तक धर्म रूपी जल का सिंचन नहीं मिलता तब तक उसमें अंकुर नहीं फूटता। पानी के बिना वह बीज सूखा ही रहता है और लम्बे अरसे तक पानी न पाए तो नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि सच्ची नीति में सच्चे धर्म का समावेश होना चाहिए। इसी बात को दूसरी रीति से यों कह सकते हैं कि धर्म के बिना नीति का पालन नहीं किया जा सकता, यानी नीति का आचरण धर्मरूप में करना चाहिए" (देखो नीति-धर्म)। धर्म की नींव नीति है—इसे दुनिया के सभी धर्मों ने माना है। नींव रूपी नीति के खोदे जाने पर धर्मरूपी इमारत भी भूमिसात् हो जाती है (दे० वही)।

नीति सार्वजनिक होनी चाहिए। व्यक्ति और समाज दोनों के हित वास्तव में एक ही हैं—शान्ति या चिर सुख।

"सच्चा शास्त्र न्याय बुद्धि का है। प्रत्येक प्रकार की स्थिति में न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निबाही जाय—जो राष्ट्र इस शास्त्र को सीखता है वही सुखी होता है,बाकी सब बातें वृथा प्रयास हैं (दे० सर्वोदय)।" इस प्रकार सोचने से राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों नीति-शास्त्र से नियमित होते हैं। गान्धी जी ने जैसे धर्म और नीति का तादात्म्य स्थापित किया वैसे उन्होंने राजनीति और अर्थशास्त्र को भी नीति की शिला पर खड़ा किया। यदि राजनीति और अर्थशास्त्र में नीति के नियमों का पालन नहीं होता तो वे असत् शास्त्र हैं। वे पुराने शास्त्र हैं। नए युग की मांग है कि प्रत्येक शास्त्र नीतियुक्त हो। अतः साम, दान, भे[illegible] और दण्ड इन चार अंगों वाली नीति पुरानी है। नीति अब कूटनीति, दण्ड-नीति, युद्धनीति तथा स्वार्थनीति नहीं है। सभ्यता के इतिहास में इ[illegible] सबका नाश हो गया। अब तो केवल साम-दान ही नीति के अंग हैं। गान्धी जी की शब्दावली में अहिंसा और परोपकार ही नीति के मुख्य अंग हैं। इन्हीं [illegible] राजनीति और अर्थशास्त्र को ही नहीं, बल्कि समस्त शास्त्रों और समाज को शासित होना चाहिए।

५—नैतिक नियम

नैतिक नियम के निम्नलिखित लक्षण हैं।

(क) नीति के नियम अचल हैं। मत बदला करते हैं, पर नीति नहीं बदलती।...हो सकता है कि अज्ञान-दशा में हम नीति को न समझ सकें। जब हमारा ज्ञान-चक्षु खुल जाता है तो उसे समझने में हमें कठिनाई नहीं पड़ती" (दे० नीति धर्म)।

(ख) नीति के नियम मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं हैं। नीति मनुष्यों से ऊपर है। जैसे ऋग्वेद में कल्पना है कि समस्त संसार ऋत या नैतिक संस्थान है वैसे गान्धी जी भी विश्व को नैतिक शासन समझते थे। विश्व का आधार ही नैतिक नियम है। जैसे प्राकृतिक नियम निरपेक्ष तथा व्यापक हैं, वैसे नैतिक नियम भी निरपेक्ष और व्यापक हैं।

(ग) नैतिक नियम और स्वार्थ के नियम तथा दुनियादारी के नियम के बीच भारी भेद है। नीति का पालन कर्तव्य है। लोक मत या रीति-रिवाज यदि नीति-संगत है तो कर्तव्य है, अन्यथा नहीं। नैतिक नियम बिना किसी नीति या प्रयोजन के पालनीय है। अन्य नियम किसी हेतु के कारण मान्य होते हैं। यही कारण है कि नैतिक नियम सार्वभौम हैं और अन्य सभी नियम एकदेशीय (एककालीय भी) हैं। नैतिक नियम सर्वोपरि हैं। वे ईश्वरीय हैं।

(घ) ऐसे नियम का कोई नाश नहीं कर सकता। असीरिया और बेबीलोन में अनीति का घड़ा भरा नहीं कि तत्काल फूट गया। खाल्डिया और मिस्र के लोग भी अनीति के कारण नष्ट हो गए। रोम और ग्रीस के राष्ट्र भी अनीति के कारण काल के गाल में चले गये। अनीति राजगद्दी पर बैठी है, तो भी वह टिकने वाली नहीं है। जिस समाज में नीति का पालन होता है वही फलता-फूलता है। यह नैतिक नियम की प्रधान विशेषता है।

(ङ) यह नैतिक नियम इतना सूक्ष्म है कि मनुष्य की समझ में प्रयत्न करने पर भी नहीं आता। यही कारण है कि लोग कभी स्वार्थ या अनीति को ही नीति मान लेते हैं। उन्हें प्रयोग से ज्ञान होता है कि वह नीति नहीं है। सभ्यता की प्रगति के साथ नीति के नियम की समझ बढ़ती है। इस प्रकार यद्यपि नीति का नियम शाश्वत, अटल तथा व्यापक है तो भी उसका इति-हास सम्भव होता है। उसके अनुसार अपने देश-काल को मोड़ने से भी नैतिक प्रगति सम्भव होती है।

(च) नैतिक नियम का कोई लिखने वाला नहीं है। इसी नैतिक नियम को गान्धी जी ने सत्य कहा। सत्य को ही उन्होंने ईश्वर कहा। आदमी खुदा का नूर है इसलिए वह उससे जुदा नहीं है। इस कारण वह भी नीति के नियम से अवगत है। साक्रटीज की भाँति गान्धी जी भी मानते थे कि हमारे अन्दर ईश्वरीय आवाज है या प्रज्ञा है। यह ईश्वर का अंश होने के कारण नैतिक नियम का ज्ञायक है। यही हमें सदैव नीति के नियम बतलाया करती है। इसका हम नैतिक बुद्धि या आत्मा भी कह सकते हैं।

४—नैतिक कार्य अथवा नैतिक निर्णय का विषय

नीतियुक्त काम कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में गान्धी जी का कहना है कि पहले हमें यह जानना चाहिए कि नीतियुक्त काम कौन नहीं है?

१ जो काम हमारे शरीर में या शरीर के द्वारा यन्त्रवत् होते रहते हैं वे नीतियुक्त नहीं है, जैसे सहजात क्रियायें, परावर्तक क्रियायें आदि। राजा किसी का अपराध माफ कर दे, तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है पर माफी की चिट्ठी ले जाने वाले चपरासी का राजा के किए हुए काम में शामिल भाग है। अतः उसका भी काम नीतियुक्त नहीं है। हाँ, वह अपना कर्तव्य समझ कर अपना काम करता है तो उसका काम नीतियुक्त हो जाता है।

२ अधिकतर लोग साधारण रीति-रिवाज के अनुसार आचरण करते हैं। ऐसे कार्यों को भी लोग नीतियुक्त कह देते हैं। गान्धी जी कभी-कभी रूढ़ि के अनुसार चलना आवश्यक और नीतियुक्त बतलाते हैं, पर प्रायः रूढ़ि के पीछे चलने को नीति का नाम मुनासिब नहीं कहा जा सकता। (नीति धर्म)।

इतना समझ लेने पर यह जानना सरल है कि नीतियुक्त काम वही है जो हमारा अपना है यानी जो हमारी इच्छा से किया गया है। एक शब्द में ऐच्छिक कार्य नीतियुक्त हैं और अनैच्छिक नीतिरहित।

आदतजन्य कार्य भी प्रायः अनैच्छिक हो जाते हैं। उनके करने में इच्छा या सत्परामर्श का ध्यान नहीं करना पड़ता। पर तो भी वे ऐच्छिक कार्यों के विकास होने के कारण नीतियुक्त हैं।

दो व्यक्तियों ने एक ही काम किया हो, फिर भी एक का काम नीतियुक्त माना जा सकता है और दूसरे का नीतिरहित। जैसे एक आदमी

दया से द्रवित होकर गरीबों को खाना देता है और दूसरा मान प्राप्त करने के लिए। दोनों का एकही काम है। फिर भी पहला नीतियुक्त माना जायगा और दूसरा नीतिरहित । इसमे स्पष्ट कि नीतियुक्त कार्य में हेतु या प्रयोजन विशेष रूप से देखा जाता है। "नीति के विषय में विचार करते हुए इतना देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतु से किया गया है। उसके फल पर हमारा बस नहीं है, फल देने वाला तो एकमात्र ईश्वर है (नीति धर्म)।

इस प्रकार गान्धी जी कार्य का हेतु और कार्य-व्यापार या साध्य और साधन को ही देख कर कार्य को नीतियुक्त या नीतिरहित कहने के पक्ष में हैं। हम साधन और साध्य को हेतु कहते हैं। अतः इस वाद को हेतुवाद कहा जा सकता है। इसके विपरीत सुखवादियों का फलवाद है जिसके अनुसार कार्य की अच्छाई या बुराई उसके हेतु (साध्य और साधन) पर नहीं, वरन् उसके फल पर निर्भर है। यदि फल सुखद है तो कार्य अच्छा, अन्यथा वह बुरा है। गान्धी जी ने ही नहीं, वरन् ससार के अधिकाश नीतिज्ञो ने इस मत की कटु आलोचना की है और कहा है कि यदि यह मत ठीक है तो बहुत से अनैतिक समझे जाने वाले कार्य नैतिक हो जायेंगे। जैसे कर्ज लेकर घी खाना तब नीतियुक्त हो जायगा, क्योंकि इसका फल स्पष्टतः शरीर के लिए सुखद है।

हेतुवादियो में भी दो दल है एक साध्यवादी है और दूसरा साधनवादी। साध्यवादियो का कहना है कि कार्य का साध्य यदि अच्छा हो तो कार्य अच्छा है, अन्यथा बुरा। इनके मत से यदि कार्य का साध्य अच्छा है और साधन बुरा है तो भी कार्य अच्छा ही है। मार्क्सवादियों का यही सिद्धान्त है। वे लोक संघर्ष तथा क्रान्ति जैसे बुरे और दुखद साधनों का अवलम्बन साम्यवाद जैसे अच्छे साध्य के लिये करते हैं। पर यह कार्य सार्वजनिक ढंग से अच्छा नहीं कहा जा सकता। उदार और चोर दोनो दान के उद्देश्य से दान कर सकते हैं। पर उदार अपने पैसे का दान करता है और चोर दूसरों के पैसे को चुरा कर दान करता है। इससे स्पष्ट है कि साधन बुरे होने से कार्य को अच्छा नहीं कहा जा सकता है, भले ही साध्य अच्छा है। अतः जो लोग कहते हैं कि साध्य साधन के औचित्य का विधाता है, वे गलत कहते हैं। सामान्य सिद्धान्त यह है कि साध्य साधन के औचित्य का विधाता नहीं है। किसी कार्य का अच्छा होना उसके साध्य तथा साधन दोनों की अच्छाई पर निर्भर ह। यदि दोनों में से कोई एक भी बुरा हुआ तो काम बुरा कहा जा सकता है। पर साध्य का जानना सरल नहीं है। सब लोग अच्छे साध्य तक

पहुंच नहीं सकते हैं। अतः साधन ही जो सबको सुलभ है, काम को नीतियुक्त या नीतिरहित बनाता है। गान्धी जी ने सच्चे साधन को सच्चे साध्य से अभिन्न समझा। उनका दावा था कि यदि साधन अच्छा है तो कार्य कभी बुरा हो नहीं सकता है। उसका फल भी अच्छा ही होगा। अतः उनके सिद्धान्त को हम साधनवाद कह सकते है।

पर गान्धी जी ने भी कभी अच्छे साध्य के लिये बुरे साधनों का उपयोग किया। जैसे स्वराज्य-प्राप्ति के लिये उन्होंने नमक का कानून तोड़ा। सविनय आन्दोलन से दुःखद है। सविनय आन्दोलन और सत्याग्रह करना ठीक कहा जा सकता है। पर कानून तोड़ना तो कभी भी ठीक नहीं है। इसी प्रकार कभी पिता अपने बच्चे के सुधार के लिये ताड़ना देता है जो स्पष्टतः ही बुरा है। फिर भी वह नीतियुक्त कहा जा सकता है। यदि साधन के औचित्य का निर्माता नहीं है तो फिर ये कार्य कैसे नीतियुक्त कहे जा सकते हैं। गान्धी जी ने सुझाया है कि सामान्य नियम तो यही है कि साध्य साधन के औचित्य का निर्माता नहीं है। पर इसके अपवाद हैं। कभी कभी कुछ परिस्थितियों में साध्य साधन के औचित्य का निर्माता भी हो जाता है। पर इन परिस्थितियों में निम्नलिखित बातें उल्लेख योग्य हैं—

(क) यहां साध्य और साधन का सम्बन्ध एक ही व्यक्ति से रहता है। दोनों का फल एक ही को भोगना पड़ता है। जब पिता बच्चे को पीटता है तो साधन का फल जो बुरा है बच्चा भोगता है और साध्य का फल जो मीठा है वही पाता है। दोनों अवस्थाओं में एक ही व्यक्ति है। इसी प्रकार गान्धी जी का नमक का कानून तोड़ना भारत से सम्बन्धित था और उसका साध्य (स्वराज्य) भी भारत से सम्बन्धित था। अतः वह काम अच्छा था। पर इस तर्क से मार्क्सवादी अपनी हिंसात्मक क्रान्ति को भी नीतियुक्त बना सकते हैं। क्यों कि जिस समाज को साधन रूप में दुःख भोगना पड़ता है, उसी को साध्य रूप में सुख। अतः यह नियम ठीक नहीं जंचता। हां यदि व्यक्ति एक ही हो, समाज या राष्ट्र की एकता नहीं, तो यह नियम ठीक कहा जा सकता है।

(ख) यदि अच्छे साध्य के प्राप्त करने के लिये समस्त संभव अच्छे साध्य क्रमशः लिये जायँ और वे निष्फल सिद्ध हों, तो फिर कोई कम दुःखद बुरा साधन भी लिया जा सकता है।

इन दोनों नियमों को सदा मिला कर ही रखना चाहिए। तभी काम नीतियुक्त कहा जा सकता है।

...... या डर की भावना भी
अगर कोई डर कर दबाव से या जोर जबर्दस्ती से कोई
ा है तो उसका कार्य नीतियुक्त नहीं कहा जा सकता है।

ोर-जबर्दस्ती या डर न हो, वैसे ही उसमें स्वार्थ भी न
ादारी अच्छी व्यवहार नीति है, यह सोच कर अपनाई
क दिन नहीं टिक सकती। जो प्रेम लाभ की दृष्टि से
हीहै। इसी प्रकार अन्य सभी सद्गुण मौका नहीं है।
से करने पर ही कार्यों में नैतिकता आती है। अतः
वल भलाई भलाई के लिये करनी है इस दृष्टि से किया
साधनों का अवलम्बन लेता है तो वह नीतियुक्त

नैतिक निर्णय का विषय

वेचन मे हम नैतिक निर्णय के विषय को सरलतया
ऐच्छिक कार्य ही जिसमें आदतजन्य कार्य शामिल
य है। ऐच्छिक कार्यों के साधन तथा साध्य दोनों
अच्छा कहा जा सकता है। काम के फल से कार्य को
। ऐसे ही ऐच्छिक कार्यों के समुच्चय को चरित्र
चरित्र ऐसे ही कार्यों से बनता है। अत एक शब्द
र्णयों का विषय है।

६—साध्य : सत्य

अभी तक के विवेचन से स्पष्ट किया गान्धी जी
र है। दूसरे शब्दों में सत्य और नैतिकता अभिन्न
र है। यह वैदिक ऋत या सत् है। यह तात्विक
। इसी को ईश्वर कहा जाता है। गीता के योग से
था। यही ईश्वर सब धर्मों का ईश्वर है। पर
त्य है और सत्य की कल्पना एक है, इसलिए
पर न कह कर 'सत्य ईश्वर है' यह कहा करते
र के सभी ऐच्छिक कार्यों का साध्य है। हमारी

त्मा गान्धी जी के विचार से ईश्वर नहीं है, वरन् ईश्वर का प्रकाश है र उससे अभिन्न है।

> आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं ।
> मगर खुदा के नूर से, आदम जुदा नहीं ।

इससे स्पष्ट है कि आत्मलाभ भी सभी कार्यों का साध्य या लक्ष्य है। से हम चाहे सत्य-प्राप्ति कहें चाहे ईश्वर-प्राप्ति कहें या चाहे आत्म-लाभ हें, बात एक ही है। पर गान्धी जी प्रायः इसे ईश्वर-प्राप्ति कहते थे और भी-कभी सत्य-प्राप्ति कहते थे।

इस मुख्य साध्य को, जो कि न तो व्यष्टि है और न तो समष्टि, सब लोगों को समझना कठिन था, इसलिये गांधी जी ने स्थूल रूप में इसे रखने का प्रयास किया। पर सत्य-प्राप्ति निरपेक्ष साध्य है। यह व्यक्ति और समाज दोनो का लक्ष्य है। दोनों के लक्ष्य को एक ही शब्द द्वारा कहा जाता है। इसके स्थूल रूपों को समझ लेने पर यह बात साफ़ हो जाती है।

स्वाराज्य या स्वराज्य—ईश्वर-लाभ या आत्म-लाभ का ही नाम स्वराज्य है। व्यक्ति के लिये अपनी आत्मा में आत्मा को स्थिर करना, भूतप्रपंच से अपना ध्यान हटा कर आत्मा पर सतत् ध्यान करना सच्चा स्वास्थ्य या स्वाराज्य है क्यो कि इस अवस्था में 'स्व' या आत्मा अपने में स्थित रहती है (स्वास्थ्य) या अपने पर राज्य करती है (स्वाराज्य)। समाज के लिए अपने पैरो पर खड़ा होना, अपनी रक्षा अपने से करना; अपनी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन अपने यहां करना, अपना शासन अपने हाथो करना सच्ची स्वयता, स्वरथता या स्वाराज्य है। व्यक्ति और समाज दोनो का इस प्रकार एक ही लक्ष्य है—स्वाराज्य। यह सत्य प्राप्ति है। इसी के लिये गान्धी जी ने आजन्म प्रयत्न किया। इसी स्वाराज्य का दूसरा नाम स्वदेशी है जो स्वाराज्य से भी स्थूल है।

स्वदेशी—अपने देश में स्थित रहना, व्यक्ति का स्वदेशी होना है। समाज का स्वदेशी होना अपने यहां की ही वस्तुओं का उपयोग करना है। स्वाराज्य कहीं भी हो, तो भी स्वदेशी हो सकती है। व्यक्ति और समाज अपने उपयोग की समस्त वस्तुओं को स्वदेशी ही बना सकते है। गान्धी जी ने इसीलिए खादी का आन्दोलन किया। खादी पहनना उनके राजनीति और अर्थशास्त्र का ही नहीं वरन् उनके नीतिशास्त्र का भी प्रधान अंग है। इससे आत्मनिर्भरता और स्वदेश प्रेम होता है। पूर्ण स्वदेशी आ जाने पर

स्वराज्य मिलना आवश्यक है—यह गान्धी जी की उक्ति थी जो वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार के आत्मोत्थान की दृष्टि से बहुत बड़ा नैतिक सिद्धान्त है। और हुआ भी ऐसा ही। जब स्वदेशी का प्रचार खूब बढ़ गया तो भारत को स्वराज्य भी मिल गया। ऐसे जिन व्यक्तियों ने (विनोबा, गान्धी आदि) स्वदेशी का सम्यक् पालन किया उन्हें भी स्वराज्य मिला। स्वदेशी स्वराज्य की पहली श्रेणी है। स्वदेशी के बाद ही स्वराज्य आता है। और स्वराज्य के बाद सर्वोदय।

सर्वोदय—स्वराज्य पा जाने पर हम अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। फिर व्यक्तिगत में हमें अपने सभी अंगों-उपांगों का विकास करना चाहिए। तब हमारा लक्ष्य सर्वोदय हो जाता है। मन पर विजय हो जाने से, मन आत्मा में स्थित रहने से, हमें आत्मा और शरीर का भी विकास करना है, क्योंकि मनुष्य में उनका भी अंश है। समाजगत में स्वराज्य मिलने से सर्वोदय लक्ष्य निकट होता है। समाज के सभी व्यक्तियों का सम उदय या अभ्युदय होना ही सर्वोदय है। गान्धी जी सुखवादियों की तरह अधिक लोगों के अधिक सुख को आदर्श नहीं मानते थे। इसके अनुसार तो कुछ व्यक्तियों की इस उद्देश्य के लिये हत्या भी हो सकती है। अतः उन्होंने सर्वोदय को अपना लक्ष्य बनाया। समाज के सभी वर्ग, सभी व्यक्ति, सभी भाषा, सभी धर्म, सभी साहित्य, सभी प्रान्त, सबका बराबर बराबर सर्वथा अभ्युदय होना चाहिए। इस प्रकार सर्वोदय होने से रामराज्य होगा जिसका कि वर्णन तुलसीदास की भाषा में गान्धी जी प्रायः करते थे।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य काहू नहिं व्यापा।

ऐसे रामराज्य आने पर और व्यक्ति के सर्वोदय प्राप्तकरने पर ईश्वर लाभ सभव ही नही अनिवार्य है। इस प्रकार सत्य-लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये क्रमशः स्वदेशी, स्वराज्य, सर्वोदय और सत्य-लाभ या ईश्वर लाभ सोपान माने गए। पर लक्ष्य वस्तुतः एक ही सदा था। इस विषय में गान्धी जी का निम्नलिखित सिद्धान्त उल्लेख योग्य है—

"अपनी सुविधा के लिये आदर्श को गिराना असत्य है, अपना पतन है, आदर्श को स्वतन्त्र रूप से जान कर, वह चाहे कितना कठिन हो, तथापि उसे प्राप्त करने का जी-जान से प्रयत्न करना परम अर्थ है—पुरुषार्थ है ......गीता की भाषा-में, धीरे-धीरे, किन्तु अतन्द्रित होकर हमें प्रयत्न करते रहना चाहिए ऐसा करते-करते किसी दिन प्रभु-प्रसाद के योग्य हो जायें" (मंगल प्रभात)।

और

"हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिए उसका आग्रह करते हैं। इसीसे पुरुषार्थ की गुंजाइश है। इसमें अपनी अपूर्णता की स्वीकृति आ गई है। यदि हम अपूर्ण हैं, तो हमारे द्वारा, कल्पित धर्म भी अपूर्ण है। स्वतन्त्र धर्म सम्पूर्ण है। हमने उसे देखा नहीं है, वैसे ही जैसे ईश्वर को नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होने से ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं। सत्य की ओर, ईश्वर की ओर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ सकते हैं" (मंगल प्रभात)।

यह है सत्याग्रह का सिद्धान्त जो क्रममुक्ति के प्राचीन सिद्धान्त का बड़ा अच्छा नवीन रूप है। क्रममुक्ति केवल व्यक्ति का आदर्श था। सत्याग्रह व्यक्ति तथा समाज दोनों का आदर्श है। हम सभी, व्यक्ति और समाज दोनों, धीरे-धीरे अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। जैसे-जैसे अपने लक्ष्य को हम प्राप्त करते जाते हैं हमारी समझ बढ़ती जाती है और तदनुकूल पुराने लक्ष्यों के तौल पर ही नए-नए भव्य आदर्श बनते जाते हैं। अन्त में हम सभी सत्य को प्राप्त करते हैं। सत्याग्रह आदर्श के अतिरिक्त आयुध भी है। गान्धी जी इसे हथियार कहते थे और यह सबको विदित है कि इसी हथियार से उन्होंने देश को तथा अपने को स्वराज्य प्रदान किया। सत्याग्रह के सिद्धान्त से हमें शिक्षा मिलती है कि हमको अपने आदर्श को गिराना नहीं है वरन् पूर्ण रूप से प्राप्त करना है। निचले स्तर से आरम्भ कर हम सत्य का मार्ग पकड़ते हुए अपने पूर्ण आदर्श को प्राप्त कर लेंगे।

७—साधन : अहिंसा

सत्य को प्राप्त करने का साधन सत्याग्रह है—इसको हमने देख लिया है। अब सत्याग्रह के स्वरूप पर विचार करना है। सत्याग्रह में सत्याग्रही सदैव सत्य का उपासक बना रहता है। इसी सत्य को अहिंसा कहा जाता है। अहिंसा सत्य तथा सत्याग्रह दोनों का अर्थ प्रदान करता है। सत्याग्रह में भी हमें अहिंसा का ही पालन करना है। यह अहिंसा क्या है ? गान्धी जी ने कहा—

"यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचारमात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्याभाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिये जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है" (मंगल प्रभात)।

या सत्य की चर्या अर्थात् साधना है। इसके लिये इन्द्रिय निग्रह आवश्यक है। साधारणतः जननेन्द्रिय के निग्रह को ही ब्रह्मचर्य समझा जाता है। पर गान्धी जी के अनुसार इन्द्रियमात्र का निग्रह ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है। विषय-मात्र का निरोध ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य न रखने से मन चचल और दूषित होता है, बुद्धि भ्रष्ट होती है और कुन्द पडती है, रोग घर कर लेते है, शरीर निर्बल हो जाता है। ध्यान डिगने लगता है और एकाग्रता असंभव हो जाती है। इसके अतिरिक्त अब्रह्मचारी अपना-पराया के चक्कर में पड़ कर विश्व-प्रेम से वंचित रह जाता है। कभी-कभी वह लोक-मर्यादा का उल्लघन करता है और समाज में गड़बड़ी फैलाता है।

ऊपर के वर्णन से साफ जाहिर है कि ब्रह्मचर्य अहिंसा है और व्यभिचार हिंसा, क्यो कि व्यभिचारी व्यक्ति अपनी आत्मा, मन, बुद्धि, शरीर और समाज की हिंसा या हत्या करता है।

गान्धी जी समझते थे कि आजन्म बालब्रह्मचारी होकर विरले लोग जीवन बिता सकते हैं। अतएव उन्होंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की प्राचीन परम्परा को सर्व-सुलभ किया। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति विवाहित रह कर भी ब्रह्मचारी रह सकता है यदि वह एकपत्नी-(एकपति) व्रत रखता है और केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ऋतुकाल में ही मैथुन करता है। स्त्री और पुरुष दोनो के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। आरम्भ में यह व्रत कठिन लगता है पर अभ्यास से यह बहुत सुलभ है, ऐसा गान्धी जी ने ही नही वरन् प्रत्येक अनुभवी व्यक्ति ने बताया है।

४. अस्वाद—अस्वाद का अर्थ है स्वाद न लेना। यह रसनेन्द्रिय का निग्रह है। वस्तुतः यदि हम ब्रह्मचर्य का अर्थ सर्वेन्द्रिय-निग्रह लें, तो अस्वाद ब्रह्मचर्य के अन्दर ही आता है। पर गान्धी जी के अपने अनुभवो से यह सिद्ध हुआ कि अस्वाद आने पर अर्थात् रसनेन्द्रिय के जीतने पर ब्रह्मचर्य या अन्य इन्द्रियों का निग्रह सरल हो जाता है इसलिए अस्वाद को पृथक व्रत बनाया गया है। अस्वाद का सच्चा अर्थ तो होगा कि खाने-पीने में कोई भी स्वाद न लिया जाय और यहा तक कि निराहार रहा जाय। निराहार होने पर भी यदि स्वाद की लिप्सा बनी रही तो अस्वाद नहीं हुआ। अतएव स्वाद लेने की शक्ति को ही उच्छिन्न करना सच्चा अस्वाद है। पर आरम्भ में यह कठिन है। अतएव अल्पाहार, एकाहार, शाकाहार, दुग्धाहार और फलाहार के क्रम से इस व्रत का पालन करना चाहिए। इसका पालन न करने वाले लोग अपनी जीभ को कुतिया बना देते हैं और इस कारण वे अपने साथ हिंसा करते है और भक्ष्याभक्ष्य सभी खाकर औरो की भी हिंसा

हैं। मद्य-निषेध और शाकाहार भी अस्वाद के ही रूप हैं। इससे स्प
कि अस्वाद अहिंसा का ही रूप है।

५. अस्तेय—चोरी करना हिंसा है क्यों कि जिसकी चीज चुराई हैं उसको चोरी से पीड़ा होती है। अतएव चोरी न करना अहिंसा है।

प्रायः लोग चोरी का आशय सिर्फ शरीर से दूसरों की वस्तु का अ करना ही लेते हैं। पर चोरी इससे व्यापक है। आत्मा को नीचे गिराने मानसिक चोरी है। मन से किसी भी चीज को पाने की इच्छा कर उस पर झूठी नजर रखना चोरी है। खाने या बच्चे का किसी अच्छी को देख कर ललचाना भी चोरी है। उपवासी यदि दूसरे को खाते देख... ललचाता है तो वह भी चोर है। ऐसे ही विचारों की चोरी है। दूसरों के विचार को अपना कहना भी बड़ी चोरी है।

औरों को न खिला कर स्वयं खाना भी चोरी है। और लोगों के भूखों मरते हुए देख या सुन कर भी अपना भोजन करना बहुत बड़ी चोरी है। दान न देना भी चोरी है। पड़ी चीज का रखना चोरी है। अनावश्यक वस्तु या विचार का रखना भी चोरी है। संसार में लोग अपनी आवश्यकता से अधिक तथा खाने-पीने की सामग्री, रुपया-पैसा, पुस्तकें आदि रखते हैं। ये लोग भी वस्तुतः चोर हैं और दूसरों को उनके अधिकारों से वंचित करते हैं। दीनता इन्हीं लोगों के कारण फैलती है।

अस्तेयव्रत को करने वाले को बहुत सादा जीवन बिताना है और सदा सावधान रहना है।

६. अपरिग्रह—अपरिग्रह का सम्बन्ध अस्तेय से है। परिग्रह का अर्थ है संचय या इकट्ठा करना। अहिंसा का पुजारी परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। वैसे ही अहिंसक या परमात्मा का भक्त भी परिग्रह न करते हुए नित्य भूखा सोता है और नित्य पानी पीता है। वस्तुतः आवश्यकता से अधिक रखना परिग्रह है और यदि वह दूसरों का हक था और मैंने उसे अनावश्यक रख लिया है इसलिये वह चोरी भी है।

सच्चे अपरिग्रह को बिना जाने मन और कर्म से निरन्तर रहता है। शरीर भी परिग्रह है क्यों कि यह अपेक्षा का ही फल है। शरीर जब तक है तब तक परिग्रह बना रहता है। निष्काम कर्म और ज्ञान से जब आत्म बोध करें तब शरीर नहीं रह जाता। मरने से शरीर का अन्त नहीं होता क्यों कि शरीर धारण करने की इच्छा उस समय में भी बनी रहती है। इस इच्छा का अन्त आत्मज्ञान से ही हो सकता है। इच्छायें ज्यों-ज्यों बढ़ती हैं त्यों त्यों

परिग्रह बढ़ता है। ज्यों-ज्यों उनका नाश होता है त्यों त्यों अपरिग्रह आता है। पहले थोड़े अपरिग्रह से शुरू कर आत्यन्तिक अपरिग्रह को व्यक्ति तथा समाज दोनों को प्राप्त करना है।

परिग्रह हिंसा है क्योंकि एक के किसी वस्तु का परिग्रह करने से दूसरे को वह वस्तु न मिलने से पीड़ा होती है। राजा और नवाब को देख कर दीन के हृदय में वेदना होती है। अतएव अपरिग्रह अहिंसा है।

अपरिग्रह का ही विस्तार ट्रस्टीशिप (न्यास) के सिद्धान्त के रूप में हुआ। इसके अनुसार धनिकों को चाहिए कि वे यह समझ लें कि वे अपने धन के स्वामी न होकर ट्रस्टी (न्यासी) हैं। वह धन इस कारण ट्रस्ट (न्यास) के धन की तरह मानवता, समाज या राष्ट्र के लिये खर्च होना चाहिए। उन्हें अपनी स्वेच्छा से अपना धन देश या राष्ट्र के निर्माण के लिये देना चाहिए। गान्धी जी के परम शिष्य विनोबा भावे ने इस सिद्धान्त का और विस्तार किया जो आज भूदान, (सम्पत्तिदान, श्रमदान आदि इसी के अन्तर्गत हैं) के नाम से विश्व-विश्रुत है।

७. अभयः—सच्ची अहिंसा अभय से ही हो सकती है। जब तक द्वैत (दो का भाव) बना रहता है तब तक भय है। भय से ही विचार या व्यक्ति की हिंसा होती है। द्वैत से घृणा होती है (अद्वैत से प्रेम होता है क्योंकि तब घृणा का कोई पात्र ही नहीं रह जाता।

मनुष्यों, पशुओं या भूतमात्र से भय खाना बहुत बड़ी हिंसा है। सबसे प्रेम करना ही अहिंसा है क्योंकि उसका अर्थ ही है सर्वव्यापी प्रेम। काम-क्रोध आदि भी शत्रु हैं। इनसे तो हमेशा भय ही खाना है। इन्हीं से भय खाना वास्तविक भय है। इसे जीत लेने से बाहरी भयों का उपद्रव स्वयमेव दूर हो जाता है।

अभय साहसी का गुण है। यह कायरता नहीं है।

८. अस्पृश्यता निवारण—छुआछूत से घृणा फैलती है। पारस्परिक प्रेम असंभव हो जाता है। शूद्रों के हृदय में सवर्णों के प्रति तथा सवर्णों के हृदय में शूद्रों के प्रति एक ऐसा भाव रहता है जो दोनों के बीच खाई बन जाता है और एक दूसरे को समझ नहीं पाता है। इस कारण छुआछूत हिंसा है। यह समाज का कलंक है। इसके विपरीत अस्पृश्यता-निवारण अहिंसा है। गान्धी जी के अनुसार छुआछूत हिन्दू धर्म का अंग नहीं है। यह प्रथा हिन्दू समाज की पतितावस्था में चल पड़ी है और इसको दूर करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है।

९. शारीरिक श्रम—गान्धी जी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को कुछ कुछ शरीर-श्रम करना चाहिए क्यों कि ऐसा न करने पर वह दूसरों के शरीर श्रम पर जीवन-यापन करेगा। जैसे हमें मानसिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने के लिये दूसरों के विचारों पर निर्भर न होकर स्वयं आत्मचिन्तन करना है वैसे शारीरिक दृष्टिकोण से परमुखापेक्षी न बनने के लिए, चोरी से बचने के लिए, किसी कार्य का सम्बन्ध छुआछूत से हो जाता है इस सिद्धान्त को हटाने के लिये, हमें शरीरश्रम करना है। ऐसा न करना स्पष्टतः हिंसा है क्यों कि शरीर श्रम को हेय समझने के कारण ही छुआछूत फैली, धनिकों और शाहजादों का वर्ग बन गया, और पता नहीं क्या-क्या अनर्थ हुए।

गान्धी जी ने भंगी का काम करने के लिए सबको शिक्षा दी और कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम अपने घर का पाखाना जरूर अपने हाथ से साफ करना चाहिए। इससे शरीर श्रम के प्रति सत्कार-भावना होगी और छुआछूत भी दूर होगी। चरखा कातना, बुनना, तथा अन्य कुटीर-उद्योग धन्धों को भी करने की शिक्षा गान्धी जी ने इस प्रसंग में दी।

१० सर्व धर्म समभाव—दुनिया के किसी धर्म को अपने धर्म से छोटा या बड़ा समझना दोनों हिंसा है क्यों कि दोनों भावनाओं से किसी-न-किसी धर्म के मानने वाले के हृदय में वेदना या ठेस होती है। अतएव न तो हमें धर्मसहिष्णु होना है क्यों कि सहिष्णुता से दूसरों के धर्म को अपने धर्म से छोटा समझने का भाव टपकता है, और न हमें दूसरों के धर्म के प्रति आदर रखना है क्यों कि इससे अपने धर्म की छोटाई टपकती है। अतएव गान्धी जी ने इन दोनों भावों के स्थान पर सर्व-धर्म-समभाव रखा। उन्होंने स्वयं अन्य व्रतों की तरह इसका खूब पालन किया और संसार के सभी बड़े धर्मों की मूल शिक्षाओं का एकीकरण किया।

११ स्वदेशी—इस व्रत को गान्धी जी ने इस युग का महाव्रत बतलाया है। प्रत्येक व्यक्ति या राष्ट्र को स्वदेशी का पालन करना है। इसका तात्पर्य है कि वह अपने देश से प्रेम करे और अपने देश में उत्पन्न तथा बनी हुई वस्तुओं का ही उपयोग करे। व्यक्ति के लिए यह स्वधर्म का पालन है। स्वधर्म के पालन में परधर्मी को कभी हानि नहीं पहुंच सकती। यदि पहुंचती है तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं है, बल्कि स्वाभिमान है और वह त्याज्य है। हमें स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग करने में विदेशी वस्तुओं के प्रति घृणा नहीं है। हम अपनी मां से प्रेम करते हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम दूसरों की मां से द्वेष करते हैं। "स्वदेशी धर्म पालने वाला परदेशी का कभी [illegible] नहीं करेगा।"—जो वस्तु स्वदेशी में नहीं बनती अथवा महाकष्ट से ही बन [illegible]

हैं, उसे परदेशी के द्वेष के कारण कोई अपने देश में बनाने बैठ जाय तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है" (मंगल प्रभात) ।

परदेश वाले अपनी वस्तुओं से अधिक लाभ पैदा करने के लिए हमारा धन लेने के लिये और हमारी उन्नति को रोकने के लिए उनको हमारे देश में बेचते हैं। यदि हम उनका उपयोग करते हैं, तो हमारा देश कभी उन्नति नहीं कर सकता है। रक्तशोषक और रक्तपिशाच की मदद करना अहिंसक का धर्म नहीं है। अतः गान्धी जी ने स्वदेशी को अहिंसा का प्रधान अंग माना। खादी का उपयोग करना, अपनी भाषा का प्रयोग करना, आदि कितने ही इस विषय में प्रयोग किए गए और किए जा रहे हैं।

स्वदेशी विषयक विचार से हम गान्धी जी द्वारा राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का समन्वय भी सहज में ही समझ सकते हैं।

चूंकि उपरोक्त सभी गुण अहिंसा या सत्य के ही विविध रूप हैं अतएव गान्धी जी ने उनको निम्नलिखित चित्र में व्यक्त करके यह स्पष्ट कर दिया है कि अहिंसा ही सबका मूल है और यही अहिंसा परमो धर्मः का सच्चा अर्थ है—

सत्य, सत्य-अहिंसा

अहिंसा अथवा

ब्रह्मचर्य अस्वाद अस्तेय अपरिग्रह अभय शरीरश्रम सर्वधर्म समभाव स्वदेशी

अस्पृश्यता निवारण
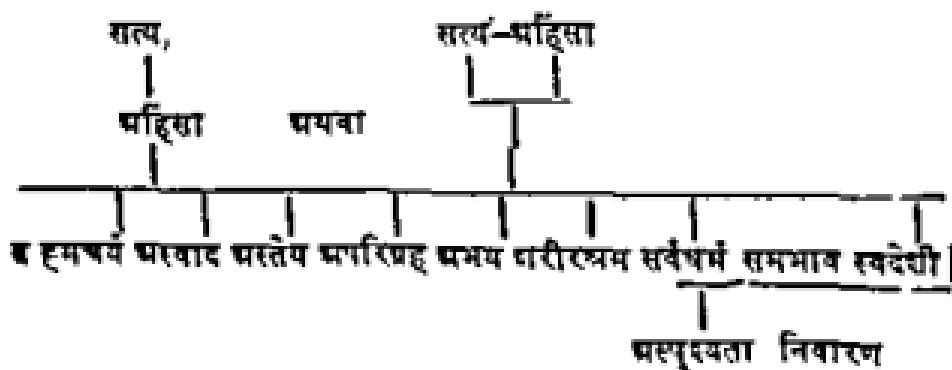
हम सत्य और अहिंसा को अभिन्न समझ सकते हैं। अथवा सत्य को साध्य और अहिंसा को साधन मानने से अहिंसा को सत्य का ही अंग मान कर सत्य से अहिंसा को आविर्भूत मान सकते हैं। इसीलिए उपरोक्त चित्र में गान्धी जी ने सत्य से अहिंसा और अहिंसा से अन्य गुणों का आविर्भाव दिखलाते हुए सत्य और अहिंसा के साहचर्य से अन्य गुणों का आविर्भाव दिखलाया है। लगता है कि गान्धी जी के विचार में यह दृढ़ नहीं था कि अहिंसा साधन है और सत्य साध्य है। कभी-कभी वे अहिंसा को ही साध्य मान लेते हैं।

हिंसा केवल साधन है, अथवा साध्य-साधन दोनों हैं, इस विषय में गान्धी
ो का एकमत नहीं दिखाई होता। हो भी कैसे सकता था? वे अपने को
र्ण ज्ञानी नहीं कहते थे। पूर्ण ज्ञानी ही यह निश्चय कर सकता है। पूर्ण ज्ञान
होने पर गान्धी जी का निश्चय सबको अच्छा लगेगा कि अहिंसा साधन
ौर-या साध्य है।

६—आलोचना

कुछ लोग कहते हैं कि गान्धी ने कोई नया नीति-तत्व नहीं दिया जिनको
पुराने आचार्यों ने न बतलाया हो। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्पृश्यता-
निवारण आदि सभी को गान्धी जी के पहले अनेक आचार्यों और सन्तों ने
समझाया था। इन लोगों के कहने में बहुत कुछ सच्चाई है। इनके विपरीत
कुछ लोग गांधी को ईश्वर का अवतार समझ कर उनके नैतिक, धार्मिक
आदि विचारों को एक नया शास्त्र मान बैठते हैं। इन लोगों के विचार में
बहुत कुछ ऐतिहासिक अज्ञान तथा अन्धविश्वास है। फिर भी वे बिलकुल
गलत नहीं है।

सच बात यह है कि गान्धी जी ने किसी नये नीति-तत्व का आविष्कार
नहीं किया, पर उन्होंने प्राचीन नीति-तत्वों में से केवल अहिंसा को ही चुन कर
उसकी शिला पर अपनी विचार-धारा का भवन खड़ा किया। अहिंसा कोई
नया तत्व नहीं था। पर गान्धी जी के पहले सार्वजनिक अथवा सामाजिक
जीवन में इस तत्व का प्रयोग किसी ने नहीं किया था। व्यक्तिगत जीवन में
कतिपय सन्तों ने उसका प्रयोग अवश्य किया था, पर सब लोगों की यह धारणा
थी कि समाज और राष्ट्र अहिंसा पर न खड़े होकर हिंसा पर खड़े हैं। समाज
की स्थापना हिंसा, दण्ड या दमन पर निर्भर है। दण्ड व्यवस्था न हो तो समाज
टिक नहीं सकता। दण्ड की तरह भेद भी समाज और राष्ट्र के लिए आवश्यक
है। व्यावहारिक जीवन में इस प्रकार लोगों ने साम, दान, दण्ड और भेद इन
चार अंगों से युक्त नीति का समर्थन किया। गान्धी जी ने इनमें से दण्ड और
भेद को अनीति ठहराया। दान को साम का ही रूपान्तर बतलाया और साम
का तादात्म्य अहिंसा से किया। इस प्रकार उनके मत से समाज का आधार
अहिंसा हो सकती है। अभी तक जितने समाज हैं सबका आधार हिंसा-
सिद्धान्त रहा है। यहां तक कि साम्यवादी समाज का भी आधार हिंसा ही है।
पर गान्धी के मत की यह बहुत बड़ी नवीनता है कि इसने अहिंसा को ही
समाज तथा व्यक्ति या विश्वमात्र का आधार माना। यदि समाज, व्यक्ति
या विश्व में कभी युद्ध संभव होता है तो उसे गान्धी जी ने धर्मयुद्ध या सत्याग्र

के रूप में लेने को कहा। नैतिक युद्ध तथा विश्व की सर्वांगीण नैतिकता की कल्पना और उनको व्यवहार में यथाशक्ति पूर्णरूपेण लाना गान्धी जी के अतिरिक्त आज तक किसी के द्वारा सम्पन्न न हुए। इस कारण भले ही गान्धी जी के विचारों का क्रमबद्ध वर्णन कहीं न हो, भले ही उन्होंने किसी नये नैतिक तत्व का आविष्कार न किया हो, भले ही उनके कतिपय सिद्धान्त गलत कर दिये जाय, पर वे नैतिक दार्शनिक थे–यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है।

जैसे हिन्दी के सन्तों ने 'कथनी' और 'करनी' को एकरूप करने पर जोर देकर भारतीय संस्कृति का विकास किया, वैसे गान्धी जी ने 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्त से अर्थात् जैसा व्यक्ति में है वैसा समाज या विश्व में है, यह कह कर पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता पर जोर दिया और समाज की आदर्श व्यवस्था का आधार व्यक्तित्व में अपनायी गयी अहिंसा को ही बतलाया। आत्म-शोधन से ही उन्होंने सामाजिक अन्यायों को दूर करने का मार्ग बतलाया।

कुछ लोग गान्धी जी को केवल सुधारवादी, तो कुछ उन्हें समाजवादी कहते हैं। पर वास्तव में गान्धी जी अहिंसक क्रान्ति के अग्रदूत थे। वे केवल सुधारवादी नहीं थे और समाजवाद का जो अर्थ मार्क्सवाद में है उसको तो वे कभी मानते ही नहीं थे।

उनका नैतिक व्यक्तित्व, सत्य के उनके प्रयोग तथा उनके मार्ग से भारत का स्वराज्य प्राप्त करना, ऐसी बातें हैं जो सिद्ध करती हैं कि गान्धी जी बड़े नीतिज्ञ थे। नीति को सर्वोपरि शास्त्र समझना–राजनीति और अर्थशास्त्र को नीति से नियन्त्रित करना गान्धी जी की मुख्य शिक्षा थी, जिसका कभी इन्कार नहीं किया जा सकता है। इस सिद्धान्त का आज के राष्ट्रों में काफी सम्मान है। एशिया, यूरोप और अफ्रीका के कुछ बड़े राष्ट्रों ने इस सिद्धान्त को अंगीकार किया है और इसी से उत्पन्न 'पंचशील' या सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

भारतीय नीतिशास्त्र के इतिहास में भी गान्धी जी का नाम उल्लेख योग्य है। यहां पहले कर्म को नीति तत्व समझा गया और यज्ञादि के आधार पर समाज-रचना हुई। कर्म के बाद ज्ञान को महत्त्व मिला और ज्ञान या आत्म-ज्ञान को आधार बना कर पुनः समाज रचना की गई जो कर्म पर आधारित समाज का ही विकास थी। ज्ञान के बाद भक्ति का नम्बर आया। सन्तों ने भक्ति की मार्मिक विवेचना की और इसके आधार पर भारतीय समाज को मोड़ा। इस भक्ति के बाद गान्धी जी की सूझ से अहिंसा का आगमन हुआ और अहिंसा-शास्त्र के नाना तत्त्वों की खोज प्रारम्भ हुई। अभी तक

अहिंसा के आधार पर कहीं समाज रचना नहीं हुई है। पर भारत में प्रयोग जारी है और सफलता भी मिलती जा रही है। पूर्ण सफल होने पर ही यह मार्ग छिद्रान्वेषियों की समझ में आ सकता है।

गान्धी को कभी अतिरेकवादी (extremist) कहा जाता है। पर यह आलोचना उनके सत्याग्रह के आधार पर निर्मूल हो जाती है। अतिरेक है पर वह साध्य की पूर्ण प्राप्त होने की अवस्था है। जब तक वह न सधे तब तक हमें यथाशक्ति उसके समीप जाने का प्रयास करना चाहिए। ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, प्रभृति सभी गुणों के अतिरेक को ध्यान में रखते हुए भी गान्धी ने उनके सर्व-सुलभ रूप पर विशेष जोर दिया है।

साम्यवादियों का कहना है कि गान्धी के मत दकियानूसी, दीनता या गरीबी की शिक्षा देने वाले तथा सादगी पर जोर देने वाले हैं। इस मत से भौतिक सुख नहीं मिल सकता। गान्धी वस्तुतः भौतिक सुख के त्याग पर जोर देते हैं। इस आलोचना में कुछ सच्चाई है। गान्धी ने सादगी और दीनता प जोर दिया, पर उनके लिए जो धनी-मानी हैं, गरीबों के लिए नहीं। उन्हों वर्णों के बनाए रखने पर भी जोर दिया। इस कारण उनको दकियानूसी कहा जाता है। पर गान्धी जी वस्तुतः वर्ण-भेद की मूल भावना या इच्छा उच्छेद करना चाहते थे, न कि वर्ण-भेद को ही। उनका मत था कि वर्ण मिट जाने पर यदि उसकी भावना लोगों में बनी रही तो वे फिर पनप ज अतः उन्होंने वर्ण-भेद मिटाने की दिशा न देकर उसकी इच्छा या भाव ही मिटाना चाहते थे। शरीरश्रम, ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त और अस् निवारण इसी विचार से व्रत कहे गए इनमें से ट्रस्टीशिप को लेकर के विच.रों की बड़ी छीछालेदर की गई है। स्वयं ग.न्धी जी ने म.न. का समवितरण करने के लिए उनके नीतिशास्त्र में ट्रस्टीशिप है अभी दूसरा सिद्धान्त नहीं मिला है, इसीलिये यह मान्य है। अहिंस ज्यों-ज्यों पूर्ण होगी, त्यों-त्यों नये-नये सिद्धान्तों का आविष्कार होगा। वर्तमान नीतिशास्त्र को सिर्फ बचपन की अवस्था का नीतिशास्त्र बतलाते थे। अतः इसके विकास होने पर ट्रस्टीशिप के स्थान पर कोई दूसरा सिद्धान्त खोजा जा सकता है।

पढ़ने योग्य पुस्तकें

महात्मा गान्धी—धर्म-नीति
महात्मा गान्धी—गीता माता
विनोबा भावे—सर्वोदय विचार
[illegible]—गान्धी का दर्शन

तीसरा अध्याय

नीट्शे का नीति-शास्त्र

१—जीवन-वृत और दर्शन साहित्य

नीट्शे (पूरा नाम फ्रीडरिख विल्हेल्म नीट्शे) जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक है। उसका जन्म प्रशिया के सैक्सनी प्रान्त में राकेन ग्राम में १५ अक्तूबर १८४४ को एक अत्यन्त धार्मिक ईसाई परिवार में हुआ था। उसके बाबा और नाना अपने समय के सर्वश्रेष्ठ पादरी थे। यही नही, उसके पितृ-कुल के अधिकांश पूर्वज भी अपने-अपने समय के सर्वश्रेष्ठ पादरी थे। उसका पिता भी धर्मनिष्ठ ईसाई था और प्रशिया के राजवश का शिक्षक था। उसके घर के सभी सदस्य धार्मिक थे। इस वातावरण तथा वंशपरम्परा का प्रभाव नीट्शे के शैशव पर विशेष पड़ा। पर बोन और लाइपत्सिग विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के बाद जब उसका मस्तिष्क पूर्ण विकसित हुआ तो उसने ईसाइयत के ही नही, वरन् सभी धर्मों के ईश्वर का खण्डन किया। लोग उसको नास्तिक कहने लगे। उसने स्वय कहा—ईश्वर मर चुका है। ईसाइयत की कटु आलोचना जितनी उसने की उतनी आज तक किसी ने नही की। ईसा-शत्रु **Antichrist** नाम से उसने इस विषय के एक पठनीय ग्रन्थ की रचना भी की।

विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करते ही सन् १८६६ में वह स्विटजरलैण्ड के बेल विश्वविद्यालय में भाषा-विज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त हुआ। १८७० में उसने विश्वविद्यालय से छुट्टी लेकर फौज में भरती होकर रोगियो और घायलो की सेवा की। थोड़े समय बाद वह पुन. बेल में पढ़ाने आया। पर इस समय उसका स्वास्थ्य गिरने लगा था। स्वास्थ्य खराब होजाने के कारण ही उसने १८७६ में विश्वविद्यालय से त्याग-पत्र दे दिया। इसके बाद वह दस वर्ष स्विटजरलैण्ड तथा उत्तरी इटली में घूमता रहा, घोर एकान्त-वास करता रहा, पर स्वास्थ्य में कोई परिवर्तन न हुआ। जनवरी १८८६ में वह भारक मूर्च्छा का शिकार बन गया और तब से उसका दिमाग बिगड़ गया। वह पागलखाने में भेज दिया गया। उसकी मा ने—पिता तो जब वह ६ साल का था तभी मर गया था—उसको वहां से छुड़ाया और अपनी ...

में रखा। पर १८६७ में उसका भी देहान्त हो गया। उसकी बड़ी बहन–फ्राउ फारस्टर नीट्शे ने तब उसको अपने संरक्षकत्व में रखा। पागल की हालत में कभी-कभी वह अच्छा भी हो जाता था और न्यायसंगत वार्तालाप तथा पत्र-व्यवहार करता था। पर सामान्यतः वह पागल ही रहता था। ऐसी परिस्थिति में सन् १६०० में–१६ वीं शताब्दी के अन्त होते समय–उसका देहान्त हो गया।

दर्शन तथा साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों पर इस बाल-ब्रह्मचारी दार्शनिक की अमिट छाप है। इसकी मुख्य कृतियां हैं–ट्रेजेडी की उत्पत्ति (The Birth of Tragedy जरतुश्त ने कहा था (Thus Spake Zarathustra), शुभाशुभ के परे (Beyond Good and Evil), नैतिक आचारों की वंशावली (The Genealogy of Morals), शक्ति पाने की इच्छा (The Will to Power) ईसा-शत्रु (The Antichrist) और मानव को देखो (Ecce Homo)। जर्मन भाषा में नीट्शे का वही स्थान है जो ग्रीक भाषा में प्लेटो (अफलातून) का है। नीट्शे ने अपने बारे में स्वयं कहा है—भविष्य अतीत को 'नीट्शे से पूर्व' और नीट्शे से पश्चात्' इन दो भागों में बांटेगा। उसके कहने में अतिशयोक्ति है, पर बहुत कुछ सत्यता भी है। आधुनिक साहित्य और दर्शन के विविध वाद नीट्शे को अपना प्रवर्तक बतलाते है। मनोविश्लेषण, मूल्यवाद, प्रयोगवाद, अस्तित्ववाद, रहस्यवाद आदि सभी उसके दर्शन में ओत-प्रोत है।

पर अपने जीवन-काल में नीट्शे को ख्याति न मिल पाई थी। टेनो, ब्रन्डेज और स्ट्रिन्डेलवर्ग ने उसकी प्रशंसा की, पर तब जब कि वह उन्मत्त हो गया था। उसकी बहिन ने उसके बारे में काफी प्रचार किया। पर वह नीट्शे को समझ न पाई थी और अपने ही विचारों को उसका बनाकर प्रचार करती थी। उसने कहा–नीट्शे के विचार असंगत तथा श्लेषात्मक हैं। वस्तुतः वह नात्ज़ी विचारक है। फिर क्या था? हिटलर की निगरानी में जर्मन राष्ट्रीयता का जब प्रचार-प्रसार होने लगा तब नात्ज़ी विचार-धारा के मानने वालों का ध्यान नीट्शे की ओर गया और उन्होंने नीट्शे को अपना प्रभु मान लिया। उनके हाथों में जाकर नीट्शे नात्ज़ी, फासिस्ट, युद्ध तथा हिंसा का उपासक, अनार्यों का शत्रु, जर्मन राष्ट्रीयता का समर्थक, अनीति-प्रचारक, आदि क्या नहीं बन गया। ऐसे लोगों ने नीट्शे की कुछ कृतियों का प्रकाशन न होने दिया क्यों कि उनसे नीट्शे का विचार स्पष्ट हो जाता था। कुछ लोगों ने तो यहां तक कह डाला कि नीट्शे के वास्तविक विचार उसकी पाद-टिप्पणियों में हैं न कि उसकी पुस्तकों के आकार में। फल यह हुआ कि आज तक

यह भ्रम लोगों में फैला हुआ है कि नीट्शे अनाध्यात्मवादी, हिंसा का समर्थक और नाट्जी दार्शनिक है।

पर क्या सत्य को कोई छिपा सका है ? जैसे स्पिनोजा को ससार ने न समझ कर अपने अज्ञान का परिचय दिया था वैसे नीट्शे को भी। यह जानने का आज सफल प्रयत्न किया गया है कि नीट्शे के क्या वास्तविक विचार थे। अब लोगों को ज्ञात हुआ है कि नीट्शे सुकरात और गेटे का भी उतना ही भक्त था जितना सीजर और नेपोलियन का। वह नाट्जी और फासिस्ट नही था, वह था शुद्ध मानव जो मनुष्य की समस्त शक्तियों को प्राप्त करने की चेष्टा करता था। कला, धर्म और दर्शन के माध्यम से आत्मा की पूर्णता को प्राप्त करने की उसने भरसक कोशिश की, वह सच्चा द्रष्टा, मनीषी और नीतिज्ञ था। उसकी 'कथनी' पूरी 'करनी' थी। शक्ति का वह प्रेमी अवश्य था, पर यह शक्ति केवल भौतिक नही थी। वह सन्तो की शक्ति को भी बहुत बड़ी मानता था। वह युद्ध का हामी था अवश्य, पर वह भौतिक युद्ध नही था। वह आध्यात्मिक तथा नैतिक युद्ध था।

२—विकास का तात्पर्य

विल ड्यूरण्ट जैसे विद्वानो का कहना है कि नीट्शे डारविन का लड़का था। किन्तु यह कथन सर्वथा गलत है। नीट्शे डारविन के मतानुयायियो के 'पढ़े लिखे बैल' (Scholarly Oxen) कहता था। डारविन-विरोधी (Anti-Darwin) शीर्षक बना कर उसने लिखा—

१ सन्धिकालीन आकृतियां (Transitional forms) नही है।
२ प्रत्येक प्रकार (type) की सीमा नियत है। उसके बाहर विकास नही होता।

३. मानवता का विकास नहीं हो रहा है। हा उच्चतर मनुष्य अवश्य पैदा होते हैं। पर वे अपने को सुरक्षित नही रख पाते। मानवता का स्तर ऊचा नहीं हो रहा है। मानवता, पशुता सभी जातियों में उच्चतर व्यक्ति सरलता से नष्ट हो जाते हैं। सौन्दर्य तथा प्रतिभा का अस्तित्व क्षणिक है। समानता, उच्चता विरासत में नहीं मिलती।

४. उच्चतर जीव निम्नतर जीवो से निकलते हैं—इसका एक भी उदाहरण नहीं है। मैं नहीं जानता कि कैसे आकस्मिक परिवर्तन से विकास में लाभ होता है।

डारविन भौतिक विकासवादी हैं। नीट्शे भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तु में भेद नहीं करता। उसके मत में सभी वस्तुयें 'शक्ति पाने की इच्छा' की सृष्टि हैं। डारविन का सिद्धान्त है अस्तित्व के लिए संग्राम—अर्थात् अपने-अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जीवों तथा वस्तुओं में होड़ है। कुछ अन्य विकासवादियों का कहना है कि यह होड़ या संग्राम सन्तानोत्पत्ति के लिए है। नीट्शे का कहना है कि यह संग्राम शक्ति के लिए है। निर्बल या शक्तिहीन होकर कोई न जीना चाहता है और न जी सकता है। निर्बल सन्तान को भी कोई पैदा नहीं करना चाहता। अतः विश्वव्यापी संग्राम जीवन या सन्तानोत्पत्ति के लिए नहीं है, वह शक्ति के लिए है। 'योग्यतम सुरक्षित रहता है'—यह डारविन का सिद्धान्त था। नीट्शे के हाथों में यह "प्रबलतम या सबसे अधिक शक्तिशाली विकास का लक्ष्य है"—बन गया।

नीट्शे का मत है कि जो अन्त में आता है वही सर्वश्रेष्ठ नहीं होता है। ईसा, सीजर, सुकरात, गेटे, नेपोलियन जैसे मनुष्य शक्तिशाली थे। उनके बाद भी बहुत से मनुष्य उत्पन्न हुए। पर वे वैसे शक्तिशाली न हो सके। प्रगति या विकास का लक्ष्य शक्तिशालियों को उत्पन्न करना है। ये प्रगति की किसी भी अवस्था में उत्पन्न हो सकते हैं। नीट्शे का यह दृष्टिकोण अत्यैतिहासिक (Suprahistorical) कहा जाता है। यह डारविन तथा उसके अनुयायियों को मान्य नहीं है। यहां यह ध्यान रहे कि नीट्शे अत्यैतिहासिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण का परिहार नहीं करता। वह दोनों का समन्वय करता है। यह समन्वय—नित्य आवर्तन (Eternal Recurrence) का सिद्धान्त है। इसमें भी नीट्शे अन्य विकासवादियों से भिन्न है। नीट्शे के इस सिद्धान्त के अनुसार सभी घटनाएं अनन्त काल से घट रही हैं और घटती रहेंगी। विकास ऋजुरेखीय नहीं है। यह वृत्तात्मक है।

३—शक्तिवाद

विश्व नियत शक्तिकणों (Power Quanta) से बना है। ये सब परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध रखते हैं। इन्हीं में से कुछ शक्तिकण मनुष्य हैं।

प्रत्येक मनुष्य शक्तिशाली या बलवान् होना चाहता है। सबसे अधिक बलवान् मनुष्य को पैदा करना ही मानव समाज का कर्तव्य है। निर्बल मनुष्य मानव-समाज के भूषण न होकर दूषण हैं। निर्बल मनुष्य सबल मनुष्यों का विरोध करते हैं और उनकी उन्नति में रोड़े डालते हैं। पर शक्तिशाली होने की कामना सबको रहती है।

मनुष्य की प्रवृत्ति द्विविध है आसुरी और दैवी (Dionysian and Apolinian)। आसुरी प्रकृति के वशीभूत होकर वह विषय वासनाओं में लिप्त होता, क्रोध-द्रोह, लोभ-मोह आदि का शिकार बनता है। दैवी प्रकृति से वह आत्मसंयम या आत्मविजय करता है। आसुरी प्रकृति उसको भोग-विलास की ओर खींचती है और दैवी संयम की ओर। नीट्शे के मत से संस्कृति दैवी प्रकृति की आसुरी प्रकृति पर विजय का ही दूसरा नाम है। सच्ची नीति भी दैवी प्रकृति के अनुकूल आसुरी प्रकृति को सुधारना है। नीट्शे उन भोगवादियों से दूर है जो आसुरी प्रकृति के पूर्ण उपयोग को ही संस्कृति तथा नीति का क्षेत्र बतलाते हैं। अतः जो लोग कहते हैं कि नीट्शे का आदर्श मनुष्य खूंखार जानवर (Blond Beast) है, वे गलत हैं। नीट्शे ने आसुरी प्रकृति को दैवी प्रकृति से पृथक् करके कभी नहीं प्रोत्साहित किया। उसके मत से आसुरी प्रकृति का पूर्ण विकास दैवी प्रकृति के नियन्त्रण द्वारा ही हो सकता है। जो लड़ाकू या योद्धा या बलशाली होना चाहते हैं उन्हें अपनी आसुरी प्रकृति को नियन्त्रित तथा केन्द्रित करना पड़ेगा। उनके लिए भी आत्मसंयम आवश्यक है। इन लोगों में से सीजर तथा नेपोलियन नीट्शे के आदर्श हैं।

प्रायः नीट्शे आसुरी प्रकृति और दैवी प्रकृति के समन्वय पर ज़ोर देता है। उसके मत से कला तथा दर्शन में मनुष्य की इन दोनों प्रकृतियों का संयोग होता है। इस कारण कलाकार तथा दार्शनिक बहुत शक्तिशाली मनुष्य है। पर कभी-कभी वह दैवी प्रकृति के ही पूर्ण विकास पर ज़ोर देता है और आसुरी प्रकृति के पूर्ण नाश का समर्थन करता है। जिन लोगों ने आसुरी प्रकृति को नाश करके दैवी प्रकृति को सिद्ध कर लिया है उनको वह 'सन्त' कहता है। विश्वामित्र तथा ईसा को वह इसी कोटि में रखता है। भारतीय योगियों को भी वह ऐसा ही समझता है।

शक्तिशाली मनुष्य वही हो सकता है जो बुद्धिवादी या तार्किक हो, जो कभी भावुकतावश युक्तियुक्त बात को छोड़ न दे, जो प्रत्येक बात को युक्ति की कसौटी पर कसे, जो किसी वाद, सम्प्रदाय या मत में बंध कर युक्ति को सीमित न कर दे, जो सदैव अपने सिद्धान्तों को प्रयोग करता रहे, जो किसी रूढ़ि तथा परम्परा का वशवद न हो, जो मानवी शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता पर चाहे वह ईश्वरीय ही क्यों न हो विश्वास न करे, जो सदैव बुद्धि के दिखलाये हुए मार्ग पर चले और वैसा करने में यदि कुटुम्ब, मित्र, समाज, देश आदि से सम्बन्ध-विच्छेद करना पड़े तो वह भी कर दे।

शक्तिशाली जीवन ही अच्छा जीवन है। शक्तिशाली जीवन वह भावुक जीवन है जिसमें मनुष्य अपने भावों को अपने वश में कर लेता है। उसकी

इच्छा-शक्ति रचनात्मक(Creative)होती है। शक्तिशाली मनुष्य शील मनुष्य है। कर्त्ता या रचयिता के लिए यह आवश्यक नहीं है रूढ़ियों तथा परम्पराओं से जकड़ा रहे। वस्तुतः शक्तिशाली रचयि मुक्त होता है। वह अपने नियमों तथा निकषों को स्वयं उत्पन्न क प्रत्येक रचना नूतन आदर्शों की सृष्टि है। महान् कलाकार, सन्त या ऐसे आदर्शों की सृष्टि करते हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ऐ शाली रचयिता उच्छृंखल होते हैं। वे अपने को अपने द्वारा ही करते हैं। अपने आदर्शों का पालन करते हैं। वे स्वतन्त्र तथा श होकर भी अपने को अपने नियमों से शासित करते हैं।

नीट्शे का ऐसा ही आदर्श है अतिमानव।

४—अतिमानव (Superman या overman) का

अतिमानव मनुष्यमात्र का लक्ष्य है। वह सबसे बलशाली कभी-कभी लोग समझते हैं कि वह केवल महायोद्धा ही है। विवेचन से स्पष्ट है कि नीट्शे का अतिमानव महान् योद्धा ही महान् कलाकार, दार्शनिक तथा सन्त भी है। नीट्शे की उक्ति मानव में सीजर तथा ईसा दोनों के व्यक्तित्व की परिकल्पना है वह मनुष्य है जो सन्त तथा योद्धा है। उसे हम भारतीय योग दर्शन कह सकते हैं। क्योंकि यह ईश्वर मनुष्य के नैतिक आदर्श को वाला प्राणी है। इस प्रकार यद्यपि नीट्शे अनीश्वरवादी है त अतिमानव बहुत कुछ 'ईश्वर' है। वह प्रभु है, शक्तिशाली है। इ कर्त्ता तथा उपास्य नहीं है।

कुछ लोग समझते हैं कि जैसे मनुष्य पशुओं से विकसित अतिमानव मनुष्य से विकसित होगा। मनुष्य पशु तथा अतिम सेतु है। अतिमानव की जाति मनुष्य-जाति से वैसी ही भिन्न होगी जाति पशु-जाति से भिन्न है। पर यह मत भ्रान्त है। वास्तविक नीट्शे को समझने का यह पक्ष है।

नीट्शे का अतिमानव मनुष्य ही है। यह वह शुद्ध मनु पशुता लेशमात्र भी नहीं है, जिसमें मानवीय सभी शक्तियों क गया है। मानव इतिहास में ऐसे मनुष्य दिखलाई पड़ते हैं। आ सीजर, नेपोलियन, गेटे प्रभृति ऐसे ही थे। पर मध्य दृष्टि से

बतलाता है कि इनमें से किसी ने भी मानवता की समस्त शक्तियों को सिद्ध नहीं किया था। किसी को प्रतिभा मिली तो किसी को शारीरिक बल। किसी को दर्शन मिला तो किसी को कला या विज्ञान। निदान सच्चा अतिमानव अभी अनुत्पन्न है यद्यपि उसके समीप अनेक मानव पहुंच गए हैं। अतिमानव में बल, ज्ञान, कला तथा धर्म का पूर्ण विकास होगा। वह प्रत्येक दृष्टि से बलशाली होगा। उसी को उत्पन्न करना ही मानव समाज का ध्येय है, प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य है तथा हममें से अधिक बलशालियों का परम कर्तव्य है।

अतिमानव होने का अर्थ है बिखरे हुए भावों और प्रेरकों को सगठित करके जीतना तथा आचरण में 'शैली' की मुहर लगाना।

अपनी संजीवनी शक्ति को पूर्णतया सिद्ध करना, अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करना, अपने स्वास्थ्य (अपने में ही रहना—आत्मनिर्भरता) का लाभ करना, अपनी समस्त प्रवृत्तियों को मोड कर वह शक्ति पाना जिससे हम महान् स्रष्टा-द्रष्टा हो जाय, सक्षेप में आत्म-लाभ करना ही अतिमानव को प्राप्त करना है। अतएव अतिमानव मानवों से पूर्णतया भिन्न कोई दूरस्थ प्राणी नहीं है। भारतीय दर्शन में जो जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त है, वह नीट्शे के अतिमानव-सिद्धान्त से बहुत मिलता-जुलता है। अतिमानव किसी लक्ष्य का साधन नहीं है। वह नित्य साध्य है। उसका स्वतः मूल्य है।

नित्य आवर्तन का सिद्धान्त अतिमानव के सिद्धान्त से अपरिहार्य सम्बन्ध रखता है। अतिमानव की नित्य उपलब्धि सभव है। जैसे भारत में सभी ज्ञानी-भक्त जीवन्मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं अथवा ईश्वर यथावसर अवतार धारण करता है, वैसे नीट्शे के मत से मनुष्य नित्य अतिमानव भी हो सकते हैं।

५—शोधीकरण या आत्मसंयम

हम देख चुके हैं कि विशुद्ध मानव या अतिमानव बनने के लिए आत्म-सयम आवश्यक है। हमारे मनोवेग या भाव हमें अपनी शक्ति को प्राप्त करने में बाधा डालते हैं। शक्ति पाने की इच्छा मौलिक एषणा या भावना है। यही मुख्य प्रेरक (Drive) है। फ्रायड की कामवासना नीट्शे के मत से मौलिक नहीं है। आत्मसयम द्वारा भावों तथा प्रेरकों को शुद्ध करने में काम-वासना तिरोहित हो जाती है। अतः वह मौलिक प्रेरक नहीं है। शक्ति का अनुभव कामवासना के लिए भी आवश्यक है। वस्तुतः शक्ति का अनुभव

ही मुख्य है और काम वासना का अनुभव उसी का सायोगिक सहचर है कामवासना बुरी नहीं है, यद्यपि यह बुरी हो सकती है। इसको शुद्ध किया जा सकता है। इसी प्रकार मुख्य शक्ति-कामना है और अन्य सभी प्रेरक गौण हैं। कोई प्रेरक स्वगमेव बुरा नहीं है, यद्यपि वह बुरा हो सकता है। उसको शोधीकरण द्वारा शुद्ध किया जा सकता है।

किसी प्रेरक की हिंसात्मक प्रवृत्ति को रोकने के लिये नीट्शे के अनुभव में ६ विधियां आई थी—

१—प्रेरक की सन्तुष्टि के अवसरों से बचना,

२—प्रेरक की सन्तुष्टि को नियमित बनाना,

३—प्रेरक को हद से अधिक तृप्त करना तथा उससे घृणा उत्पन्न करना,

४—प्रेरक के साथ किसी दुःखद विचार को जोड़ देना, जैसे अपमान, दुष्परिणाम आदि, ताकि जब प्रेरक तुष्टि मांगे तो वह दुःखद विचार भी उसके साथ उठ जाय,

५. प्रेरकों को स्थानान्तरित करना। उनको उनके स्थानों से च्युत करना, तथा

६—प्रेरक को बिलकुल निर्बल तथा समाप्त कर देना।

अन्तिम विधि दमन है और शोधीकरण से भिन्न है। नीट्शे प्रायः इसका समर्थन नहीं करता। पर चूंकि कतिपय वैरागी ऐसा करके आत्मविजय प्राप्त करते हैं, अतः वह इसको भी आत्मसंयम में शामिल करता है। वस्तुतः पांचवी विधि ही शोधीकरण है। अपने ऊपर कठिन से कठिन कार्य-भार लेने से तथा सदैव नये-नये कार्य करते रहने से प्रेरकों तथा मूलवासनाओं का शोधीकरण हो जाता है। अन्य चार विधियां का इस विधि से अनुषंग है। बनमाली की भांति मनुष्य को अपन भाव-वृक्षों को काट-छांट कर, इधर-उधर स्थानान्तरित करके, अपनी शील-वाटिका में सजाना है। तभी शक्ति-शाली भाव-वृक्षों की उत्पत्ति होगी और फिर उनसे इसी प्रक्रिया द्वारा महामहिम अतिमानव का जन्म होगा।

इस प्रक्रिया में दो बातें विशेष उल्लेख योग्य हैं। पहली यह कि मनुष्य को यथार्थवादी बन कर वस्तुजात से प्रेम करना चाहिए। उसे भूत, भविष्य तथा सनातन समय में भी कभी वस्तुओं को बदलना न चाहिए उसके पैर पृथ्वी पर होने चाहिए और कटु वास्तविकता का साक्षात्कार करने के लिए उसमें साहस होना चाहिए।

दूसरी यह कि मनुष्य को आपत्तियों का सामना करते हुए यातनाओं को भोगना चाहिए। जितनी अधिक दु:ख-वेदना जिसको होगी, वह उतना ही अधिक स्रष्टा तथा बलवान् होगा। सुखवाद (Hedonism) नि:सार सिद्धान्त है। मनुष्य सुख नही चाहता, केवल अंगरेज सुख चाहता है। मनुष्य शक्ति चाहता है। शक्ति के लिए आत्मबलिदान करना पड़ता है। शक्ति से ही सुख होता है, सुख से शक्ति नही होती। सुख और दु:ख सदैव घुले-मिले रहते हैं। प्रत्येक सुख में दु:ख-दर्द है। सच्चा सुख-भाव दु:ख-प्रसव की वेदना के अनन्तर ही उत्पन्न होता है। सुख केवल शक्ति तथा आह्लाद (joy) का संघात है, वस्तुत: सुख का कोई स्वत: मूल्य नही है। मनुष्य को सुख भुला कर दु:खद से दु:खद कार्य करना चाहिए। मानवता को सन्देश है कि दु:ख-यातना उसके लक्ष्य का आवश्यक अंग है। वह शक्ति का अनुषंगी है। उसका स्वत: मूल्य है।

सुखवाद का यों खण्डन करते हुए नीट्शे ने आत्मबलिदान तथा दु:ख का पाठ पढ़ाया। इस विचार में वह अपने गुरु शोपनहावर से अधिक प्रभावित था क्योंकि दोनो ही दु:खवादी हैं।

६—मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन

नीट्शे ने अनुभव किया कि उसके समय में बुद्धिवादियों की आस्था ईश्वर में न थी। युग कह रहा था "ईश्वर मर गया है। हम लोगों ने ईश्वर को मार डाला है। यह महत्वपूर्ण घटना अभी जन-जन के कानों तक नहीं पहुंची है।" युग की इस पुकार को कितने सुनी-अनसुनी कर देते हैं। पर नीट्शे उनमें न था। उसने इसे स्वीकार किया। बुद्धिवाद अन्धविश्वास नहीं है, यह रूढ़िगत मूल्यों (Values) का मूल्यांकन (Valuation) नहीं है। बुद्धिवाद मूल्यों की अमूल्यता (disvalue) देखता है। वह नीति पर, गुणों पर, मूल्यों पर संशय करता है। उसमें प्रत्येक मूल्य अपना मूल्य समाप्त कर देता है (Values disvalue themselves)। ईश्वर का कभी मूल्य था। इस मूल्य का अब मूल्य नहीं रह गया। यह स्पर्श का ढकोसला हो गया, लोगों की बुद्धि को कुण्ठित करने का अस्त्र हो गया। इसकी आड़ में पापाचार, मिथ्याचार, कुरीतियां आदि होने लगे। अभी तक समाज और नीति की भित्ति ईश्वर था। सभी गुणों और मूल्यों का आधार ईश्वर था क्योंकि वही पाप-पुण्य की, मूल्य-अमूल्य की, कर्तव्य-अकर्तव्य की, कर्मफल तथा समाज कल्याण की व्यवस्था करता था। उसका अस्तित्व सन्दिग्ध हो जाने पर नीति का भवन धराशायी हो गया। अब आवश्यकता है कि नीति का

को अविचल मनोयोग से पूर्ण करना है। दूसरों के बारे में सोचना अपने मन में व्यर्थ बातों को भरना है जिससे अनिष्ट होने की बड़ी संभावना है। दया के सिद्धान्त के साथ-ही-साथ ईसाइयत 'पड़ोसी को प्रेम करो' की शिक्षा देता है। यह पड़ोसी-प्रेम और घातक है। यह संकुचित विचार है और विश्व-प्रेम में बाधा डालना है। 'घर फूक कर पड़ोसी की सेवा करना' अपनी शक्ति का अपव्यय करना है, इससे न अपना कल्याण हो सकता है और न पड़ोसी का ही। यदि लोग अपने प्रति कार्य करने के अतिरिक्त औरों को भी लाभान्वित करना चाहते हैं तो उन्हें दया-सहानुभूति और परिवेशी-प्रेम को छोड़ कर मैत्री करना चाहिए। मैत्री में दया-सहानुभूति तथा घर फूक कर औरों की सेवा नहीं होती। मित्र डाक्टर है। वह अपने मित्र के रोगों का निदान करता है और उसको वह दवा बतलाता है जिसको वह स्वयं करके अच्छा हो सकता है। मित्र यदि दुष्ट है तो वह उसको वैसे ही खत्म कर देता है जैसे डाक्टर असाध्य रोग से पीड़ित कुछ अंगों को। अपने प्रति तथा मित्रों के प्रति कठोरता आवश्यक है। इससे अपने तथा मित्रों को स्वयं पूर्ण करने तथा शिक्षित करने में मदद मिलती है। आलोचक होना चाटुकार होने से कहीं अच्छा है। निर्दय होना दयालु होने से श्रेयस्कर है। जो लोग अपने को पूर्ण करना चाहते हैं, उन्हें दया तथा परार्थवाद से कोसों दूर रहना चाहिए।

६ (ख) ईसाइयत की आलोचना के अतिरिक्त नीट्शे ने आधुनिक मूल्यवाद तथा रोमाण्टिसिज्म की भी आलोचना की। प्रथम का उल्लेख दोषीकरण के प्रसंग में हो गया है। संक्षेप में हम यहां दूसरे का उल्लेख करेंगे।

रोमांटिसिज्म स्वार्थवाद (egoism) तथा निर्बलता (Weakness) का योग है। रोमांटिक युक्तिहीन भावुक होता है। वह अपने को पूर्ण कैसे कर सकता है? पूर्णता के लिए तो भावों को जीतना पड़ता है।

रोमांटिसिज्म की परिभाषा देते हुए नीट्शे ने कहा—

प्रत्येक कला और दर्शन को हम जीवन-विकास तथा जीवन-संग्राम में काम आने वाली औषधि कह सकते हैं। उनकी पृष्ठभूमि में दुख तथा दुखी जन हैं। पर दुखी जन दो प्रकार के हैं—पहले वे जो जीवन की परिपूर्णता से दुख भोगते हैं और दूसरे वे जो जीवन के अभाव (या अपूर्णता) से दुख उठाते हैं। पहले लोग 'स्वान्त सुखाय' कला तथा दर्शन की रचना करते हैं। और दूसरे लोग कला तथा दर्शन रच कर अपना दुख दूर करते हैं। दूसरे प्रकार के लोगों का ही सिद्धान्त रोमांटिसिज्म कहा जाता है।

है, उनके द्वारा निर्धारित मूल्यों की समीक्षा, व्याख्या तथा सिद्धि करते हैं। ये लोग नए मूल्यों की सृष्टि नहीं कर सकते हैं। सच्चे दार्शनिक वे हैं जो द्रष्टा तथा धर्मकार होते हैं। वे विधान बनाते हैं, नूतन मूल्यों की सृष्टि करते हैं, नई मर्यादा स्थापित करते हैं। ऐसे लोगों की प्रतिभा सर्वतोमुखी तथा रचनात्मक होती है। वे प्रत्येक बात को स्वानुभूति की कसौटी पर कसते हैं। नीट्शे अपने को ऐसा ही दार्शनिक कहता है। ऐसे ही लोग मूल्यों का वास्तविक मूल्यांकन कर सकते हैं। प्रत्येक समय में सच्चे दार्शनिक को मूल्यों का सच्चा मूल्यांकन करना है।

नीट्शे का पुनर्मूल्यांकन मूल्यों का नया विधान नहीं है। मानव इतिहास में निर्धारित किए गए समस्त मूल्यों का अतरंग परीक्षण (Internal Criticism) द्वारा यह मूल्यांकन है और खरे उतरे हुए समस्त मूल्यों को मनसा वाचा, कर्मणा द्वारा पूरी तौर से मानव जीवन में उतारना है। पुनर्मूल्यांकन साहसपूर्ण चेतन होना है। यह अपने समय के सभी मूल्यों को विचार-शल्य से काट-काट कर परीक्षा करना है। यह मानवता का आत्म-परीक्षण है।

ईमानदारी, साहस, उदारता आत्म-संयम, सुशीलता और बौद्धिक ईमानदारी (Intellectual integrity) नीट्शे के मुख्य मूल्य हैं। इन सब मूल्यों का परिपाक अतिमानव के व्यक्तित्व में ही होता है।

७—स्वामी-नीति और दास-नीति

बहुत से मनुष्य जब समान परिस्थितियों में बहुत दिन रहते हैं, समान जलवायु, भूमि, खतरा, आवश्यकता और श्रम की परिस्थितियों में जीवन-यापन करते हैं, तो वे एक राष्ट्र या जाति की स्थापना कर देते हैं। इस प्रकार नीट्शे समान अनुभवों को, न कि रक्त को, राष्ट्र या जाति का कारण कहता है। कालान्तर में जिनके पास शक्ति रहती है उनका एक वर्ग हो जाता है और जिनके पास शक्ति नहीं रहती उनका दूसरा। समाज शक्तिमान् और निःशक्त, सबल और निर्बल दो वर्गों में बट जाता है। एक वर्ग के आचार-विचार दूसरे वर्ग के आचार-विचार से बिलकुल भिन्न रहते हैं। जो सबलों के लिये लाभदायक है वही निर्बलों के लिए हानिकर। सबल वर्ग शक्ति और हिंसा को गुण मानता है तो निर्बल वर्ग कमजोरी, दैन्य और अहिंसा को। सबल वर्ग के लोग प्रभुता प्राप्त करना चाहते हैं तो निर्बल वर्ग के लोग समता। पहला प्रभु होता है, शासन करता है, तो दूसरा दास रहता है और शासित होता है। पहला कुलीनतन्त्रात्मक शासन चाहता है तो दूसरा प्रजा-

तन्त्रात्मक। फल यह होता है कि स्वामी वर्ग या सबल वर्ग का नीतिशास्त्र निर्बल या दास वर्ग के नीतिशास्त्र का पूर्णतया उल्टा रहता है।

यह समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रचलित नीतिशास्त्र का वर्णन है। कुछ लोग इसका अर्थ यह लगा लेते हैं कि नीत्शे स्वामी-नीति का समर्थन करता है, नीत्शे का नीतिशास्त्र स्वामी-नीतिशास्त्र है। उसके मत में सबलों को निर्बलों का शोषण तथा शासन करना चाहिए। इससे बढ़ कर नीत्शे के विचारों का और क्या अनर्थ हो सकता है? सामान्यतः नीत्शे को इसी रूप में लोग समझते हैं। वह नीत्शे न होकर नात्सी हो गया है।

पर नीत्शे ने ऐसा कभी नहीं कहा। उसने केवल समाज का यथार्थ चित्रण करने के लिए स्वामी-नीति तथा दास-नीति का उल्लेख किया। उसका नीतिशास्त्र इन दोनों नीति-शास्त्रों से भिन्न है। उसके मत से सभी प्राणी शक्ति की कामना करते हैं। निर्बल भी सबल होना चाहते हैं। सबल बलवान से बलवत्तर होना चाहते हैं। सबसे बलवान् प्राणी अतिमानव होगा और वह शुभ तथा अशुभ के परे रहेगा। शुभ और अशुभ केवल तारि-

८—शक्तिवाद का मापदण्ड

नीट्शे का मत है कि मूल्यांकन का मापदण्ड शक्तिशाली व्यक्तियों में बुद्धि की मात्रा है। वह शक्ति का तारतम्य मानता है, शक्ति अल्पतम से अधिकतम होती है। शक्तिशून्य कोई जीव नहीं है। अतः शक्ति-शून्यता नहीं है। अधिकतम शक्ति से भी बढ़ कर अनन्त शक्ति है। अनन्त शक्ति उन सिद्ध पुरुषों में रहती है जो प्रकृति, ईश्वर, प्राणीमात्र पर अपना आधिपत्य रखते हैं। इन लोगों में से गौतम बुद्ध एक है—ऐसा नीट्शे का विचार था। न्यूनतम शक्ति जगत् की निर्जीव समझी जाने वाली वस्तुओं में है। उनसे अधिक शक्ति पौधों, वृक्षों, कीड़ों, पक्षियों और पशुओं में है। ये सब भौतिक शक्ति के न्यूनाधिक्य हैं। पशुओं से अधिक मनुष्यों की शक्ति है। मनुष्य विवेकशील तथा नैतिक है, वह बुद्धिमान् है। अतः उसकी शक्ति उसकी बुद्धि की अधिकता पर निर्भर है। मनुष्य में यदि पाशविक शक्ति अधिक है और बौद्धिक शक्ति न्यून है, तो वह शक्तिशाली मानव नहीं कहा जा सकता। सच्चे मानव में पाशविक शक्ति बिलकुल नहीं रहती है या रहती है तो वह उसकी बौद्धिक शक्ति से नियन्त्रित रहती है। बौद्धिक शक्ति में भी तारतम्य होता है। सबसे अधिक बौद्धिक शक्ति वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों में होती है। बौद्धिक शक्ति भी रचनात्मक होती है। रचनात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति प्राय. कलाकारों के व्यक्तित्व में होती है। कलाकार तथा दार्शनिक इस प्रकार मानवों में सबसे शक्तिशाली व्यक्ति हैं। पर इनसे भी शक्तिशाली सन्त हैं जिनमें आध्यात्मिक शक्ति की पराकाष्ठा रहती है। सन्तों में कुछ भावों का दमन करके, वैराग्य ग्रहण करके, आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करते हैं। इनसे भी शक्तिशाली वे सन्त हैं जो भावों को शिथिल करते हैं और उनको शुद्ध करके उनका पूरा उपयोग अपने व्यक्तित्व के विकास में लेते हैं। सबसे शक्तिशाली वे सन्त हैं जिनमें पशुता नाममात्र की नहीं है।

इस प्रकार शक्ति के तारतम्य से मनुष्य को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है। जिसमें जितनी शक्ति होगी वह उतना ही अच्छा मानव है; जिसमें जितनी कम शक्ति होगी वह उतना ही बुरा मानव है। इस मापदण्ड में केवल भौतिक (शारीरिक), आर्थिक, सैनिक तथा राजनैतिक शक्तियों का ही उल्लेख नहीं है, इसमें बौद्धिक, साहित्यिक और आध्यात्मिक शक्तियों का भी समावेश है। अतः जो लोग समझते हैं कि नीट्शे केवल सैनिक तथा राजनैतिक शक्ति के अनुसार ही अच्छाई-बुराई को नापता है, वे भूल करते हैं। नीट्शे मनुष्यों के लिए बौद्धिक शक्ति को अनिवार्य समझता है। भौतिक शक्ति तथा बौद्धिक शक्ति में विजातीय भेद है; इनमें केवल मात्र

वियों तथा कलाकारों की शक्ति को भी प्रशंसा की, क्यो कि वे भी अ
चना तथा अनुभूति द्वारा शक्तिशाली बनते है । इन सब आदर्शों को
र उसने महामानव या अतिमानव की कल्पना की, जिसमें मनु
मस्त तत्वों का परिपाक रहता है । उसने भगीरथ प्रयत्न किया कि
अतिमानव के निकट हो जाय और कहना नही होगा कि इसमें उसको
ता भी काफी मिली । यदि नीट्श को समझने का प्रयास किया जाय तो
उसी अर्थ में बडा दार्शनिक सिद्ध होगा जिस अर्थ में कि सुकरात,
स्पिनोजा, याज्ञवल्क्य, शकर आदि हैं ।

नीतिशास्त्र को उसने नैसर्गिक आधार पर स्थापित किया ।
पहले का नीतिशास्त्र सामान्यत ईश्वरीय था । उसने प्रभुत्व या शक्ति
कामना पर अपने नीतिशास्त्र को खड़ा किया । इस कामना का
मनोविज्ञान स्वयं देता है । नीतिशास्त्र को उसने सापेक्ष तथा मूल्यांक
निर्भर बतलाया । प्रत्येक युग में नूतन मूल्यांकन होते हैं और होंगे
सिद्धान्त की उसने खोज की । नीति के परे की भी अवस्था का उसने अ
किया और वेदान्त तथा बौद्ध दर्शन से इस ओर उसने शिक्षा ली ।

पर चूंकि उसकी भाषा काव्यमय है और कभी-कभी वह सूत्रो में लि
हैं, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति के नाना अर्थ लगाए गए । शक्ति के सि
को ठीक न समझने के कारण वह नाट्जी और रोमाटिक कहा
ईसाइयत की आलोचना करने के कारण वह अध्यात्मवाद का शत्रु कह
है । पर वास्तव में ये सब नासमझी के फल है ।

आजकल प्राय: वह अपने व्यक्तिवाद के कारण दर्शन-जगत् में
है । वह आध्यात्मिक या तात्त्विक व्यक्तिवाद का वैसे ही समर्थन क
जैसे लाइबनीज ने किया था । नीतिशास्त्र में भी वह सच्चा व्यक्तिवा
पर जिस व्यक्तिवाद का लक्ष्य अतिमानव है और जो अतिमानव मह
अर्थात् सब पर सबसे अधिक शक्ति रखने वाला है, उस व्यक्तिवाद
बुरा व्यक्तिवाद नही कह सकते । इसका सच्चा अर्थ यह है कि प्रत्येक
पूर्णतया स्वतन्त्र है और उसका लक्ष्य अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करन
प्रत्येक मनुष्य बलवान् से बलवान् हो सकता है बशर्ते कि वह प्रयास
यह स्वतन्त्रता का पाठ है । इस सुन्दर और सत्य सिद्धान्त की नीट्शे ने
सुन्दर भाषा में अभिव्यक्ति की है कि जब तक हमारी सभ्यता जीती
तब तक उसके ग्रन्थों का अध्ययन होता रहेगा, लोग स्वतन्त्रता प्राप्त क

लिए सामाजिक होंगे और स्वतन्त्रता के विरोधी सभी सिद्धान्तों
करते रहेंगे।

पढ़ने योग्य ग्रन्थ

वाल्टर काउफमन—नीट्शे (अंग्रेजी में)

चौथा अध्याय

मार्क्स का नीतिशास्त्र

१. मार्क्स का जीवन-वृत्त

कार्ल मार्क्स का जन्म प्रशिया के ट्रीर शहर में ५ मई १८१८ को हुआ। उसका पिता वकील था। वह यहूदी था पर १८२४ में प्रोटेस्टेण्ट (ईसाइमत की एक शाखा का अनुयायी) हो गया था। यह परिवार समृद्ध था। अपने शहर में प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् मार्क्स ने बोन और बर्लिन के विश्वविद्यालयों में क्रमशः शिक्षा पाई। यहां उसने विधिशास्त्र (jurisprudence) इतिहास तथा दर्शन का अध्ययन किया। १८४१ में बर्लिन विश्वविद्यालय से उसको डाक्टर की उपाधि मिली। उसकी थीसिस (शोध प्रबन्ध) का विषय था "डेमाक्रिटस (यूनान का एक भौतिकवादी दार्शनिक) और इपिक्यूरस (यूनान का एक भौतिकवादी दार्शनिक) के प्रकृतिवादी दर्शनों में अन्तर।" इस प्रबन्ध को उसने हेगल (जर्मनी का एक प्रत्ययवादी दार्शनिक) के दृष्टिकोण से लिखा था। इस समय वह हेगल के आदर्शवाद या प्रत्ययवाद को मानता था। पर शीघ्र ही वह वामपक्षी हेगलवादी अर्थात् भौतिकवादी बन गया और इसके अनन्तर वह फायरबाख (जर्मनी का एक उग्र भौतिकवादी) का अनुयायी हो गया। अपने इन विचारों के कारण उसको किसी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर का पद न मिल सका। कलोन से १८४२–४३ में उसने जर्मन भाषा में एक क्रान्तिकारी दैनिक पत्र का सम्पादन किया। अपनी नीति के कारण यह पत्र शीघ्र सरकार द्वारा बन्द करा दिया गया। उस समय पेरिस यूरोप में क्रान्तिकारियों का गढ़ था। मार्क्स वहीं चला गया। और क्रान्तिकारियों का नेता बन गया। वह अपने को साम्यवादी कहने लगा। यहीं फ्रीडरिक एंजेल्स से उसकी प्रगाढ़ मैत्री हुई। मार्क्स और एंजेल्स दोनों ही आज साम्यवाद के संस्थापक माने जाते हैं क्यों कि वस्तुतः इन्होंने ही विश्व का साम्यवाद को जन्म दिया। १८४८ में दोनों ने मिलकर साम्यवादी घोषणा-पत्र (Communist manifesto) को प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ इनके विचारों की, साम्यवाद की, सुन्दर अभिव्यक्ति करता है। मार्क्स की सर्वश्रेष्ठ कृति का नाम

कपिटल है और इन्जेल्स की प्रधान रचना एण्टी-डूरिंग है। ये दोनों ग्रन्थ मार्क्स के सिद्धान्तों के 'वेद' हैं।

यद्यपि मार्क्स भौतिकवादी था तथापि वह अपने आदर्शों को कार्यान्वित करने के लिए सदा ही प्रयत्न करता था। जीविका-निर्वाह के लिए उसे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख लिखने पड़ते थे। क्रान्तिकारी होने के कारण उसे देश से निकाल दिया गया। पेरिस से भी निकाल दिए जाने पर वह बेल्जियम गया और वहां से निकाले जाने पर वह फिर पेरिस आया। पर पेरिस में उसका रहना असंभव हो गया। अन्त में वह लन्दन गया और वहीं १४ मार्च सन् १८८३ को उसका देहान्त हो गया। वह बहुत ही व्यावहारिक मनुष्य था। अपने जीवन का अधिकांश समय उसने व्यावहारिक राजनैतिक कार्यों में लगाया। उसने सर्वप्रथम अन्तरराष्ट्रीय श्रमजीवियों के संघ को स्थापित तथा संचालित किया। उसने हमेशा राजनैतिक शरणार्थी का ही जीवन बिताया। लन्दन में वह करीब ३० साल रहा। उसके सात बच्चे थे। जिनमें से कुछ बचपन में ही मर गए थे। वह बड़ी गरीबी में रहता था। कभी-कभी भोजन भी दुर्लभ हो जाता था।

मार्क्स के ऊपर जर्मन द्वन्द्वन्याय, फ्रांसीसी समाजवाद, अंग्रेजी अर्थशास्त्र-राजनीति शास्त्र और यूनानी भौतिकवाद का बड़ा प्रभाव पड़ा। ये ही उसके विचारों के उत्स हैं। इन सब को समन्वित करने के कारण उसका विचार-दर्शन उसके अनुयायियों के मत से आज सर्वश्रेष्ठ दर्शन हो गया है। उसके विचारों को मार्क्सवाद की संज्ञा दी जाती है।

२ मार्क्सवाद का ऐतिहासिक परिचय

मार्क्स ने पहले अपनी विचारधारा को साम्यवाद कहा। बाद में उसने इसे समाजवाद कहा। उसके पूर्व जो फ्रांसीसी समाजवाद था वह द्वन्द्वन्याय और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर निर्भर नहीं था। मार्क्स का साम्यवाद या समाजवाद हेगेल के द्वन्द्वन्याय तथा अंगरेजी राजनीति और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित है। १९१४-१८ के विश्व-युद्ध में उसके अनुयायियों में दो वर्ग हो गए। एक वर्ग युद्ध का समर्थन करता था और दूसरा विरोध। लेनिन जो रूस का प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता था, दूसरे वर्ग में था। इस मतभेद के फलस्वरूप लेनिन का वर्ग अपने को साम्यवादी और दूसरा वर्ग समाजवादी कहने लगा। तभी समय से समाजवाद और साम्यवाद में अन्तर होने लगा। समाजवादी साम्यवादी दोनों का आदर्श वर्तमान पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के .. पर वर्गहीन समाज की स्थापना करना है। दोनों में भेद यह है कि

समाजवादी शनैः शनैः पूंजीवादी समाज व्यवस्था में सुधार करते-करते शान्तिपूर्ण ढंग से वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहता है तो साम्यवादी संघर्ष और क्रान्ति द्वारा यकायक उस समाज को लाना चाहता है। समाजवादी सुधारवादी हैं तो साम्यवादी उग्र क्रान्तिवादी। दोनों अपने को मार्क्सवादी कहते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी बहुत से ऐसे मार्क्सवादी हैं जो उसके समाजवाद या साम्यवाद से ईसाइयत या किसी धर्म का सामजस्य स्थापित करते हैं या इसका वह अर्थ करते हैं जो लेनिन के साम्यवाद में नहीं है। लेनिन ने इन सब मार्क्सवादियों की कटु आलोचना की और मार्क्सवाद के कई सिद्धान्तों को विकसित किया। उसने रूस में साम्यवाद की स्थापना की। मार्क्स, एन्जेल्स और लेनिन—ये ही तीन साम्यवाद के मुख्य दार्शनिक और विचारक हैं। आज इन्हीं तीनों की परम्परा में विकसित विचार-धारा को सच्चा मार्क्सवाद कहा जाता है। लेनिन के बाद भी इस विचार-धारा का विकास और महत्त्व रूस में दिन-दिन बढ़ता जा रहा है।

३. क्या मार्क्सवाद में नीति की उपेक्षा है ?

मार्क्सवादी नीति शास्त्र की रूपरेखा

बहुतेरों का कहना है कि मार्क्सवाद में द्वन्द्वन्यायनिष्ठ भौतिकवाद (Dialectical Materialism), ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism), और मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour theory), क्रमशः तत्त्वदर्शन (Metaphysics), समाज-दर्शन (Social philosophy) और अर्थशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं, पर उसमें नीति के बारे में कोई विशेष सिद्धान्त नहीं है। ऐसे लोगों को ही ध्यान में रखकर लेनिन ने कहा—

"क्या साम्यवादी नीतिशास्त्र नाम की कोई चीज है ? क्या साम्यवादी नीति नाम की कोई वस्तु है ? निःसन्देह यह है। प्रायः यह बतलाया जाता है कि हमारा अपना कोई नीतिशास्त्र नहीं है। बहुधा मध्यवित्तीय वर्ग कहता है कि हम सब प्रकार के नीतिशास्त्र का खण्डन करते हैं। उनका यह तरीका विचारों को भ्रष्ट करना है, श्रमिकों तथा कृषकों की आंख में धूल झोंकना है।

किस अर्थ में हम नीति तथा नीतिशास्त्र का खण्डन करते हैं ? जिस अर्थ में मध्यवित्तीय वर्ग इसकी शिक्षा देता है, जो ईश्वरीय आदेशों में नीतिशास्त्र को आविर्भूत करता है। हम निःसन्देह कहते हैं कि हम ईश्वर में विश्वास

नहीं करते। हम पूर्णतया जानते हैं कि ईश्वर के नाम पर पादरी, राजे-नवाब तथा मध्यवित्तीय वर्ग अपने गर्हित स्वार्थों की पूर्ति करते हैं, जनता का शोषण करते हैं। यदि वे लोग ईश्वरीय आदेशों से नीतिशास्त्र को नहीं निकालते, तो वे कुछ आदर्शवादी सिद्धान्तों से नीतिशास्त्र की उत्पत्ति बतलाते हैं। यह भी ईश्वरोक्त नीतिशास्त्र के सदृश ही है।

जो भी नीतिशास्त्र मानव समाज और वर्गों से पृथक समझा जाता है, हम उसका खण्डन करते हैं। हम कहते हैं कि यह धोखाधड़ी है, श्रमिकों और कृषकों के मस्तिष्कों को पूंजीपतियों तथा भूपतियों के स्वार्थ के लिए तिमिराच्छन्न करना है।

हम कहते हैं कि हमारा नीतिशास्त्र सर्वहारा वर्ग (The proletariat) के वर्ग-संघर्ष (Class struggle) के स्वार्थों के अधीन है। हमारी नीति सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष के स्वार्थों से निकली हुई है।

प्राचीन समाज का आधार भूपतियों और पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों तथा कृषकों का शोषण था। हमें इसे नष्ट करना है, भूपतियों और पूंजीपतियों को उखाड़ फेंकना है। इसके लिए हमें एक होना है। ईश्वर इस एकता को नहीं पैदा कर सकता है।

जो शोषक समाज को नष्ट कर, जो श्रमिकों को संगठित करे, जो साम्यवादी समाज की स्थापना करे वही नीति है। (बाकी सब अनीति है)।

साम्यवादी नीति वह नीति है जो वर्गसंघर्ष में उपयोगी है, जो शोषकों के विरोध में श्रमिकों को एकता के सूत्र में बांधती है।।...जब लोग हमसे नीति के बारे में पूछते हैं तो हम कहते हैं कि साम्यवादियों के लिए शोषकों के विरोध में ठोस, एकीकृत तथा चेतनोन्मुख (Conscious) सार्वजनिक संघर्ष करना है। हम नित्य या सनातन नीतिशास्त्र में विश्वास नहीं करते। हम नीति के बारे में प्रचलित सभी झूठी कहानियों की धोखेबाजी को सिद्ध करते हैं। नीति मानव समाज को उन्नतर स्तर पर ले जाती है। यह श्रम के शोषण को दूर करती है।

...साम्यवादी (Communist) नीति का आधार साम्यवाद की पूर्ण सिद्धि तथा संगठन के लिए संघर्ष है।

साम्यवादी (Communist) कौन है? कम्यूनिस्ट (Commu-) लटिन भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है सर्वगत (Common)।

म्यवादी समाज वह समाज है जिसमें सभी वस्तुयें—भूमि, कारखाने दि–सर्वगत आधिपत्य में हों और लोग साथ-साथ सबके लिए काम करते । यही साम्यवाद है।"

यह लम्बा उदाहरण लेनिन द्वारा युवक समाज (The youth League) में दिए गए भाषण से लिया गया है। यह मार्क्स के नीतिशास्त्र र प्रचुर प्रकाश डालता है। इससे स्पष्ट है कि मार्क्सवाद या साम्यवाद में नीतिशास्त्र है और यह प्राचीन सभी नीतिशास्त्रों से भिन्न है। प्राचीन नीतिशास्त्र या तो व्यक्तिवादी था और या तो एक वर्गीय। वह एक व्यक्ति या वर्ग के कल्याण पर जोर देता था। उसका विषय सर्वजन कल्याण नहीं था। वह ईश्वरीय नियमों और आदेशों से निकाला जाता था। उसमें मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर में मिलना या ईश्वर के सदृश होना था। साम्यवादी नीतिशास्त्र में ईश्वर का कोई मूल्य नहीं है। वह न तो एक व्यक्ति और न तो एकवर्ग के कल्याण पर जोर देता है। कुछ लोग कह सकते हैं कि साम्यवादी नीतिशास्त्र तो सर्वहारा वर्ग (proletariat) के हित पर ही जोर देता है और अन्य वर्गों का नाश करता है। इस तरह वे कह सकते हैं कि साम्यवादी नीतिशास्त्र भी एकवर्गीय है। पर यह समझना भूल है। वस्तुत. जब समाज में वर्गभेद रहेंगे तब तक एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करेगा और नीति एकवर्गीय होगी। साम्यवादी नीति शास्त्र सब वर्गों को हटाकर सिर्फ सर्वहारा वर्ग की ही स्थापना करती है। सर्वहारा वर्ग वस्तुतः वर्ग न होकर समाज हो जाता है क्यों कि इस समाज में सभी श्रमिक हैं, कोई किसी भी अर्थ में शोषक नहीं है। अत यदि सभी सामाजिक व्यक्ति श्रमिक हो जाते हैं तो वस्तुतः वर्ग-भेद मिट जाता है, शोषण नष्ट हो जाता है और सब लोग सब लोगों के लिए परस्पर श्रमपूर्वक काम करते हैं। इस प्रकार साम्यवादी नीतिशास्त्र एकवर्गीय नहीं कहा जा सकता। वह पूंजीपतियों के वर्ग का विरोध इसलिए करता है कि यह वर्ग सार्वजनिक कल्याण में बाधक है। साम्यवादी शोषक वर्ग को मिटाना चाहता है, इस वर्ग के व्यक्तियों को नहीं। इन व्यक्तियों को वह सर्वहारा वर्ग के श्रमिक बनाना चाहता है। पर चूंकि ऐसे व्यक्ति स्वेच्छा से श्रमिक नहीं बन सकते और जब तक इनके साथ संघर्ष न किया जाय तब तक ये अपने वर्ग को समाप्त नहीं कर सकते, इस कारण साम्यवादी इस वर्ग के प्रति विद्रोह करता है। वह इस वर्ग के आय के साधनों को इस वर्ग से लेकर जनता के हाथ में कर देता है। इनकी सम्पत्ति को जनता में वितरित करता है।

मार्क्सवादी प्राचीन सभी नीतिशास्त्रों का खण्डन करता है। इस कारण

प्राचीन नीतिशास्त्र के मानने वाले कहते हैं कि मार्क्सवाद का अपना कोई नीतिशास्त्र नहीं है। पर यह भ्रान्त धारणा है। मार्क्सवाद जैसा कि ऊपर बतलाया गया व्यक्तिवादी और एकवर्गीय नीतिशास्त्र का विरोधी है और समाजवादी नीतिशास्त्र की व्यवस्था करता है। उसके अनुसार प्राचीन नीतिशास्त्र वस्तुतः अनीतिशास्त्र या असत् शास्त्र था। वह शोषण पर आधारित था। वह एक व्यक्ति या एक वर्ग का कल्याण अन्य व्यक्तियों के कल्याण का त्याग करते हुए करता था। वह नित्य (eternal) था। पर मार्क्स ने दिखला दिया कि प्राचीन नीतिशास्त्र वस्तुतः नित्य नहीं था। वह अनित्य था। समाज जैसे-जैसे प्रगति करता गया वैसे-वैसे नीति के नियम भी बदलते गए। वस्तुत. कोई नीतिशास्त्र नित्य नियमों को नहीं दे सकता है। सभी नीतिशास्त्र सापेक्ष हैं, न कि निरपेक्ष। वे अपने समय के समाज पर निर्भर रहते हैं।

मार्क्सवादी नीतिशास्त्र प्राचीन नीतिशास्त्रों को बिलकुल व्यर्थ या निःसार नहीं बतलाता। वह उनको उस समय के लिए उपयोगी तथा आवश्यक मानता है जिस समय कि उनकी रचना की गई थी। वर्तमान युग के लिए वह उन्हें अनावश्यक और अनिष्टकर बतलाता है। पर वह यह भी कहता है कि प्राचीन नीतिशास्त्र का साम्यवादी नीतिशास्त्र से द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। यदि प्राचीन नीतिशास्त्र न होता तो साम्यवादी नीतिशास्त्र भी नहीं होता। साम्यवादी नीतिशास्त्र प्राचीन नीतिशास्त्र का ही निषेध, विकास तथा परिपाक है। प्राचीन नीतिशास्त्र के सम्प्रदायों में कम से कम-व्यक्ति के कल्याण से लेकर अधिक से अधिक व्यक्तियों के कल्याण तक की बात कही गई है। इससे साफ जाहिर है कि प्राचीन नीतिशास्त्र शनैः शनैः विकास करता रहा। मार्क्सवाद में अधिक से अधिक व्यक्तियों के कल्याण की बात नहीं है। इसमें समाज मात्र के कल्याण का विषय है। इसमें किसी भी सामाजिक प्राणी का कल्याण भुलाया नहीं गया। पर यह न समझना चाहिए कि मार्क्सवाद का नीतिशास्त्र सभी व्यक्तियों के कल्याण पर ही जोर देता है। वस्तुतः मार्क्सवाद व्यक्तियों को समाज की इकाई नहीं मानता, प्राचीन नीतिशास्त्र मानते थे। मार्क्सवाद परिवार, वर्ग आदि को समाज की इकाई मानता है। इस कारण इसमें व्यक्ति-कल्याण की बात ही नहीं है। इसमें समाज-कल्याण की बात है। पर समाज सुखी रहने से उसके व्यक्ति अवश्य सुखी रहेंगे।

मार्क्सवाद नीतिशास्त्र को प्रायः सर्वहारावर्गीय मानववाद (proletariat Humanism) या समाजवादी मानववाद (Socialist

Humanism) कहा जाता है। मानववाद प्राचीन नीतिशास्त्रों में भी मिलता है। प्लेटो और अरिस्टाटिल के सिद्धान्त भी मानववाद थे। वर्तमान युग में भी उनके मतों का जीवनोद्धार या विकास करके मानववाद का समर्थन किया गया। पर इस मानववाद और समाजवादी मानववाद में बड़ा अन्तर है। यह मानववाद वर्तमान या अतीत की समाज-व्यवस्था को ही बेहतर करता है, समाजवादी मानववाद दोनों का विरोध करके भावी वर्गहीन समाज की स्थापना करता है। इस कारण यह प्रगतिशील मानववाद कहा जा सकता है जब कि साधारण मानववाद अतीतवादी या वर्तमानवादी है। साधारण मानववाद में समाजवादी मानववाद के प्रतिकूल सभी मनुष्यों की आर्थिक समता पर जोर नहीं है और यह शोषक और शोषित वर्गों को उत्पन्न करता है।

मार्क्सवाद के नीतिशास्त्र को समझने के लिए उसके आधारभूत द्वन्द्वन्यायनिष्ठ भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिक को समझना आवश्यक है क्यों कि इसमें सभी सिद्धान्त परस्पर ओत-प्रोत रहते है और किसी एक प्रश्न का हल करने के लिए उसकी चारों तरफ से सर्वांगीण विवेचना करनी पड़ती है।

४. मार्क्सवादी नीतिशास्त्र की तात्त्विक पृष्ठभूमि

द्वन्द्वन्यायनिष्ठ भौतिकवाद—मार्क्सवाद भौतिकवाद है। यह जड़ पदार्थ और जड़ जगत के अस्तित्व को चेतन जीवों के अस्तित्व से पृथक तथा पूर्व मानता है। ईश्वर-तत्त्व इसमें है ही नहीं। जगत का विकास स्वयमेव मूल जड़ पदार्थ से लेकर चेतन और नैतिक मानव प्राणियों तक हो रहा है। इस विकास में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। पहले इस विकास में जड़ जगत ही था। तब तक मनुष्यों का भी इसमें कोई योगदान नहीं था। विकास होते-होते मानवों की उत्पत्ति हुई। उनमें चेतनता जो मूलतः सामाजिक है, आयी। सामाजिक चेतनता ने ही नैतिक जागृति या नैतिक चेतनता का जन्म दिया। जब से मनुष्यों के समाज की उत्पत्ति हुई तब से जगत्-विकास में इसका योगदान है। विकास में पूर्वापर वस्तुओं के सम्बन्ध के विषय में तीन उल्लेख योग्य नियम है—

१ विधर्मियों के पारस्परानुप्रवेश का नियम—इसे विधर्मियों के एकत्व और संघर्ष का नियम भी कहते है। सभी सत् वस्तुयें विरोधी तत्त्वों

और शक्तियों के संघात है। वे नित्य परिवर्तनशील या परिणामी हैं। उनकी अवस्थायें कभी बिलकुल एकरूप नहीं हैं। पूर्व की अवस्थायें उत्तर की अवस्थाओं से भिन्न और अभिन्न दोनों हैं। उत्तर की अवस्थाओं में पूर्व की अवस्थाओं का अनुप्रवेश है। सभी वस्तुओं के अस्तित्व भी इसी प्रकार परस्पर अनुप्रविष्ट हैं। इस नियम से मार्क्सवादी नीतिशास्त्र गहरी शिक्षा लेता है। वह मनुष्यों के अस्तित्व को पृथक्-पृथक् नहीं मानता। सभी मनुष्यों की सत्ता का परस्पर में अनुप्रवेश है। अर्थात् राम का अस्तित्व श्याम के अस्तित्व में है और श्याम का अस्तित्व राम के अस्तित्व में। समाज में जितने मनुष्य हैं सबके अस्तित्व परस्पर ओत-प्रोत हैं। इस कारण एक का कल्याण भी सबके कल्याणों में ओत-प्रोत है। किसी मनुष्य का कल्याण अन्य सभी मनुष्यों के कल्याण से पृथक नहीं है। समाज का कल्याण समस्त व्यक्तियों के कल्याण से भिन्न नहीं है।

इस नियम के फलस्वरूप मार्क्सवादी केवल सामाजिक कल्याण का ही नैतिक सिद्धान्त नहीं खोजता, वरन् वह सामाजिक कल्याण को मनुष्य की सब क्रियाओं से ओत-प्रोत भी करता है। मनुष्य की क्रियाओं में अर्थोपार्जन की क्रियायें प्रधान हैं। अतः इनका सामाजिक कल्याण से अपरिहार्य सम्बन्ध है।

मनुष्य की सभी क्रियाओं के परस्परानुप्रवेश को सोचने से ही उसके हित का सच्चा ज्ञान समझा जा सकता है।

गुण का परिमाण में अथवा परिमाण का गुण में परिणमन का नियम—विकास में जो परिवर्तन होते हैं वे केवल गुण सम्बन्धी अथवा परिमाण सम्बन्धी नहीं है। अधिक परिमाण हो जाने से नूतन गुण उत्पन्न होते हैं। यह नूतन गुण एकाएक उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। यह उतना ही सत् और मौलिक है जितना कि इसके उत्स रूप में होने वाला गुण। इसका अन्तर्भाव कथमपि इसके उत्स में नहीं हो सकता। यह अपने उत्स का बृहत् परिमाण मात्र नहीं है। उदाहरण के लिए चेतनता जड़ पदार्थों से उत्पन्न हुई। पर यह नया गुण है जो जड़ पदार्थों में नहीं होता। मनुष्य की चेतनता का अन्तर्भाव कथमपि जड़ पदार्थों में नहीं हो सकता। मनुष्य अपने शरीर से भिन्न भी कुछ है। यही भिन्नता चेतनता है। मनुष्य का कल्याण केवल शारीरिक विकास में नहीं है। उसे अपनी आत्मा या चेतना का भी विकास करना है। शारीरिक विकास की अनन्त मात्रा भी चेतनता का विकास नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त का मार्क्स के नीतिशास्त्र में बड़ा प्रभाव है। वह चैतन्य तथा शरीर

दोनों के पृथक्-पृथक् तथा परस्पर सम्बन्धित हितों की व्यवस्था करता है। इस कारण वह चार्वाक का सुखवाद नहीं है जिसमें 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' की बात है। चैतन्य का अस्तित्व शरीर के अस्तित्व से भिन्न मान लेने से मार्क्स का नीतिशास्त्र प्राचीन भारतीय तथा यूरोपीय भौतिकवाद से उच्चतर है।

निषेध के निषेधका नियम—परिमाण सम्बन्धी परिवर्तनों और गुणों के आविर्भावों की शृंखला अनन्त है। विकास का प्रत्येक सोपान पूर्वगामी सोपान के अन्तर्विरोध को दूर करता है और गुण सम्बन्धी अपना विरोध उत्तरगामी सोपान में उत्पन्न करता है। परस्पर विरुद्ध सोपानों में से एक को वाद (thesis) और दूसरे को प्रतिवाद (Antithesis) कहा जाता है। इनका विरोध जिस सोपान में शान्त होता है उसे सवाद (Synthesis) कहते हैं।

इस सिद्धान्त का भी नीतिशास्त्र में उपयोग किया गया। प्राचीन नीतिशास्त्र के सम्प्रदाय निषेध के निषेध के नियम से शासित हैं। पूर्ववर्ती नैतिक सम्प्रदायों का निषेध उत्तरवर्ती नैतिक सम्प्रदाय करते हैं। इसी नियम से नियन्त्रित होकर नीति विकसित हो रही है और अन्त में मार्क्सवादी नीतिशास्त्र तक आती है। इस प्रकार मार्क्सवादी नीतिशास्त्र में प्राचीन नीतिशास्त्रों के अन्तर्विरोध की शान्ति है। परस्पर विरुद्ध होने वाले सभी नैतिक सम्प्रदायों द्वारा ही उसकी सिद्धि होती है।

५—मार्क्सवादी नीतिशास्त्र की समाज-दार्शनिक पृष्ठभूमि

द्वन्द्वन्याय समाज-दर्शन का भी सिद्धान्त है। सामाजिक परिवर्तनों में भी उपरोक्त तीनों नियम लागू होते हैं। सामाजिक परिवर्तन का आधार आर्थिक है। इस आधार के दो पहलू हैं—उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ जैसे यन्त्र आदि और आर्थिक सम्बन्ध जैसे स्वामित्व तथा वितरण की प्रथायें। जब आर्थिक उत्पादन के यन्त्रों में विकास होता है तो समाज में परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए जब कृषि के औजारों का आविष्कार हुआ तो समाज आखेट की दशा से कृषि की दशा में आया। जब कारखानों के यन्त्रों का आविष्कार हुआ तो कृषि दशा से आगे बढ़ कर उद्योगीकरण की दशा में समाज आया। उत्पादन की भांति वितरण की प्रथा के परिवर्तन के साथ भी समाज का परिवर्तन होता है। जब सिक्के की प्रथा चली तो बटाई

की हालत से समाज आगे बढ़ा । जब बैंकों की व्यवस्था हुई तो वह और भी आगे बढ़ा ।

इस आर्थिक आधार से ही शासन, कानून, कला, विज्ञान, धर्म, दर्शन आदि का जन्म होता है । समाज का विकास वर्गहीन समूहात्मक जीवन से आरम्भ होता है । सर्वप्रथम मनुष्य सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं रखता था । जितनी उसकी आवश्यकता होती थी उतनी सामग्री लेकर शेष को वह औरों के लिए छोड़ देता था । इस हालत में भी उसका जीवन समूह या झुण्ड में ही था । वह झुण्ड में रहता था । अपनी आवश्यकता भर के लिए खाने-पीने और पहनने की सामग्री का उपयोग करता था । नित्य कुंआ खोदना और नित्य पानी पीता था । परिग्रह और संग्रह की भावना उसमें न थी । इस दशा को प्रारम्भिक साम्यवाद कहते हैं । इसके अनन्तर स्वामी और दास, इन दो वर्गों वाला समाज आया । जब मनुष्य ने एक दिन के परिश्रम से शिकार करके कई दिन तक खाने की प्रथा बनायी तो उसमें संग्रह या परिग्रह की भावना आ गई । वह उपयोग में आने वाली वस्तुओं पर स्वामित्व चाहने लगा । चूंकि उपयोग की वस्तुओं को साक्षात् या परम्परया उत्पन्न करने वाले मनुष्य ही हैं, अतः वह मनुष्यों पर स्वामित्व चाहने लगा । वह कुछ मनुष्यों को दास बनाने लगा । ये दास उसके क्रीतदास थे । उनको वह बेच सकता था । दासों को उसने कोई अधिकार नहीं दिया । दास उसके धन थे । इस प्रकार समाज में स्वामी वर्ग और दास वर्ग बन गए । दो वर्ग बन जाने से नीति भी दो प्रकार की हो गई । स्वामी-नीति और दास-नीति । स्वामी-नीति थी कि दासों का शोषण करो । दास-नीति थी कि स्वामी की सेवा करो, सन्तोष रखो और त्याग करो । स्पष्ट है कि इस समाज में सम्पत्ति का अधिकार सिर्फ स्वामियों का था । दास उससे वंचित थे । इस कारण उनका जीवन उतना सुखमय और निश्चिन्त नहीं हो सकता था जितना कि स्वामियों का । निदान दोनों वर्गों में संघर्ष आरम्भ हो गया । प्रारम्भिक साम्यवाद में यह संघर्ष या वर्ग-विरोध प्रच्छन्न था । दासता की प्रथा ने इसको आवश्यक कर दिया । दास भी स्वामी की भाँति जीवन बिताने की सोचने लगे । वे अपने [illegible] अधिकारों के लिए लड़ने लगे । स्वामियों को दासों को कुछ अधिकार देना पड़ा । वे उनकी [illegible] प्रजा या [illegible] (serf) कहलाने लगे और स्वामी का [illegible] (Lord) । [illegible] का [illegible] हो गया । [illegible] । [illegible] कुछ [illegible] हो गया । [illegible] का ही था । समाज में [illegible] हुए [illegible] । [illegible] है । [illegible] के [illegible] हुए [illegible] । [illegible] आता है ।

ऊपर एक राजा या चक्रवर्ती सम्राट होने लगा। इस राजा से लेकर सामतों की परम्परा के बाद अनेक प्रजाजन थे। परिश्रम प्रजाजन करते थे। उनके परिश्रम का अधिकांश लाभ इन सामंतो और राजा को मिलता था। उन्हें काफी लगान देना पड़ता था, नजर देनी पडती थी। यह प्रथा चल ही रही थी कि विज्ञान ने भाप की खोज की। भाप के इजन बने। उनसे कारखाने चलने लगे। इन कारखानो से काफी उत्पादन बढ़ गया। प्रजाजन को सामतशाही से कष्ट था। सामत उनको चूस रहे थे। दोनों का विरोध बढ़ता जाता था। इस विरोध ने इस व्यवस्था को बदल दिया। प्रजाजन अपनी कृषि छोड़ कर कारखानो में काम करने लगे। इधर सामतो में भी पारस्परिक कलह और युद्ध बढ़ गए थे। वे भी सामतशाही से ऊब गए थे। अधिक धन उत्पादन करने के लिए वे सामतशाही छोड़ कर व्यापार और उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में आए, कारखाने चलाने लगे। फलत सामतशाही समाज व्यवस्था का अन्त हो गया और पूजीपति या मिलमालिक और श्रमिक या मजदूर इन दो वर्गों का समाज बना।

सामतशाही की व्यवस्था ने धार्मिक नीतिशास्त्र का जन्म दिया। उसी ने सिखाया कि ईश्वर धर्म-सम्राट है। अनेक छोटे-मोटे देवता उसके आधीन है। उस परम सम्राट के लिए ही जो कार्य किया जाता है वही अच्छा होता है। सभी गुणों के तारतम्य का भी सिद्धान्त सामतो के तारतम्य की ही उपज है। स्वर्ग-नरककी कल्पना भी इसी कालकी पैदावार है। इस काल में शासक वर्ग का नीतिशास्त्र शासित वर्ग के नीतिशास्त्र से वैसे ही भिन्न था जैसे स्वामी नीति, दास-नीति से। शासक अपने को ईश्वरीय कहते थे और शासित वर्ग को सन्तोष, दीनता और भक्ति का पाठ पढ़ाते थे।

उद्योगीकरण की अवस्था में भी पूजीपतियों की एक नीति हो गई और श्रमिकों की दूसरी। पूजीपतियों में पारस्परिक सघर्ष बढ़ गया। वे एक दूसरे से बढ़ने लगे। अपनी-अपनी बाजार ढूढने लगे। विदेशो को सभी अपनी बाजार बनाने लगे। निदान उनमें आपस में ही झगड़ा हो गया। इस कारण विश्वयुद्ध होने लगे। उधर मजदूरो को मिलता कम था पर परिश्रम अधिक करना पड़ता था। वे सब अपनी आय बढ़ाना चाहते थे। उनके पास संगठन के अतिरिक्त दूसरी शक्ति नही थी। वे आपस में मिलकर लड़ने लगे। पहले वे अधिक वेतन पाने की लड़ाई लड़े। फिर वे मिलों में अपना शेयर या हिस्सा भी चाहने लगे। यह संघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक कि पूजीपतियो के वर्ग का नाश न हो जाय। [illegible]
और वितरण के साधनों पर सम-अधिकार रहेगा। इस कारण

समाज व्यवस्था में संघर्ष न होगा। इसमें कोई शोषक नहीं रहेगा। अतः इसमें आर्थिक वर्ग न बन सकेंगे। यह वर्गहीन समाज होगा।

समाज का प्रारम्भ वर्गहीन अवस्था से हुआ था और इसका पर्यवसान भी वर्गहीन अवस्था में ही हुआ। पर इन दोनों अवस्थाओं में पर्याप्त भेद है। इन दोनों के बीच वर्ग-युक्त अवस्थायें हैं, वर्गों के पारस्परिक संघर्ष हैं। यह संघर्ष और वर्गयुक्त अवस्थायें प्रारम्भिक साम्यवाद में प्रच्छन्न हैं या अव्यक्त रूप से है। अन्तिम अवस्था में इनको शान्त कर दिया गया है व्यक्त रूप में ही नहीं, किन्तु अव्यक्त रूप में भी। शोषण को ही दूर कर दिया गया जिसके कारण वर्ग बनते हैं। इस भेद के अतिरिक्त प्रारम्भिक साम्यवाद और अन्तिम साम्यवाद में दूसरा प्रधान भेद यह है कि पहले में मानव जीवन सामाजिक नहीं है, वह झुण्ड का जीवन है, असंगठित। उसमें एक सबके लिए और सब एक के लिए नहीं रहता। वह झुण्ड है। उसमें प्रत्येक झुण्ड या गिरोह के लिए ही रहता है। सब एक के लिए रहे—यह भावना उसमें नहीं रहती।

इस सामाजिक विकास में तीन बातें विशेष उल्लेख योग्य हैं। पहली–यह कि समाज के शोषकों में सदैव विरोध रहा। स्वामियों, सामंतों और पूंजीपतियों में आपसी होड़ थी। उनमें से प्रत्येक एक दूसरे से बढ़ना चाहता था। दूसरी–यह कि समाज के शोषितों में सदैव मैत्री रही, वे संगठित रहे। उनमें परस्पर प्रेम था। वे अपने को छोटा-बड़ा न समझकर समान ही समझते थे। इन दोनों बातों का सैद्धान्तिक अभिप्राय यह हुआ कि शोषण अपना नाश स्वयं करता है। और श्रम अपना विकास अपने आप करता है। स्वामी, सामंत और पूंजीपति अपना नाश स्वयं ही कर बैठे। दास, प्रजा और मजदूर ने स्वयं अपना विकास अपने श्रम से किया। तीसरी–यह कि शोषकों और शोषित श्रमिकों में सदैव संघर्ष होता रहा। चूंकि शोषक स्वयं आपस में ही लड़ते-झगड़ते थे, अतः वे निर्बल और जर्जरित थे। इसके विपरीत चूंकि श्रमिकों में परस्पर प्रेम तथा संगठन थे, इसलिए वे अपने शोषकों के विरोध में सदा जीतते रहे।

वर्तमान शती में पूंजीपतियों तथा श्रमिकों या सर्वहारा का संघर्ष चल रहा है। सदा की भांति इस समय भी पूंजीवादी नीतिशास्त्र और सर्वहारा वर्गीय नीतिशास्त्र है। सदा की भांति शोषित वर्ग की इस संग्राम में जीत होगी क्यों कि पूंजीपतियों का वर्ग तो स्वतः अपने को सदा की भांति नष्ट कर देगा। मार्क्स इसी सर्वहारा वर्ग के नीतिशास्त्र की व्यवस्था करता है। यही वर्तमान मार्क्सी नीति है। भविष्य में इसका ही परिपाक होगा। शोषक

वर्ग सदा से शोषितो को अनैतिक और अनीतिज्ञ समझते आया है। स्वामी दास को और सामत प्रजा को अनीतिज्ञ और अशिष्ट कहता था। इसी प्रकार पूजीवादी आज भी श्रमिकों को अनैतिक तथा अनीतिज्ञ कहता है। पर यह उसका दभ और झूठ है। उसकी नीति शोषण-नीति है। सच्ची नीति सदा शोषितो के साथ रही है। आज भी अत सच्ची नीति पूजीपतियो के हाथ में न रह कर श्रमिको के हाथ में है। उनके वर्ग के लिए जो कार्य किए जाते हैं वे ही शुभ या अच्छे हैं। उनके अहित के लिए जो कार्य किए जायें वे अशुभ है।

जब श्रमिक वर्ग पूर्ण सगठित हो जायगा और पूजीपतियो का वर्ग पूर्ण जर्जरित हो जायगा तो आप से आप पूजीवाद नष्ट हो जायगा और सर्वहारा वर्ग का युग आ जायगा। इस युग की समाज व्यवस्था की दो दशायें है। पहली दशा को समाजवाद (Socialism) कहा जाता है और दूसरी को साम्यवाद (Communism)। समाजवाद का आर्थिक सिद्धान्त है कि प्रत्येक श्रमिक को अपनी योग्यतानुसार न मिल कर अपने किए गए कार्य के अनुसार वेतन मिले। साम्यवाद का आर्थिक सिद्धान्त है कि प्रत्येक श्रमिक को अपनी योग्यतानुसार न मिलकर अपनी आवश्यकता के अनुसार वेतन मिले। साम्यवाद की अवस्था अभी कही नही आयी है। रूस में भी अभी यह बहुत दूर है। वहा समाजवाद ही अभी हो पाया है। और श्रमिकों को अपने कार्य के अनुसार वेतन मिलता है। साम्यवाद की अवस्था में उत्पादन पुष्कल मात्रा में होगा, ग्राम और नगर का भेद मिट जायगा, बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम का भेद दूर हो जायगा, वर्गसघर्ष मिट जायगा, राज्य (State) की शक्ति क्षीण हो जायगी और रहेगी राज्य-विहीन, धर्मविहीन शासन-व्यवस्था।

इस समाज-दर्शन को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं। यह सभी सामाजिक विज्ञानों की आधार-भूत पद्धति है। नीतिशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र को भी यह प्रणाली तथा आधार प्रदान करता है।

६—मार्क्सवादी नीतिशास्त्र की आर्थिक पृष्ठभूमि

आर्थिक क्रियायो और सामाजिक संस्थाओं में मार्क्स के मत से द्वन्द्वन्यायनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को आर्थिक निर्धारणवाद (Economic Determinism) कहा जाता है। इसके अनुसार नी... आधार आर्थिक क्रियायों के कार्य तथा कारण दोनों हैं। आर्थिक परिवर्तनों

के अनुसार नैतिक मूल्यों में परिवर्तन होते हैं। इस प्रकार आर्थिक परिवर्तन नैतिक मूल्यों के आधार या कारण हैं। इसके अतिरिक्त नैतिक मूल्य भी आर्थिक क्रियाओं के आधार या कारण हैं। पूंजीवादी अर्थशास्त्र का आधार है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा नैतिक ध्येय है। कुछ लोग समझते हैं कि मार्क्सवाद में नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र का आधार नहीं वरन् फल है। वे दोनों में एकपक्षीय सम्बन्ध बतलाते हैं। पर यह गलत है। दोनों में उभयपक्षीय या द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र नीतितन्त्र है और नीतिशास्त्र अर्थ-तन्त्र है? यदि ऐसा न होता तो मार्क्स क्यों अर्थ के सम उपयोग या सम वितरण पर जोर देता? वह क्यों पूंजीवाद का विरोध करता?

आर्थिक क्रियाओं और सम्बन्धों का नैतिक महत्व है। इस सम्बन्ध में मार्क्स ने दो प्रमुख सिद्धान्तों की खोज की, जो निम्नलिखित हैं—

मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour theory of value) श्रम ही मूल्य उत्पन्न करता है। जो वस्तु मनुष्य की आवश्यकताओं को तृप्त करती है, जो वस्तु किसी अन्य वस्तु से बदली जा सकती है, उसे पण्य द्रव्य (Commodity) कहते हैं। पण्य द्रव्य की उपयोगिता या उसकी आवश्यकताओं की तृप्ति करना प्रयोग-मूल्य (Use value) है। एक उपयोगी वस्तु को दूसरी उपयोगी वस्तु से आनुपातिक ढंग से बदलना विनिमय-मूल्य या मूल्य (Exchange value or value) कहा जाता है। पण्य वस्तु का वास्तविक मूल्य उस श्रम के कारण होता है जो उसके उत्पादन के लिए आवश्यक है। विनिमय किसी वस्तु का मूल्य स्वत: नहीं उत्पन्न करता। यदि विनिमय में कुछ श्रम का अंश है तो उसी अंश के कारण विनिमय में पण्यवस्तु का मूल्य बढ़ जाता है।

इस सिद्धान्त का आशय है कि श्रम करना ही मुख्य मूल्य है। जो श्रम नहीं करना चाहता, उसे जीना भी न चाहिए। आलसी, अय्याश और शोषक पूंजीपतियों को, जो श्रम नहीं करते वस्तुत: जीना भी न चाहिए। समाज का प्रत्येक कार्य श्रम पर निर्भर है। श्रम के कारण श्रमिकों में ऊंच-नीच का भा[illegible] नहीं होना चाहिए। गीता तथा गान्धी के नीतिशास्त्रों में भी श्रम या शारीरि[illegible] श्रम प्रधान गुण माना गया। जो श्रम नहीं करते उन्हें अपने स्वास्थ्य के लि[illegible] व्यायाम या पर्यटन करना पड़ता है। अधिक से अधिक औद्योगीकरण [illegible] जाने पर भी मनुष्यों को कुछ न कुछ श्रम करना ही पड़ेगा। कम से क[illegible] बिजली से काम करने के लिए बटन दबाना पड़ेगा, पुर्जों को साफ करना पड़ेगा

वस्तुओं को उठा कर इधर-उधर रखना पड़ेगा। अतः श्रम समाज की आवश्यक भित्ति है। वह सभी सामाजिक कार्यों और सम्बन्धों का आधार है।

पूंजीवादी वर्ग श्रम से बचना चाहता है। अतः वह समाज-शत्रु है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus-value)
सामाजिकों को आवश्यक उपयोग की वस्तुओं का उपभोग मिलना चाहिए। सच्चे सामाजिक अपने काम में आने वाली वस्तुओं को उपयोग करने के लिए खरीदते हैं। यदि वे कोई वस्तु बेचते हैं तो उससे वे अपने उपयोग की वस्तु ही खरीदते हैं। वे एक पण्य वस्तु को दूसरी पण्य वस्तु खरीदने के लिए बेचते हैं। पर पूंजीवादी ऐसा नहीं करता। वह एक पण्य वस्तु को दूसरी पण्य वस्तु खरीदने के लिए, उपयोग करने के लिए नहीं, खरीदता-बेचता है। वह एक पण्य वस्तु को इसलिए खरीदता है कि उससे वह अनेक पण्य वस्तु पैदा कर बेचे। उसकी पूंजी का सूत्र है—लाभ पर बेचने के लिए पण्य वस्तु को खरीदना। इस प्रकार परिचलन (circulation) में लगाई पूंजी के प्रारम्भिक मूल्य की अभिवृद्धि को ही मार्क्स अतिरिक्त मूल्य कहता है। इसके लिये पूंजीवादी श्रमिक को कुछ नहीं अदा करता। यदि वह श्रमिक को १२ घटे काम लेने के लिये नौकर रखता है तो श्रमिक ६ घण्टे में उसका उतना काम कर देता है जितने का कि वह मूल्य चुकाता है। शेष ६ घटे में वह अवैतनिक परिश्रम कर अपने स्वामी को अतिरिक्त मूल्य प्रदान करता है। इस मूल्य की मार्क्स ने अभूतपूर्व व्याख्या की और इसके सारगर्भित रहस्यों का उद्घाटन किया। फलतः रिकार्डो और एडम स्मिथ का पूंजीवादी अर्थशास्त्र शोषण करने वाला अर्थशास्त्र हुआ। अतिरिक्त मूल्य शोषण की जड़ है। यही पूंजीवाद का मूल है। इसको नष्ट कर देने से ही शोषण नष्ट होगा।

नीतिशास्त्र में इस सिद्धान्त का महत्त्व यह है कि इसने उत्पादक पूंजी के अतिरिक्त मूल्य का पोल खोल कर सिद्ध कर दिया कि ऐसी व्यक्तिगत सम्पत्ति अनैतिक है। यदि पूंजीवादी जितना उसको श्रम और कच्चे माल को खरीदने में व्यय करता है, जितना वह अपना स्वयं श्रम करता है, वह पक्के माल को उतने ही मूल्य पर बेच कर अपने कारखाने, मजदूरों तथा अपना भरण-पोषण करे, तो वह बुरा नहीं कहा जा सकता। यदि कारखाने में उत्पन्न होने वाले धन को कार्य के अनुसार अपने तथा अपने कर्मचारियों

और मजदूरों में वह वितरित कर दे, तो वह बुरा नहीं है। पर तब क्या वह पूंजीवादी रह जायगा ? तब तो वह भी केवल अपने श्रम का ही खायेगा और इस कारण श्रमजीवी ही रहेगा। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो इसका मतलब है कि वह नफाखोर है, शोषण करता है, बिना श्रम के अधिक उपभोग करता है, दूसरों के हिस्से को हड़प लेता है। इस हालत में क्या वह बुरा नहीं है ? यदि वह थोड़ा दान भी कर दे, तो क्या हुआ ? उसकी आय का तांता तो बंधा ही है ? समुद्र में से दो-तीन बूंद निकाल देने से क्या होता है ?

कुछ लोग समझते हैं कि मार्क्स व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोधी है। नहीं, वह उत्पादक व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोधी है। मनुष्य अपने पास वह सम्पत्ति रख सकता है जो उसके उपयोग के लिए आवश्यक है। साम्यवाद तो यह कहता है कि प्रत्येक को जितनी आवश्यकता हो उतना उपभोग की सम्पत्ति मिलनी चाहिए। हां यदि कोई अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति से धन या नफा पैदा करना चाहे, तो फिर उस व्यक्तिगत सम्पत्ति का साम्यवाद विरोधी है।

मनुष्यों की सभी आवश्यकताओं को तृप्त करना समाज का कर्तव्य है। यदि लोग कहें कि नफाखोरी या धन-संग्रह कर धन पैदा करना भी एक मनुष्य की आवश्यकता या मूल प्रवृत्ति है और इस कारण इसकी भी तृप्ति होनी चाहिए, तो यह उस व्यक्ति का अज्ञान है, वह समाज तथा मनुष्य के सम्बन्ध को नहीं जानता। मूल प्रवृत्तियां स्वयमेव अच्छी नहीं हैं। उनमें परिवर्तन होते हैं। उन्हें संयमित करना पड़ता है। धन-संग्रह करना, धन धन के लिए पैदा करना—ऐसी मूलप्रवृत्ति का भी निर्धारण होना चाहिए। इस पर समाज का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए।

समाज में आर्थिक वैषम्य के कारण ही एक ओर अय्याशी है तो दूसरी ओर वेश्यावृत्ति तथा भुखमरी। दरिद्रता सबसे बड़ा अवगुण या पाप है। यह मनुष्य के व्यक्तित्व का नाश कर देती है, या उसके विकास को रोक देती है। जब तक शोषण करने वाले रहेंगे तब तक दरिद्रता समाज का कलंक बनी रहेगी। इसको हटाने के लिए आर्थिक वैषम्य को दूर करना होगा, अर्थ का सम वितरण करना पड़ेगा। जब तक प्रत्येक मनुष्य को पर्याप्त भोजन, वस्त्र और भवन न मिले, तब तक वह अपना उचित विकास नहीं कर सकता।

भारतवर्ष में अर्थ-संग्रह की प्रवृत्ति को सदा निन्द्य समझा गया है। किसी न किसी रूप में सदा अपरिग्रह की शिक्षा दी गई है। यह अपरिग्रह मार्क्सवाद

उत्पादक व्यक्तिगत सम्पत्ति के नाश से भिन्न है। अपरिग्रह धार्मिक नियम । वह उपभोग का भी खण्डन करता है। मार्क्स का सिद्धान्त धार्मिक नहीं । वह नैतिक और आर्थिक है। वह उपभोग को नष्ट नहीं करना चाहता। । केवल उत्पादक पूंजी के अतिरिक्त मूल्य का नाश चाहता है।

७—समता का सिद्धान्त

लेनिन की शिकायत है कि यद्यपि इन्जेल्स ने एण्टीडूरिंग में समता की सुन्दर व्याख्या की है, फिर भी उसको प्रायः साम्यवाद के आलोचक भूल जाते हैं। समता का अर्थ वर्ग का उन्मूलन (Abolition of class) है। वर्ग का तात्पर्य सिर्फ आर्थिक वर्ग है। सच्ची समता का अर्थ है कि (१) सभी नागरिक बराबर काम करें अर्थात् जितना उनका भाग है उतना वे काम करें और (२) वे बराबर बराबर वेतन पावें। सम्पूर्ण समाज को एक काय लिय होना है जहां श्रम की समता (equality of labour) और वेतन की समता (equality of pay) है। पर यह समता साम्यवाद की अन्तिम अवस्था में आती है। साम्यवाद की पहली अवस्था तो समाजवाद है जिसमें विषमता का स्थान है। इस अवस्था में आर्थिक भेद रहते हैं। इसमें प्रत्येक को उतना ही मिलता है जितना कि वह काम करता है। बुद्धि जीवी और श्रमजीवी के काम तथा वेतन में भी इस अवस्था में अन्तर रहता है। वस्तुतः ये सब पूंजीवाद के ध्वंसावशेष हैं। पर ये अनिवार्य हैं। इनकी अवस्था के बाद ही समता का सच्चा अर्थ प्रयोग में लाया जा सकता है।

समता के इस अर्थ का समर्थन करते हुए लेनिन का कहना है कि लोग समान नहीं हैं, कोई बलवान् है तो कोई निर्बल, कोई विवाहित है तो कोई अविवाहित, किसी के लड़के हैं तो कोई अपुत्र है, ... आदि आदि। इसका तात्पर्य है कि समता का अर्थ बस आर्थिक वर्गों का उन्मूलन, श्रम की समता और वेतन की समता ही है। अन्य अर्थों में स्वयं साम्यवादी भी समता को नहीं मानते। वे प्रत्येक व्यक्ति की समस्त शक्तियों के विकास पर जोर देते हैं और मानते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति की शक्तियों में अन्तर है। सभी कवि और-या विज्ञानवेत्ता नहीं हो सकते।

८—स्वतन्त्रता का सिद्धांत

कुछ लोग कहते हैं कि मार्क्सवाद में मानव-स्वतन्त्रता का विधान नहीं

है। पर स्वयं मार्क्सवाद का कहना है कि सच्ची स्वतन्त्रता उसी में है स्वतन्त्रता स्वतन्त्रेच्छा नहीं है। यह राजनैतिक स्वतन्त्रता भी नहीं है। य आर्थिक स्वतन्त्रता है। यदि मनुष्य काम करना चाहे और उसे काम न मि तो वह स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। यदि उसे भोजन-वस्त्र न मिले, वह स चिन्ताग्रस्त रहे, वह मकान बनवाना चाहे और उसे मकान बनवाने के लि अर्थ न मिले, तो वह स्वतन्त्र नहीं है। यदि उसको पेट भर खाने को न मिले आराम करने को मौका न मिले, तन ढकने को पर्याप्त वस्त्र न मिले, बीमा होने पर दवा की सुविधा न मिले, तो वह स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता उसकी स्वतन्त्रता का अर्थ है कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो गई है और वह अपनी शक्ति का नैतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में विकास कर रह है। हेगल ने कहा था कि स्वतन्त्रता अनिवार्यता (Necessity) य नियन्त्रण को समझना है। जब तक नियन्त्रण या अनिवार्यता समझ में न आवे तब तक वह नियन्त्रण या अनिवार्यता है। समझ में आते ही वह स्वतंत्रता है। इस सिद्धान्त को विकसित करते हुए इन्जेल्स ने कहा—

प्राकृतिक नियमों से मुक्त होने में स्वतन्त्रता की सिद्धि नहीं होती। स्वतन्त्रता इन नियमों को जानना और इन्हें अपने साध्य की ओर ले जाकर इनसे अपना काम करवाना है। अतः स्वतन्त्रता का मतलब है कि हम अपने ऊपर नियन्त्रण रखें और बाह्य प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करें। अपने ऊपर नियन्त्रण रखने का मतलब है कि हम अपनी भावनाओं पर संयम रखें तथा मानव के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्धों पर मानवों का सामूहिक आधिपत्य स्थापित करें। जो मनुष्य जीवन की परिस्थितियों पर जितना ही अधिक अधिकार रखेगा वह उतना ही स्वतन्त्र है। जो मनुष्य जितनी अधिक अपनी इच्छाओं की तृप्ति करेगा वह उतना ही स्वतन्त्र है। जो समाज जितना ही अधिक सुखी होगा वह उतना ही अधिक स्वतन्त्र होगा। सुखी समाज में ही व्यक्ति स्वतन्त्र रह सकता है। समाज दरिद्र है, अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदि ईतियों-भीतियों से जर्जरित है, तो मनुष्य उसमें खाने-पीने, रहने, पहनने, सोचने आदि की स्वतन्त्रता नहीं रख सकता। मार्क्सवाद का इसलिए कहना है कि सच्चा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य साम्यवादी समाज में ही सम्भव है। अन्य नीतिज्ञ व्यक्ति की स्वतन्त्रता को समाज की स्वतन्त्रता से पृथक् समझते हैं, वे व्यक्ति को सुखी तथा स्वतन्त्र करके समाज को सुखी तथा स्वतन्त्र करना चाहते हैं। पर उनसे यह कभी नहीं हुआ क्योंकि उनका सिद्धान्त ही गलत था। सच्चे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की पृष्ठभूमि है समाज में समृद्धि और समता का होना। इस कारण मार्क्सवाद

[द्ध] और साम्यपूर्ण समाज की स्थापना करके व्यक्तियों की सभी शक्तियों [का] विकास करने का आदर्श प्रस्तुत करता है। यह ध्यान रहे कि मनुष्य की [जि]तनी भी संस्थायें हैं—शारीरिक, कलात्मक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, राज[नै]तिक और नैतिक—वह उन सबके पूर्ण विकास पर वैसे ही जोर देता है [ज]से अन्य आदर्शवादी नीतिज्ञ। वह केवल शोषण की प्रवृत्ति का उन्मूलन [क]रता है और कहता है कि यह प्रवृत्ति सच्ची स्वतन्त्रता की बाधक है। [इ]सी प्रकार वह धर्म को भी नीति तथा समाज के अतिरिक्त और कुछ नही [स]मझता और इस कारण धार्मिक पूजा को वह अनुचित समझता है। धार्मिक [व्य]वस्था से अतीत तथा वर्तमान में शोषणको सहायता मिली है। यह धर्म-[शो]षकों का सदा साथ देता रहा है। शोषकों के उन्मूलन के लिए इस कारण धर्म का उन्मूलन भी आवश्यक है। पर यह ध्यान रहे कि यहां धर्म का अर्थ है वह सिद्धान्त जिसमें जगत के बाहर रहने वाले किसी ईश्वर की पूजा होती है। यदि कोई मानव-समाज की सेवा को धर्म कहे, अपनी शक्तियों के विकास को धर्म कहे, श्रम करने को धर्म कहे, क्रोध-लोभ-मोह आदि को नष्ट करने को धर्म कहे, मानव मानव से प्रेम करने को धर्म कहे, मानव-मानव में समान दृष्टि रखने को धर्म कहे, मानव में भौतिक शरीर से भिन्न चेतनता के अस्तित्व के मानने को धर्म कहे, यद्यपि यह चेतनता द्वन्द्व न्याय के सिद्धान्तों से भौतिक वस्तुओं से विकसित हुई है, तो मार्क्सवादी भी धर्म को मानता है। पर धर्म का यह सनातन अर्थ नही कहा जा सकता। अत वह स्वयं अपने को धार्मिक न कह कर अधार्मिक कहता है।

स्वतन्त्रता का मूलमन्त्र है कि काम के घण्टो में कमी हो। यदि मनुष्य दिन भर काम ही करता रहे तो वह स्वतन्त्र नही है। कुछ घण्टे काम करने से यदि उसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाय तो फिर वह रोटी-दाल से ऊपर की बात सोच सकता है। तब उसे दर्शन, काव्य, कला और विज्ञान को सीखने की स्वतन्त्रता मिल सकती है।

पर इससे यह न सोचना चाहिए कि काम के घण्टे बिलकुल शून्य हो जाय। अकर्मण्यता स्वतन्त्रता नही है। स्वतन्त्रता खेत और कारखाने में पैदा होती है, श्रम उसका उत्स है। अतएव कुछ-न-कुछ श्रम करना स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। किन्तु सच्ची स्वतन्त्रता तो तब मिल सकती है जब अल्प समय श्रम करने से जीवन की आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति हो। यह तभी हो सकता है जब धन पुष्कल हो। जब तक शोषण की व्यवस्था रहेगी तब तक सभी सामाजिकों को यह मिल नही सकता। जब तक पर्याप्त औद्योगीकरण न होगा तब तक प्रचुर धन उत्पन्न नहीं हो

३. ऐसे स्वामित्व द्वारा उन गुणों को विकसित करने की मनुष्य की
यता जो विशषतः मानव गुण हों।

इन तीनों बातों को मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रगति परतन्त्रता
निर्धारण से स्वतन्त्रता तक की निरन्तर गति है। इनके दृष्टिकोण
देखने पर पता चलता है कि जैसे दासता का समाज और सामतशाही
ज प्रगति का सर्वस्व नही है वैसे पूजीवाद तथा समाजवाद भी प्रगति
अन्तिम सीमा नही हैं। साम्यवादी समाज व्यवस्था का मूल प्रत्यय
प्रेयों को इतनी मात्रा में सब मनुष्यों के अपेक्षाकृत इतने अल्प श्रम
उत्पन्न करना कि सभी नर-नारी स्वभावत. अपने और समाज को
पं समझ कर वह परिश्रम करते है जिसके लिए वे सबसे योग्य है। इस
ाज में प्रत्येक व्यक्ति शिल्पविज्ञान में दक्ष रहता है और इस कारण
द्धिक तथा शारीरिक श्रम के तथा ग्राम और नगर के भेद दूर हो जाते
। अल्प-श्रम से अधिक उत्पादन होता है। इस कारण सभी को अपनी-
पनी बुद्धि को विकसित करने का पूर्ण अवसर मिलता है। उनके व्यक्तित्व
ी प्रगति कहा तक हो सकती है ? इसकी कल्पना नही की जा सकती है।
द्यपि इस समाज में सरकार और राज्य भी न रह जायेंगे तो भी सभी नर-
री अपनी सूझ-समझ से अपने तथा समाज को समझ कर सदैव उचित
ार्य करेंगे। वस्तुतः जब तक इस समाज का समय बिलकुल निकट भविष्य
में न आ जाय तब तक इसकी वास्तविक कल्पना नही हो सकती है।

१०—साध्य और साधन की एकता का सिद्धान्त

हमने देख लिया कि मार्क्सवादी नीतिशास्त्र के अनुसार मनुष्य की
नैतिक क्रियाओं का साध्य साम्यवादी समाज है जिसमें स्वतन्त्रता का अधिका-
धिक विकास होता रहता है। इस साध्य को सिद्ध करने के लिए साम्यवादी
मार्क्सवादी वर्गसंघर्ष और क्रान्ति का साधन अपनाते है और समाजवादी
मार्क्सवादी शान्ति तथा संसदीय प्रणाली का अवलम्बन करते हैं। प्रायः
साम्यवादियों को ही सही मार्क्सवादी माना जाता है। अतः हम उनके ही
साधन पर विचार करेंगे।

लेनिन कहता है कि सर्वहारा वर्ग के सोवियटों के हाथ में शक्ति आने
का मतलब है सशस्त्र विद्रोह। सशस्त्र विद्रोह राजनैतिक संग्राम का एक
विशेष प्रकार है। यह वैसे ही कला है जैसे कि युद्ध। इस कला के मुख्य नियम
ये है—

१—कभी विद्रोह के साथ खिलवाड मत करो। जब इसको आरम्भ
करो तो दृढ़तापूर्वक महसूस करो कि तुम्हें इसके अन्त तक जाना है।

२. ठीक विषय पर, ठीक समय पर, शक्तियों की महान् श्रेष्ठता को केन्द्रित करो, नहीं तो शत्रु जिसने अधिक श्रेष्ठ तैयारी और संगठन किया, विद्रोहियों को बरबाद कर देगा।]

३. जब विद्रोह एक बार आरम्भ हो गया, तो तुम्हें दृढ़ संकल्प से काम करना है, सभी साधनों से सफल आक्रमण करना है। बचाव सशस्त्र विद्रोह की मृत्यु है।

४. तुम्हें शत्रु को आश्चर्यान्वित करने की कोशिश करनी है और जब उसकी शक्तियां तितर-बितर हों तब उस पर हमला करना है।

५. तुम्हें दैनिक सफलता के लिए प्रयत्न करना है और हर प्रकार नैतिक अभिवृद्धि कायम रखनी है। अर्थात् हर प्रकार से बढ़ते रहना है।

इस प्रकार श्रमजीवियों को संगठित होकर साम्यवाद की स्थापना के लिए लड़ना है। नौ-सेना, पद-सेना तथा श्रमिक सेना तीनों को संगठित होकर सब कुछ बलिदान करके भी अवश्य (क) टेलीफोन इक्सचेंज, (ख) तारघर, (ग) रेलवे स्टेशन और सबसे बढ़कर (घ) पुलों पर अधिकार करना है। सबका आदर्श होना चाहिए—व्यक्ति-व्यक्ति का मर जाना श्रेयस्कर है पर शत्रु को बढ़ने देना नहीं।

संक्षेप में यही साम्यवादी साधन है जो परिस्थितियों के भेद से यत्किंचित परिवर्तन के साथ सदा काम में लाने योग्य है।

यहां लोग कह सकते हैं कि मार्क्सवाद का साध्य तो अच्छा है पर साधन हिंसात्मक होने के कारण बुरा है। मार्क्स का कहना है कि इस प्रकार वे ही लोग सोचते हैं जो पूछते हैं—क्या साधन साध्य को न्यायोचित करता है? वस्तुतः इस प्रश्न का मतलब है कि साध्य और साधन दो भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं और दोनों की दो भिन्न-भिन्न मापदण्डों से परीक्षा करनी चाहिए। वास्तविक प्रश्न यह नहीं है। द्वन्द्वन्याय के अनुसार प्रत्येक वस्तु साध्य और साधन की एकता है। साधन और साध्य में आन्तरिक ऐक्य तथा वैषम्य है। इस वैषम्य के कारण ही लोगों को साध्य तथा साधन भिन्न प्रतीत होते हैं। पर ऐसे लोग दोनों के ऐक्य को भुला देते हैं। साधन और साध्य की एकता इनके आन्तरिक वैषम्य को सदा दूर करती रहती है। इसी कारण प्रगति संभव है। हम स्वतन्त्रता के उदाहरण में देख चुके हैं कि सच्ची स्वतन्त्रता काम के घंटों को कम करना है और यह साधन तथा साध्य दोनों युगपत् हैं। वर्तमान अवस्था में दोनों में पर्याप्त वैषम्य भी है। साम्यवाद की अवस्था में

यह वैषम्य दूर हो जाता है और काम के घण्टे अबाधरूप से कम हो जाते हैं।

वास्तविक प्रश्न यह नहीं है कि क्या साधन साध्य को न्यायोचित करता है ? वास्तविक प्रश्न है कि क्या पूजीवाद के विरोध में किए गए संग्राम से स्वतन्त्रता की वृद्धि होती है ? इस प्रश्न का निर्विवाद उत्तर 'हां' में होगा। अतः यह विरोध न्याय्य है।

सबल पूजीवादी वर्ग शान्ति मार्ग से अनुनय-विनय से अपनी पूंजी के अतिरिक्त मूल्य पर से अपना स्वामित्व नहीं हटा सकता है क्यो कि वही तो उसके पूजीवादी जीवन का आधार है। कोई अपनी ही हत्या कैसे कर सकता है ? पूजीवादी वर्ग और श्रमिक वर्ग में बहुत बड़ा विरोध है। इस विरोध को सशस्त्र विद्रोह द्वारा ही दूर किया जा सकता है। और चूंकि बिना इस विरोध की जड़ को मिटाये साम्यवादी समाज की स्थापना नहीं हो सकती है, इसलिए इसको दूर करने के लिए विद्रोह का मार्ग न्याय्य है। द्वन्द न्याय के अनुसार ऐतिहासिक भौतिकवाद में यह देख ही लिया गया है कि उत्तरवर्ती समाज पूर्ववर्ती समाज के निषेध से ही आविर्भूत होता है।

११—मार्क्सवादी नीतिशास्त्र की आलोचना

१. इस नीतिशास्त्र के साधनभूत सशस्त्र विद्रोह की सबसे कटु आलोचना की गई है जो वस्तुत: उचित है। द्वन्द्वन्याय के अनुसार दो वर्गों में केवल विरोध ही नहीं वरन् कुछ एकता भी होनी चाहिए अन्यथा दोनों में द्वन्द्व-न्यायनिष्ठ सम्बन्ध न हो सकेगा। पूजीपति और श्रमिक में विरोध है। पर उनके विरोध के अन्तराल में दोनों की एकता भी निहित है। दोनों मानव हैं। दोनों के हृदय में मानवीय प्रेम है। क्या इस एकता का आश्रय लेकर दोनों के विरोध को दूर नहीं किया जा सकता है ? गान्धी जी ने भारतवर्ष में अहिंसात्मक प्रणाली द्वारा शासक और शासित के भेद को नष्ट करके ठोस प्रमाण दे दिया है कि एकता और तज्जनित प्रेम के अवलम्बन से भी वर्ग-संघर्ष मिटाया जा सकता है। जब दोनो मार्ग-हिंसात्मक और अहिंसात्मक—वर्ग-संघर्ष के उन्मूलन के लिए पर्याप्त हैं तो नैतिकता अवश्य अहिंसात्मक मार्ग में होगी न कि हिंसात्मक मार्ग में। मार्क्सवादी नीतिशास्त्र इस सत्य की उपेक्षा करके वह स्वयं अपने अन्तर्विरोध का परिचय देता है। उसके द्वन्द्व-न्याय और सशस्त्र-विद्रोह में अन्तर्विरोध है।

२. मार्क्सवाद के साध्य में बहुत अच्छाई है। उसमें मनुष्यों के व्यक्तित्व का काफी विकास संभव है। उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। पर क्या उन्हें विचार-स्वतन्त्रता या आलोचना की स्वतन्त्रता प्राप्त है ? लेनिन आलोचना

की स्वतन्त्रता को रूढ़िवाद या अवसरवाद कहकर टाल देता है। मार्क्सवाद मनुष्य के चिन्तन के विकास पर जोर देता है। उसका कहना है कि ज्यों-ज्यों लोग साम्यवाद पर विचार करेंगे त्यों-त्यों इस पर उनका विश्वास दृढ़ होता जायगा। यहा मार्क्सवादी विचारों में व्याप्त द्वन्द्वन्याय पर विचार नहीं करता। विचारों की गम्भीरता से जहा विश्वास उत्पन्न होता है वहीं अविश्वास भी उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों जिस वस्तु पर विचार बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वह वस्तु छिन्न-भिन्न होती जाती है। इस सिद्धान्त से ज्यो-ज्यो लोग मार्क्सवाद पर प्रगाढ़ विचार करेंगे त्यो-त्यों उन्हें इसमें कमिय प्रतीत होंगी, वे संशय और अविश्वास करेंगे और यथासंभव इनको दूर करन का प्रयास करते हुए मार्क्सवाद की आलोचना भी करेंगे। इसके फलस्वरूप यद्यपि मार्क्सवाद के साम्य में मानव व्यक्तित्व के आधारभूत आर्थिक शर्तों के वैषम्यो की शान्ति हो गई है, फिर भी उसमें मानव मस्तिष्क के विचारों के संघर्ष की शान्ति नहीं हुई है। आर्थिक और सामाजिक शान्ति हो जाने के बाद विचारो की शान्ति भी आवश्यक है क्यों कि स्वय मार्क्स मानवी बुद्धि के विकास की बात शरीर के विकास के बाद करता है। जब मुख-शान्ति के समय स्थिर हो जायेंगे तब मनुष्य की बुद्धिगत द्वन्द्वो की शान्ति आरम्भ होगी। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि मार्क्स के साम्यवादी समाज के व्यक्तियों के व्यक्तित्व पूर्णतया विकसित है।

३. व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था को लेकर भी मार्क्स के नीतिशास्त्र की कटु आलोचना की गई है। पर इसके विपक्ष में कोई सच्चा तर्क नहीं है केवल यह कहा जाता है कि इस संस्था में नैतिकीकरण की शक्ति है औ यह व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। जब तक सम्पत्ति के अधिका के सर्वमान्य मूल्यों के बराबर हमें कोई नया नैतिक मूल्य नहीं मिलता, तब तक यह व्यक्तित्व को पूर्ण करने की अनिवार्य शर्त रहेगी। स्पष्ट है कि मार्क्सवाद ने कोई नया मूल्य नहीं दिया जो इसको बदल सके।

४. मनुष्य की समस्त सामाजिक क्रियाओं को सिर्फ उसकी आर्थिक क्रियाओं के ही विकास मानने से मार्क्सवाद एकागी हो गया है। नीट्शे ने शक्ति पाने की इच्छा को और फ्रायड ने कामवासना को मनुष्य की समस्त क्रियाओं का कारण माना। वे भी उतने ही एकागी है जितना कि मार्क्स। मनुष्य में अर्थ संग्रह करने की जैसे प्रवृत्ति है वैसे ही उसमें अन्य प्रवृत्तियां भी है। सबका सामाजिक और नैतिक मूल्य है। अत: किसी की उपेक्षा करना नहीं है।

पढ़ने योग्य ग्रन्थ—
लेनिन—मार्क्स, इन्जेल्स और मार्क्सिज्म

इन आलोचनात्मक निर्णयों को नियामक निर्णय (Normative judgment) कहा जाता है क्योंकि वे किसी नियम (norm) या निकष के आधार पर आलोचना करते हैं। इनका प्रमुख कार्य किसी वस्तु या व्यक्ति का मूल्यांकन करना रहता है। वर्णनात्मक निर्णय घटनाओं के निर्णय (निरूपण) हैं और नियामक निर्णय घटनाओं के ऊपर निर्णय हैं।

वर्तमान युग में मनोवैज्ञानिकों का दावा है कि नैतिक निर्णय केवल मनोवैज्ञानिक निर्णय हैं, वे भावों को व्यक्त करते हैं, अतः वे आलोचनात्मक या नियामक न होकर वर्णनात्मक ही हैं। पर यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि भाव के वर्णन करने वाले निर्णय पर भी हम नैतिक निर्णय दे सकते हैं। मान लीजिये किसी व्यक्ति राम ने किसी और श्याम पर क्रोध किया, तो हम कह सकते हैं कि राम का क्रोध उचित था। राम ने श्याम पर क्रोध किया–यह मनोवैज्ञानिक या वर्णनात्मक निर्णय है। इसी निर्णय का निर्णय है कि राम का क्रोध उचित था जो कि नैतिक निर्णय है। अतः स्पष्ट है कि नैतिक निर्णयों का अन्तर्भाव मनोवैज्ञानिक निर्णयों में नहीं हो सकता है।

वस्तुतः नैतिक निर्णयों के साथ मनोवैज्ञानिक भाव सम्बद्ध हैं। अच्छाई के निर्णयों के साथ अच्छे भाव हृदय में उठते हैं और बुराई के निर्णयों के साथ बुरे भाव। पर चूंकि नैतिक निर्णय का मनोवैज्ञानिक निर्णय के अन्दर अन्तर्भाव दिखलाना असम्भव है अतः हमें मानना पड़ेगा कि मनोवैज्ञानिक निर्णयों से नैतिक निर्णयों में कुछ अतिशय है। यह अतिशय आदर्श का प्रत्यय है।

प्रत्येक नैतिक निर्णय का एक आदर्श रहता है जो निर्णायक के मन में रहता है। जैसे यदि हम कहते हैं कि तुलसीदास सत्यवादी था, तो सत्यवादिता का एक आदर्श हमारे मन में है। जब हम किसी व्यक्ति के कार्य को उस आदर्श के अनुकूल पाते हैं तो हम उसे सत्यवादी कह देते हैं। नैतिक निर्णय देते समय निर्णायक केवल नैतिक वर्णन ही नहीं देता, केवल मनोवैज्ञानिक भावों का अनुभव ही नहीं करता और उन पर आलोचना नहीं देता, वरन् वह सत् आदर्श की प्रशंसा करते हुए उसका ग्रहण करने की इच्छा भी व्यक्त करता है। जैसे जब हम कहते हैं कि [illegible] भाई सत्य हैं तो हमारे अन्दर (क) कुछ सद्भाव उठते हैं, जो [illegible] भाई से सम्बन्धित हैं, (ख) हम इन भावों तथा इनके कारण स्वरूप [illegible] भाई के कार्यों को एक आदर्श से [illegible] करते हैं और (ग) अन्त में हम [illegible] के आदर्श से [illegible] करते हैं उसको ग्रहण करने की अपनी इच्छा को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार नैतिक निर्णयों में ये तीन तत्त्व पाए जाते हैं।

पहला भावतत्व, दूसरा ज्ञानतत्व, और तीसरा इच्छातत्व ह । नैतिक निर्णय हमारे नैतिक भाव, नतिक ज्ञान तथा नतिक सकल्प (इच्छा) को व्यक्त करते हैं ।

यदि हम किसी को बुरा कहते हैं तो उस निर्णय देने में पहले दो तत्व ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। हां, यहा हम बुराई को प्राप्त नहीं करना चाहते बल्कि उससे बचना चाहते हैं । इस प्रकार बुराई बतलाने वाले निर्णय बुराई से बचने की हमारी इच्छा का प्रकाशन करते है और अच्छाई बतलाने वाले निर्णय अच्छाई को प्राप्त करने की हमारी इच्छा को व्यक्त करते हैं ।

कोई प्रश्न कर सकता है कि नैतिक निर्णय आत्मगत है या विषयगत ? अर्थात् नैतिक निर्णय केवल व्यक्तिगत निर्णायक के अधीन हैं, उनका आदर्श भी केवल निर्णायक की कल्पना है, या कि वे व्यक्तिगत निर्णायक से ऊपर ौर उनका आदर्श व्यक्तिगत न होकर सर्वगत है । यह तो स्पष्ट है कि ाक निर्णय का प्रथम तत्व अर्थात् उसके साथ मनोवैज्ञानिक भावों को ़भव करना व्यक्तिगत घटना है । पर नैतिक निर्णय के आदर्श को हम ़क्तिगत मनुष्य की सृष्टि नही कह सकते । हमी अकेले गान्धी जी को ़ात्मा नही कहते, अन्य बहुत से लोग भी हमसे पृथक होकर कहत है । से पता चलता है कि हमारा और उनका गान्धी के व्यक्तित्व के नापने आदर्श एक ही है । यह आदर्श न तो उनकी व्यक्तिगत सृष्टि है और न ारी । यह आदर्श सर्वगत निरपेक्ष है । प्रत्येक नैतिक निर्णय इस प्रकार तो पूर्णतया आत्मगत निर्णय है और न विषयगत । उसमें दोनों अंश ़्यमान हैं । जहां तक वह आदर्शमूलक है तहा तक वह विषयगत है । जहां ़ वह हमारे भावों की अभिव्यक्ति करता है और उस आदर्श को पाने के ़ये हमारी इच्छा को बतलाता है वहा तक वह आत्मगत या व्यक्तिगत । ज्ञान सदा वस्तुगत या विषयगत होता है । वह किसी वस्तु का ज्ञान रहता । इस कारण नैतिक निर्णय का ज्ञानतत्त्व उसकी विषयता को सिद्ध करता और अन्य दोनो तत्व उसकी वैयक्तिकता को ।

३—नैतिक निर्णय का विषय

हम नैतिक निर्णय देते समय किस बात पर निर्णय देते है ? उदाहरण लिये यदि हम निर्णय देते हैं कि हरिश्चन्द्र सत्यवादी है, तो हम हरि ़न्द्र पर निर्णय दे रहे हैं या अपनी भावनाओं पर ? स्पष्ट है कि चाहे ़मारी भावनायें इस निर्णय के साथ सम्बद्ध भले हों, पर हम नैतिक निर्णय

रिश्चन्द्र पर दे रहे हैं ? पर यदि हरिश्चन्द्र बिलकुल काम नहीं करता, वह अकर्मण्य रहता है, तो क्या कोई कह सकता है कि हरिश्चन्द्र सत्यवादी है ? स्पष्ट है कि नहीं। हम कार्य और कर्ता पर ही निर्णय देते हैं। जो कार्य नहीं करता, उसके ऊपर हम इसके सिवा कोई नैतिक निर्णय नहीं दे सकते कि वह आलसी है। और यह निर्णय उसकी अकर्मण्यता, अकर्तृत्व और अकार्यता पर है जो उसके कर्तृत्व तथा कार्य से सम्बन्ध रखता है।

पर क्या हम कर्ता के सभी कार्यों पर नैतिक निर्णय देते हैं ? क्या हम स्वतः होने वाली शारीरिक क्रियाओं को भी अच्छी या बुरी कहते हैं ? नहीं। हम सिर्फ उन कार्यों पर निर्णय देते हैं जो ऐच्छिक हैं, जो इच्छापूर्वक किसी साध्य की सिद्धि के लिये किये जाते हैं। जो कार्य यान्त्रिक गति से बिना मनुष्य की इच्छा या प्रेरणा से अपने आप होते हैं उनमें नैतिकता नहीं रहती। जैसे हम किसी के सोने, खाने, चलने आदि पर नैतिक निर्णय नहीं देते हैं। पर यदि कोई अपने सोने, खाने, चलने आदि स्वाभाविक अनैच्छिक कार्यों को नियमित करता है, तो फिर उसके ये कार्य भी ऐच्छिक हो जायेंगे और तब वे नैतिक निर्णय के विषय बनेंगे। तात्पर्य यह है कि ऐच्छिक कार्यों का ही नैतिक मूल्यांकन होता है, अनैच्छिक का नहीं। इन दो प्रकार के कार्यों के बीच आदतजन्य कार्य हैं जो आरम्भ में ऐच्छिक रहते हैं और अभ्यास से यान्त्रिक तथा स्वतोभवी हो जाते हैं। चूंकि ऐसे कार्य जन्मजात नहीं हैं, सीखे हुए हैं, उनके करने में आरम्भ में इच्छाशक्ति का हाथ रहता है, इसलिये हम इन पर नैतिक निर्णय देते हैं। जैसे शराब पीने की आदत, लिखने-पढ़ने की आदत, धर्म पर आरूढ़ रहने की आदत आदि।

अब कार्य का विग्रह करने से पता चलता है कि प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ हेतु तथा कुछ न कुछ फल होता है। जैसे पुस्तकालय से पुस्तक लेने का कार्य है। इसका हेतु ज्ञानार्जन या परीक्षा की तैयारी या पुस्तक को लेकर न जमा करना, या उसका कुछ अंश फाड़ लेना आदि में से कोई एक या अनेक हो सकता है। फल यह है कि आप को पुस्तक मिलती है कि नहीं मिलती ? उस समय आपको दुःख होता है या सुख ? आपसे पुस्तकाध्यक्ष से झगड़ा होता है या कि मैत्री होती है ? अब प्रश्न है कि किसी कार्य का नैतिक मूल्यांकन करने के लिए हमें उसके हेतु (motive) पर विचार करना चाहिये या कि उसके फल (Consequence) पर। नीतिज्ञों में इस प्रश्न पर पर्याप्त मतभेद है। काण्ट—जैसों का कहना है कि हमें सिर्फ हेतु पर ही विचार करना चाहिए। कार्य की नैतिकता उसके फल पर निर्भर नहीं है। अच्छे काम का

भी फल बुरा हो सकता है और बुरे काम का भी फल अच्छा हो सकता है। उदाहरण के लिये मान लीजिये एक डाक्टर किसी रोगी की चिकित्सा सुन्दर हेतु से करता है और फिर भी वह रोगी मर जाता है। इस कार्य का हेतु बुरा या दुखद नहीं, चिकित्सा या कार्य बुरा या दुखद नहीं है, फिर भी इसका फल दुखद और बुरा है। क्या इससे हम डाक्टर के कार्य को बुरा कह सकते हैं? स्पष्ट है कि नहीं, क्यो कि किसी रोगी को मृत्यु से बचा लेने में डाक्टर समर्थ नहीं है, उसके पास केवल शुभ हेतु होने चाहिए और उसे ईमानदारी से चिकित्सा करनी चाहिए। अगर इतना वह करता है तो वह नैतिक है। दूसरे शब्दो में इसका अर्थ यह हुआ कि नैतिक निर्णय का विषय फल नहीं है। हम एक और उदाहरण ले सकते है जिसमें घुणाक्षर-न्याय से या कथमपि कार्य का फल अच्छा हो गया पर उसके हेतु कुछ दूसरे ही थे। मान लीजिए कि कोई आदमी किसी बालक से घृणा रखता है और उसको सदा दुखाता तथा धमकाता रहता है। वह उस बालक के प्रति जितने कार्य करता है सबका हेतु है उसको भयभीत या कायर बनाना। पर मान लीजिए कि इस प्रकार के कार्यो को शनैः शनैः जीतते बालक में साहस तथा अभय आ गया। उसने आपत्तियों से घबडाने की भावना को बिलकुल दूर कर दिया। ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति के कार्य का फल अच्छा हुआ पर [illegible]का हेतु अच्छा नहीं था। अतः क्या हम कह सकते हैं कि उस व्यक्ति के [illegible] फल के अच्छे होने के कारण अच्छे है? स्पष्ट है कि नहीं।

फल की परीक्षा से कार्य की परीक्षा करने के सिद्धान्त को हम फलवाद [illegible] सकते हैं। फलवादी कार्य के फल से जो सुख तथा दुख की अनुभूतियां [illegible]ी है, उन्हीं से अच्छाई और बुराई को क्रमशः उत्पन्न मानता है। उसका [illegible]ना है कि जो सुखद है वही अच्छा है, जो दुखद है वही बुरा है। अच्छाई [illegible]र बुराई क्रमशः सुख और दुख के कार्य या फल है। स्वयं सुख और [illegible] क्रमशः अच्छाई और बुराई के फल नहीं है। पर यह कथन ठीक नहीं है। [illegible] नैतिक निर्णय के स्वरूप में देख चुके है कि प्रत्येक नैतिक निर्णय में अच्छाई [illegible]र बुराई का ज्ञान सुख तथा दुख की अनुभूति से पृथक रहता है।

फलवाद का विरोधी सिद्धान्त हेतुवाद है। इसके अनुसार कार्य की [illegible]क्षा उसके हेतु से ही होनी चाहिए, फल से नहीं। यह फल का नैतिक मूल्य [illegible] नहीं समझता। पर कार्य तथा फल से अतिरिक्त हेतु को जानना दुष्कर [illegible]। सत्कर्मी और कुकर्मी दोनों अपने कार्यों का एक ही हेतु दे सकते है। [illegible] तथा उदारचेता दोनो कह सकते है कि उनके कार्यों (डाका तथा दान)

का हेतु है धन का जनता में वितरण करना। हेतु मानसिक प्रत्यय है। वह कार्य का उत्स है। पर उससे आरम्भ होकर कार्य में कार्य-व्यापार तथा फल की अवस्था में कुछ नई बातें आ सकती है। अतः केवल हेतु के ऊपर नैतिक कार्यों का मूल्यांकन करना और कार्य-व्यापार तथा कार्य-फल को बिलकुल उपेक्षित कर देना भी ठीक नहीं है। हमें हेतु, कार्य और फल—तीनों पर युक्तियुक्त विचार करना चाहिए और तभी हम तीनों का वास्तविक मूल्यांकन करके कर्त्ता के कार्य का मूल्य या अमूल्य समझ सकते हैं।

जैसे हेतुवाद और फलवाद में अन्तर है वैसे साध्यवाद तथा साधनवाद में भी। साध्यवाद किसी कार्य का नैतिक मूल्यांकन सिर्फ उस कार्य के साध्य के ऊपर करता है, उसके हेतु पर ही वह विचार करता है और कार्य-व्यापार पर नहीं। कार्य-व्यापार साधन है। साधनवादी हेतु पर विचार नहीं करता, वह सिर्फ साधन पर ही विचार करता है। उसका कहना है कि कार्य-व्यापार या साधन की ही परीक्षा होनी चाहिए उसके हेतु या फल की नहीं। यदि उसका साधन अच्छा है तो कार्य अच्छा कहा जायगा और नहीं तो बुरा।

साध्य और साधन का झगड़ा पेचीदा है। सामान्यतः हम जानते हैं कि प्रत्येक अच्छे साध्य का अच्छा साधन और बुरे साध्य का बुरा साधन होता है। इसी प्रकार अच्छे साधन का अच्छा साध्य और बुरे साधन का बुरा साध्य होता है। ऐसे उदाहरणों में साध्य और साधन में से किसी एक की ही परीक्षा करके कार्य का नैतिक मूल्यांकन किया जा सकता है। पर कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें साध्य अच्छा समझा जाता है तो साधन बुरा और साधन अच्छा समझा जाता है तो साध्य बुरा। उदाहरण के लिये पूँजीपतियों और साम्यवादों को लीजिए। साम्यवादी सुख-शान्ति से सम्पन्न साम्यवादियों समाज की स्थापना करने के लिये सशस्त्र विद्रोह का साधन अपनाता है। उसका साध्य अच्छा समझा जाता है क्यों कि उसमें सबको यथासंभव सभी मानवीय सुख मिल सकते हैं। पर उसका साधन बुरा कहा जाता है क्यों कि उससे नर-संहार होता है, खून-खच्चर होता है। पूँजीपति भूडोल आ जाने पर बहुत बड़ी रकम दान में देता है जिससे पीड़ितों को लाभ होता है। पर प्रायः उसका साध्य सरकार से या जनता से सम्मान पाना रहता है, न कि पीड़ितों की रक्षा करना। ऐसी परिस्थिति में उसका साध्य खराब कहा जा सकता है और साधन अच्छा। ईसाई मत के प्रचारक लोगों को ईसाई बनाने के लिये शैक्षणिक तथा औषधिक संस्थाओं को खोलने और जनता की सेवा करते हैं। उनका साधन अच्छा कहा जा सकता है क्यों कि उससे जन-सेवा होती है। पर यह सेवा उनका साध्य नहीं है। उनका साध्य स्वर्ग में स्थान पाना, अनन्त

को दवाए मन में दीक्षित करना, उनको उनके नैसर्गिक धर्म से च्युत करना है। यह साध्य, स्पष्ट है कि, अच्छा नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में एक बड़ी समस्या प्रस्तुत की गई है। वह यह कि क्या साध्य साधन को न्याय्य ठहराता है? यदि साध्य अच्छा है तो क्या वह बुरे साधन को भी अच्छा बना सकता है? ऊपर के विवेचन में हम देख चुके हैं कि केवल साध्य से कार्य की नैतिकता की परीक्षा करना श्रेयस्कर नहीं है। तो भी मार्क्सवादी इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देता प्रतीत होता है। वह साम्यवाद जैसे अच्छे साध्य के लिये सशस्त्र विद्रोह जैसे बुरे साधन का अवलंब करता है। पर जब इस साध्य को सिद्ध करने के लिये अन्य अच्छे साधन संभव है तो यह साधन अच्छा नहीं कहा जा सकता है। गान्धीवाद ने अहिंसात्मक साधन से ऐसे ही साध्य को सिद्ध करने की कोशिश की है और कर रहा है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि मार्क्सवाद के साध्य तथा साधन में अपरिहार्य सम्बन्ध है। वर्तमान समय में अनेक देशों के लोगों ने शान्तिपूर्ण ढंग से समाजवाद की स्थापना करने का व्रत ले लिया है।

अतः क्या साध्य साधन को न्याय्य ठहराता है? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देने से अनीति का समर्थन करना है। भले और बुरे दोनों प्रकार के व्यक्ति एक ही साध्य से प्रेरित होकर विभिन्न साधनों का अवलंबन करते हुए विभिन्न कार्य करते हैं। यदि यह नियम ठीक है तो फिर उनमें नैतिक भेद करना असंभव है। हत्यारा भी अदालत में इस सिद्धान्त के आधार पर फांसी से मुक्ति मांग सकता है। वह कह सकता है कि उसका साध्य अच्छा था, अतः उसका साधन भी उचित था। सत्कर्मी और दुष्कर्मी में भेद रखने के लिये हमें उनके कार्यों के साधनों पर भी विचार करना पड़ेगा। अतः उपरोक्त प्रश्न का साधारण उत्तर यही है कि साध्य साधन को न्याय्य नहीं ठहराता और न साधन ही साध्य को न्याय्य ठहराता है।

पर इस साधारण नियम में अपवाद हैं। उदाहरण के लिये किसी डाक्टर को लीजिये जो रोगी के शीघ्रलाभ के लिये मधुर औषधि न देकर तिक्त औषधि देता है या किसी पिता को लीजिए जो अपने पुत्र को सुधारने के लिये पीटता है या गान्धी जी को लीजिए जिसने स्वराज्य-प्राप्ति के लिये नमक के कानून को तोड़ा और तुड़वाया। आपाततः प्रतीत होता है कि इन कार्यों में साध्य अच्छे हैं और साधन बुरे, पर तो भी सिंहावलोकन करने में कार्य अच्छे ही ज्ञात होते हैं। वस्तुतः ये सब कार्य अच्छे हैं।

यदि हम ध्यान से देखें तो इनकी अच्छाई के लिये प्रमाण भी विद्यमान हैं। पहला प्रमाण यह है कि इन कार्यों में साध्य से जिस व्यक्ति का लाभ इष्ट है उसी व्यक्ति को—किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं—साधन से कष्ट मिलता है और उसका साध्य से होने वाला लाभ साधन से होने वाले कष्ट से कई गुना अधिक और अच्छा है। दूसरा प्रमाण यह है कि शायद इन कार्यों के कर्ता के पास इन साधनों के अतिरिक्त अन्य साधन साध्य को सिद्ध करने के लिए नहीं हैं। शायद उन्होंने पहले अन्य साधनों का अवलम्बन किया और उनसे साध्य की सिद्धि नहीं हुई। यदि वे आरम्भ से ही इन साधनों को अपनाते हैं, पहले अच्छे साधनों का प्रयोग नहीं करते, तो हम उनके कार्यों को बुरा कह सकते हैं। पर उक्त उदाहरणों में डाक्टर, पिता तथा गान्धी ने अपने-अपने साध्य को सिद्ध करने के लिये पहले अनेक अच्छे समझे जाने वाले साधनों का उपयोग किया पर उन्हें सफलता न मिली। विवश होकर उन्हें कुछ कष्टप्रद साधन को ग्रहण करना पड़ा। पर इन दो प्रमाणों के अतिरिक्त इन कार्यों की अच्छाई का एक तीसरा प्रमाण है। वह यह कि इन कार्यों के कर्त्ता में अपने-अपने कार्य के प्रति प्रेम है, घृणा या विरोध नहीं। यदि उनमें प्रेम नहीं है तो निःसन्देह उनका कार्य बुरा है। और यह प्रेम केवल आन्तरिक ही नहीं रहता वरन् कार्य रूप में परिणत भी होता है। डाक्टर या पिता अपने रोगी या पुत्र से प्रेमपूर्वक पेश आता है। वह इतनी हिंसा नहीं करता कि रोगी या पुत्र बिलकुल खत्म ही हो जाय। साम्यवादी हिंसात्मक साधन तो जिस वर्ग के प्रति किया जाता है वह उस वर्ग को निर्मूल खत्म ही कर देता है। इन तीन प्रमाणों को सदा मिला कर देखने से पता चलता है कि ऐसे कार्यों में साध्य साधन को न्याय्य ठहराता है। पर फिर भी ध्यान रहे कि यह अपवाद है। सामान्य नियम यही है कि साध्य साधन को न्याय्य नहीं ठहराता।

अतः केवल साध्य या केवल साधन से कार्य की नैतिकता की परीक्षा नहीं हो सकती। साध्य और साधन दोनों को स्वतन्त्र रूप से तथा एक दूसरे के सम्बन्ध में दोनों की जकड़ी हुई अवस्था में देखना है।

४–निष्कर्ष

उपसंहार में यह कहा जा सकता है कि पुरुष का शील-चरित्र ही नैतिक निर्णय का मुख्य विषय है। उसके ऐच्छिक कार्यों से ही उसका नैतिक व्यक्तित्व बनता है जिसे हम शील-चरित्र कहते हैं। चरित्र निर्माण में साध्य और

साधन, हेतु तथा फल, सबका योगदान रहता है। किसी एक में भी खराबी आ जाने से चारित्रिक दोष उत्पन्न हो सकते हैं। अतः साध्य और साधन तथा हेतु और फल, की परीक्षा से ही नैतिक कार्य और नैतिक कर्त्ता की परीक्षा हो सकती है। अच्छे कुल में या अच्छे समाज में उत्पन्न होने से कोई व्यक्ति अच्छा नहीं कहा जा सकता है। निम्न कुल तथा समाज में उत्पन्न होने पर भी अच्छे शील-चरित्र वाला व्यक्ति अच्छा है। चाणक्य का कहना है कि जैसे निर्घर्षण, छेदन, ताप और ताड़न इन चार प्रकारों से स्वर्ण-परीक्षा होती है वैसे त्याग, दान, गुण तथा कर्म इन चारों से पुरुष की परीक्षा होती है। शुभकामनाओं से ही कोई व्यक्ति अच्छा नहीं हो सकता। उसको शुभकामनाओं के अतिरिक्त शुभ कार्य करना है, शुभ साधन का आश्रय लेना है और अन्त में उसको शुभ फल मिलता है। यदि शुभ साध्य और साधन के रहते हुए भी शुभ फल नहीं मिलता तो कार्य-व्यापार में कहीं-न-कहीं त्रुटि है, कर्त्ता में असन्तोष है। यदि उसके साध्य और साधन शुभ है तो उसमें त्याग और सन्तोष होंगे, जिनके कारण उसको सभी फल अच्छे प्रतीत होंगे।

इस चरित्र का प्रधान तत्व आत्मसंयम है। यह वासनाओं, भावनाओं, कल्पनाओं और कामनाओं को नियन्त्रित, संगठित तथा शुद्ध करता है, जिस व्यक्ति में आत्मसंयम जितना अधिक होगा उसका चरित्र उतना ही अच्छा होगा।